जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि

मूल लेखक
राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन

रूपान्तरकार
कृष्णचन्द्र

राजकमल प्रकाशन

विषय-सूची

१ धर्म को आधुनिक युग की चुनौती

१ आइडियलिज़्म (प्रत्ययवाद या आदर्शवाद) क्या है ?

आइडियलिज़्म एक संदिग्धार्थक शब्द है और अनेक प्रकार के दृष्टिकोणों को प्रकट करने के लिए उसका प्रयोग किया जाता है। आइडिया (प्रत्यय) का अर्थ एक ऐसा एकान्तव्यापी मानसिक बिम्ब (मेंटल इमेज) माना जाता है जो प्रत्येक व्यक्ति में अलग अलग होता है और बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद (मेंटलिज़्म) और अंग्रेज़ी के इम्पीरिसिज़्म (अनुभववाद) शब्दों में इसी अर्थ में समस्त ज्ञान को आइडिया (प्रत्यय) बताने का प्रयत्न किया गया है। इस दृष्टिकोण के अनुसार ब्रह्माण्ड में विद्यमान समस्त वास्तविक वस्तुएँ ऐसी ही चीज़ें हैं जिनमें आइडिया (प्रत्यय) बनते हैं। प्रत्यय या बिम्ब स्वतःपूर्ण सत्ताएँ हैं वे एक ऐसे बिम्ब को जानने के मार्ग नहीं हैं जो उनसे अधिक प्रात्ययिक और वास्तविक है। आइडिया शब्द का प्रयोग पूर्ण व्यापी प्रत्यय (युनिवर्सल नोशन) के अर्थ में भी किया जाता है। यह प्रत्यय तद्देशीय और तत्कालीन नहीं होता, बल्कि यह विद्यमान सत् का एक ऐसा गुण है जो अन्य सत् एवं दूसरे मनों के द्वारा ज्ञेय वस्तुओं में भी पाया जाता है। बर्कले की आइडिया सम्बन्धी प्रथम उक्ति विज्ञानवादी अधिक है क्योंकि उसमें यह माना गया है कि सत्ता का अर्थ है स्वयं जानना या दूसरों के द्वारा ज्ञेय होना। किन्तु उसकी संशोधित उक्ति जिसमें पूर्ण व्यापी प्रत्यय पर अधिक बल दिया गया है उपर्युक्त दूसरी श्रेणी में आती है। कांट की दृष्टि में ज्ञान का अर्थ है इन्द्रियजन्य बहुविध प्रत्यक्ष अनुभव का विचार की विभिन्न श्रेणियों (पदार्थ भेद—केटेगरी) द्वारा विस्तार। यद्यपि इससे उसका मुख्य आशय विभिन्न पदार्थों को एक ऐसा साधन मानने से है जिनमें कि दत्त सामग्री (गिवन स्टफ) की परिधि में पड़ कर फँसा विवश ससीम मन पर अपने आपको अभिव्यक्त करता है, किन्तु उसका अन्तर्निहित अर्थ यह भी है कि पदार्थ भेद केवल आत्मनिष्ठ और प्रात्ययिक हैं जबकि यथार्थतः एक विभिन्न पदार्थों में अविभाजित और अन्वयी

वृत विश्व है, जिसके साथ हम अव्यवहित प्रत्यक्ष के द्वारा रू-ब रू सम्पर्क मे आते है। पदार्थ-भेद की ये प्रवृत्तियाँ तो बाद के विचार मे विकसित होती है। यद्यपि हेगेल और उसके अनुयायी यथार्थ सत्ता को विचार के सम्बन्धो से निर्मित मानते है, तथापि आधुनिक यथार्थवादी ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष से होने वाले विविध अनुभवो पर ही बल देते हैं। यद्यपि हेगेल के अनुयायी प्रत्ययवादियो की दृष्टि मे वास्तविक सत्ता प्रत्ययो का द्वन्द्व है तथापि कोई भी आधुनिक दार्शनिक यह नही मानता कि अनुभव किया जाने वाला यह विश्व केवल प्रत्ययो से बना है। किन्तु क्रोचे की दृष्टि मे सत्ता मानसिक क्रिया है। यहाँ तक कि किसी बाह्य, यान्त्रिक और प्राकृतिक वस्तु की अवधारणाएँ भी मन को स्वय अपने (मन के) द्वारा दी गई दत्त सामग्री (डेटा) है।[1] मन समस्त सज्ञानात्मक अनुभव मे एक सक्रिय प्रक्रिया के रूप मे अन्तर्निहित रहता है और ज्ञान को वस्तुनिष्ठ आकार प्रदान करता है। बाह्य वस्तु के साथ उसका परोक्ष सम्बन्ध नही होता जिसमे कि वह निष्क्रिय होकर उसे देखे। एक तीसरा अर्थ भी है जिसमे कि 'आइडिया' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। जब हम किसी वस्तु या कार्य के सम्बन्ध मे यह प्रश्न करते है कि इसमे क्या 'आइडिया' है ('व्हाट इज़ दि आइडिया ?') तो हमारा अभिप्राय यह होता है कि इसमे सिद्धान्त क्या है, इसके अस्तित्व का अर्थ या प्रयोजन क्या है, या इस कार्य का उद्देश्य या मूल्य क्या है ? इसका अभिप्राय क्या है ?[2] यह विचार या मूल्य कार्यकारी सृजनात्मक शक्ति है। एक आइडियलिस्ट (आदर्शवादी) विचारधारा यह स्वीकार करती है कि ब्रह्माण्ड का एक अर्थ है एक मूल्य है। आदर्शवादी या उद्देश्यवादी मूल्य ब्रह्माण्ड की गतिशील शक्तियाँ, प्रेरक बल हैं। विश्व उद्देश्यो की एक प्रणाली के रूप मे ही बुद्धिगम्य है। इस दृष्टिकोण का इस प्रश्न से कोई सरोकार नही है कि कोई वस्तु मात्र एकाशव्यापी बिम्ब है या एक सामान्य (पूर्ण व्यापी) सम्बन्ध। ज्ञाता और ज्ञात अलग-अलग है या नहीं, इस प्रश्न से भी इसकी शायद ही कोई सगति हो। यह दृष्टिकोण इस सिद्धान्त से भी बँधा हुआ नही है कि यह विश्व मन से, असीम मन से या अनेक मनो के समूह से बना हुआ है। इस अर्थ मे 'आइडियलिज्म' (आदर्शवाद) का सम्बन्ध वास्तविक सत्ता की अन्तिम प्रकृति से है, फिर चाहे ज्ञाता मन के साथ उसका कोई भी सम्बन्ध

१ देखिए एच० विल्डन कार : दि फिलासफी आफ बेनेदत्तो क्रोचे (१९१७), पृष्ठ १२,१८।
२. देखिए जे० एच० म्यूरहेड : दि रियल एण्ड दि आइडियल (युनिवर्सिटी आफ कैलिफोर्निया पब्लिकेशन्स इन फिलासफी), खण्ड ८, १९२६।

हों। यह इस प्रश्न का उत्तर है कि इस समस्त विश्व का अन्तर्निहित सिद्धान्त, उसका अर्थ और उद्देश्य क्या है ? इसका उन विचारों और दृष्टिकोणों से कोई साम्य नहीं है जो वास्तविक सत्ता यानी विश्व को एक अविवेकात्मक अन्ध-प्रयत्न या एक ऐसी भयंकर दयनीय भूल मानते हैं जिसका कोई प्रतिकार नहीं किया जा सकता। यह आइडियलिज्म जीवन को अर्थपूर्ण और सोद्देश्य मानता है। इसकी दृष्टि से मनुष्य को एक ऐसे लक्ष्य की ओर जाना है जो केवल प्रत्यक्ष जगत् तक ही सीमित नहीं है। 'ऐज यू लाइक इट' में जब टचस्टोन कोरिन से पूछता है, "गडरिये, क्या तुममें कोई फिलासफी (दर्शन) है ?" तो 'फिलासफी' से शेक्सपीयर का अभिप्राय किसी अमूर्त विचारों की दार्शनिक प्रणाली से या स्कूलों की टेकनिकल शिक्षा से नहीं है, बल्कि एक ऐसी मानसिक अभिवृत्ति से है जिसकी सर्वोत्तम व्याख्या 'आइडियलिस्टिक' (आदर्शवादी) शब्द से की जा सकती है। उसके प्रश्न का अभिप्राय यह है कि क्या तुममें वह आध्यात्मिक उच्चता, विशालता और गहराई है, वह विमर्शात्मक जिज्ञासा और आत्मचिन्तन की वृत्ति है, वह मानसिक उत्कण्ठा है, जिससे मनुष्य उन आध्यात्मिक तत्त्वों को जान सकता है जो वस्तुतः उसके सच्चे आवास-स्थल हैं। या तुम भी उन अविमर्शी लोगों की जाति के हो, जो व्यापार या राजनीति या खेल से ही सन्तुष्ट रहते हैं, जिनका जीवन किसी आदर्श अर्थ से रहित शुष्क, नीरस जीवन है ? फिलासफी (दर्शन) का अर्थ है अवधारणा, चिन्तन, अन्तर्दृष्टि, और फिलासफर (दार्शनिक) को तब तक शान्ति नहीं मिल सकती जब तक कि वह वस्तुओं और व्यक्तियों के ससार की वह झाँकी नहीं पा लेता जिसके द्वारा वह विविध अनुभवों को किसी-न-किसी रूप में एक उद्देश्य के अभिव्यंजक के रूप में व्याख्या कर सके।

जीवन का आदर्शवादी या प्रत्ययवादी दृष्टिकोण किसी एक बनत (पैटर्न) में प्रकट नहीं किया जाता। यह बहुरंगी है और उसके आकार विविध प्रकार के हैं, फिर भी इन सब विविध और विरोधी दृष्टिकोणों के मूल में कुछ सामान्य बुनियादी धारणाएँ हैं जो यह सिद्ध करती हैं कि वे सब एक ही भावना की उपज हैं। पूर्व और पश्चिम दोनों में आदर्शवादी विचारधारा का एक लम्बा और अविच्छिन्न इतिहास है। पूर्व में वेदों के आदिस्रोतों ने, जिनमें उपनिषद् भी शामिल हैं, और पश्चिम में सुकरात और प्लेटो ने इस सिद्धान्त को व्यापक और लचीले रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दू-विचारधारा के यथार्थवादी दर्शनों, न्याय और वैशेषिक, सांख्य, योग और मीमांसा का उपनिषदों की आदर्शवादी

परम्परा के बुनियादी आशय से कोई गम्भीर मतभेद नहीं है। वह परम्परा यह है कि सच्चे अर्थों में वास्तविक सत्ता में उच्चतम मूल्य पृथक् नहीं है। परम ब्रह्म सत्, चित् और आनन्दमय है। पश्चिम में भी सुकरात और प्लेटो से लेकर ब्रैडले और अलेग्जेण्डर[1] तक उच्च मूल्य और सत्ता के बीच चरम सम्बन्ध के आदर्शवादी दृष्टिकोण की एक अविच्छिन्न परम्परा विद्यमान है। प्लेटो की दृष्टि में ब्रह्माण्ड का अर्थ है अच्छाई (शिव) की प्राप्ति। ब्रह्माण्ड उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही विद्यमान है।

जैसा कि हेगेल ने कहा है, एक अर्थ में समस्त दर्शन आदर्शवादी है। प्रतीयमान और वास्तविक में, तथ्य और सत्य में, सत्ता और तत्त्व में भेद करके दर्शन यह स्वीकार करता है कि प्रपंचमय जगत् से परे एक आदर्श जगत भी है, यहाँ तक कि चरम भौतिकवाद भी एक तरह से आदर्शवाद ही है, भले ही वह एक स्थूल किस्म का हो, क्योंकि उसमें जिस भौतिक वस्तु के रूप में समस्त सत्ता को स्वीकार किया गया है वह मूर्त्त वास्तविक वस्तु नहीं है, बल्कि एक अमूर्त्त प्रत्यय है। आधुनिक भौतिक विज्ञान हमारे अव्यवहित अनुभव में आने वाले संसार को छायाओं और चिह्नों के संसार में परिणत कर देता है। आयन, इलेक्ट्रान और इड (आइडियोप्लाज्म या जननद्रव्य का सूक्ष्मतम एकक) दृश्य प्रपंच नहीं है फिर भी वास्तविक वस्तु के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, क्योंकि वे हमारी चिन्तन की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं। हम मूर्त्त (कंक्रीट) की ओर लौटने की चाहे जितनी कोशिश करें हमें वास्तविक सत्ता को अन्ततः मूर्त्त के रूप में प्रस्तुत करना कठिन प्रतीत होता है। प्रत्यय सदा हमेशा हमारे साथ रहते हैं, क्योंकि वे वास्तविक सत्ता का तात्त्विक अंग है और यदि हम आदर्शों या मूल्यों के रूप में उनकी व्याख्या करें तो उसमें हमारे सामने ब्रह्माण्ड का एक प्रत्ययवादी दृष्टिकोण उपस्थित होता है। यदि हम विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के आपसी विवाद के कोलाहल से बहके नहीं और उनको रूप प्रदान करने वाली गहरी धाराओं को देखें तो हम उनमें आदर्शवाद की अन्तर्दृष्टि पर आग्रह की सबल प्रवृत्ति देखेंगे, भले ही उसे प्रकट करने की उनकी भाषा और शैली अलग अलग हो। आदर्शवाद को आज हमारी समस्याओं पर विचार कर हमें उनका सामना करने में सहायता

१. मैंने यहाँ अलेग्जेण्डर का उल्लेख यह दिखाने के लिए किया है कि यथार्थवाद और प्रत्ययवाद में ज्ञान की प्रक्रिया के सिद्धान्त के बारे में जो आधुनिक मतभेद है उनका प्रत्ययवाद की मुख्य समस्या से कोई सम्बन्ध नहीं है।

देना होगा। इसलिए आज वह वक्त आ गया प्रतीत होता है जबकि इस बात को नये सिरे से कहने की आवश्यकता है।

आज का परिवर्तमान संसार हम पर बलात् जो कठिनाइयाँ और विसंगतियाँ लाद रहा है उनकी गहराइयों को जिन लोगों ने अनुभव नहीं किया वे इस बात को नये सिरे से पुनः कहने की सार्थकता को नहीं समझ सकते। यद्यपि ये कठिनाइयाँ अत्यन्त स्पष्ट हैं फिर भी कभी-कभी अत्यन्त स्पष्ट पर भी बल देना आवश्यक हो जाता है। समस्या को जानना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि उसके समाधान को जानना। एक तरह से दर्शनशास्त्र को हम अपनी समस्या के प्रति सजग बनाना ही उसके समाधान में हमारी सहायता करना है। आज हमारे जीवन और विचार में कौनसे मुख्य तत्त्व सक्रिय हैं? इस पहले अध्याय में इन तत्त्वों पर ही संक्षिप्त विचार करना चाहता हूँ।

२ वैज्ञानिक पद्धति

हमारे पुराने संसार को इतना अधिक बदलने वाली नयी शक्तियों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्राकृतिक विज्ञान है जिसने अपनी पद्धतियों और निष्कर्ष हम पर थोपकर उस वातावरण को ही बदल डाला है जिसमें हम रहते, चलते फिरते या सोचते हैं। विज्ञान की कठोर पद्धति का हमसे यह तकाजा है कि हम किसी तर्क वाक्य को तभी स्वीकार करें जबकि हम उसे सिद्ध कर सकने की स्थिति में हों। जब कभी हम कोई बात कहते हैं तो यह मालूम करना हमारा कर्तव्य हो जाता है कि जो लोग उसकी परीक्षा करेंगे वे उसे प्रमाणों से पुष्ट कर सकेंगे या नहीं। किन्तु दूसरी ओर धर्म में, जैसा कि फ्रायड ने कहा है, 'कुछ सिद्धान्त अर्थात् तथ्यों और बाह्य (या आन्तरिक) वास्तविकता की परिस्थितियों के सम्बन्ध में कुछ कथन होते हैं जो हमें कुछ ऐसी बातें बताते हैं जिनकी हमने स्वयं खोज नहीं की होती है और उन बातों का यह दावा होता है कि उन पर विश्वास कर लिया जाए।'[1] यदि हम यह प्रश्न करें कि उनकी विश्वसनीयता का यह दावा किस बात पर आधृत है तो हमें तीन उत्तर मिलते हैं जिनकी खूबी यह है कि उनमें आपस में लगभग कोई संगति नहीं है। उन कथनों के विश्वसनीयता के दावे का पहला आधार यह होता है—क्योंकि हमारे प्राचीन पूर्वज लोग उन पर विश्वास करते रहे हैं इसलिए हमें भी उन पर विश्वास करना चाहिए। दूसरा आधार यह

[1] दि फ्यूचर आफ एन इल्यूजन, अंग्रेजी अनुवाद (१९६२), पृष्ठ ४३।

कि हमारे पास उन बातों को सिद्ध करने के लिए ऐसे प्रमाण हैं जो हमें उस प्राचीन काल मे पीढ़ी-दर-पीढ़ी प्राप्त हुए है। और तीसरा आधार यह कि उन बातो की सचाई पर आपत्ति करने का पूर्ण निषेध है। पुराने जमाने मे इन कथनो पर सन्देह करने की उच्छृङ्खलता पर अत्यन्त कठोर दण्ड दिये जाते थे और आज भी समाज इस उच्छृङ्खलता की पुनरावृत्ति को देखने के लिए उद्यत नही है। दूसरे शब्दों मे, धार्मिक सिद्धान्त 'भ्रम' है। उनके लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है और न किसी को उन्हे सत्य मानने या उन पर विश्वास करने के लिए मजबूर किया जा सकता है।'[1] यदि अपने २००० ई० पू० के पूर्वजो के ज्योतिर्विज्ञान-सम्बन्धी तर्कों को हम आज स्वीकार नही करते तो कोई कारण नही कि हम उनके धार्मिक विचारो को अधिक प्रामाणिक माने। आप्त प्रामाण्य की पद्धति आलोचनात्मक विश्लेषण के सामने टिक नही सकती। जब आप्तों मे भी आपस मे मतैक्य नहीं होता तो हम आप्तो के प्रामाण्य मे भी आगे जाने को विवश हो जाते हैं। किसी आप्त लेखक की बात पर विश्वास करने के लिए जब हमसे कहा जाता है तो उसका आधार यही होता है कि उसके पास सत्य को ज्ञान के अन्य स्रोतो से जानने के लिए हमारी अपेक्षा अधिक अच्छे अवसर थे। किन्तु जब न्यूटेस्टामेट (बाइबिल) और कुरान मे ही मतभेद हो जाता है तब हम यह नही मान सकते कि उनमे से एक के प्रणेता के पास सत्य को जानने के अवसर दूसरे से बेहतर थे। तब हमे किसी और कसौटी का, यानी उनकी विषय-वस्तु की तर्कयुक्तता का आश्रय लेना पडता है। तब हमे धार्मिक आप्त को अतिप्रकृत मानने की प्रवृत्ति का परित्याग करना ।।

स्वतन्त्र चिन्तन की भावना और अपने लिए किसी भी बात को स्वय सोचकर निश्चय करने का अधिकार, जिसका यह अर्थ जरूरी नही है कि दूसरों से भिन्न तरीके से ही सोचा जाए, नष्ट नहीं किये जा सकते। यही कारण है कि आप्त प्रामाण्य के रक्षक लोग आलोचनात्मक मनोवृत्ति के लोगो पर खुले आम दबाव नही डालते, बल्कि वे अवसर उक्त आप्त व्यक्ति के पक्ष मे तर्क और बुद्धि को प्रभावित करने का प्रयत्न करते है।

यदि विज्ञान के क्षेत्र मे यह सही है कि जैसे-जैसे समय बीतता जाता है वैसे-वैसे हम सत्य के अधिक निकट आते जाते है तो धर्म के बारे मे यह बात क्यों सही नहीं है? हम यह क्यो सोचे कि केवल धर्म ही ऐसी वस्तु है जिसमे सत्य का

१. दि फ्यूचर आफ एन इल्यूजन, अंग्रेजी अनुवाद (१६२८), पृष्ठ ४५ ४६, ५५।

अतीत में ही सहा अवधारण हो गया था और उसके बाद वह उस अतीत काल से हम अपने पूर्वजों से प्राप्त हुआ है और हम यत्नपूर्वक उसकी रक्षा करनी चाहिए ताकि कहीं हम भटककर उससे दूर न चले जाएँ ? स्वर्णिम युग वस्तुत भविष्य की कल्पना में है, काल्पनिक अतीत में नहीं।

हमारे वैज्ञानिक सिद्धान्त, जो पुराने सिद्धान्तों को खण्डित कर उनके स्थान पर प्रतिष्ठित हुए हैं अमिक प्रगति की लम्बी शृंखला में कड़ी मात्र हैं और यह सम्भव है कि समय आने पर नये सिद्धान्त उन्हें भी अपदस्थ कर दें। उनका एक मात्र औचित्य इस बात में है कि आज के सम्बद्ध तथ्यों के लिए वे पर्याप्त हैं। सत्य की खोज के लम्बे सफर में वे मिर्फ बीच की मंजिल हैं किन्तु वे चरम और पूर्ण सत्य नहीं हैं। किन्तु दूसरी ओर धर्म यह दावा करता है कि वह निरपेक्ष और पूर्ण है। हमसे कहा जाता है कि धर्म के सत्य अपरिवर्तनीय हैं और हमारा कर्तव्य है कि हम उनकी रक्षा करें। किन्तु सचमुच ऐसे कोई पूर्ण सत्य हैं भी तो वे स्वर्ग के सत्य होंगे हमारे सत्य तो हमेशा अस्थायी और व्यावहारिक सत्य होते हैं।

विज्ञान का यह तकाजा है कि तथ्यों से सिद्धान्तों का आगमन (इंडक्शन) किया जाए सिद्धान्तों से तथ्यों का निगमन (डिडक्शन) नहीं। हम तथ्यों को अपने सामने रखना चाहिए और उनसे अपने निष्कर्ष निकालने चाहिएँ। यह नहीं कि हम निष्कर्षों से प्रारम्भ करें और फिर तथ्यों में खिलवाड़ करें। धर्म के विषय में तर्क का अर्थ है अपने पूर्वग्रहों का पुनर्व्यवस्था करना। हम हिन्दू या ईसाई मुख्यत इसलिए हैं कि हम हिन्दू या ईसाई के रूप में पैदा हुए हैं और हमारे माता पिता पर हिन्दू या ईसाई की छाप लगी हुई है। विज्ञान में इससे भिन्न प्रक्रिया है। आधुनिक मनोवृत्ति का यह आग्रह है कि सत्यता और आत्म निरपेक्षता का यह रुख सभी मानवीय विषयों में अपनाया जाना चाहिए। धर्म की यह धारणा कि विश्व का स्रष्टा ईश्वर हम सबका दयालु पिता है जीवन की कठिनाइयों और कष्टों को मन के भ्रम कहकर उपेक्षित कर देने के लिए एक सुखद निमन्त्रण है। धर्म कामनाओं को ही गलती से तथ्य मान लेता है, विश्व को वह वैसा ही समझता है जैसा कि हम उसे देखना चाहते हैं और साथ ही वह जीवन के मुख्य अंशों को साधारण ज्ञान के क्षेत्र से बाहर मानता है उसकी ये सभी प्रवृत्तियाँ अनुभवाश्रित विज्ञान के सर्वथा विपरीत हैं।

विज्ञान नियम के शासन पर बल देता है। यदि नियम समस्त सृष्टि और

समस्त काल में अव्यभिचारी रूप में लागू होते हैं तो संसार में कोई रहस्यात्मकता या चमत्कार नहीं रह जाता। केवल अशिक्षित लोग ही यह विश्वास करते हैं कि भूत-प्रेत रोग पैदा करते हैं और ओझा उन्हें दूर करते हैं। विश्व एक नियम में बँधा हुआ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। पश्चिम में विश्व की यह कल्पना चौथी शताब्दी ई० पू० की ज्योतिर्विज्ञान-सम्बन्धी खोजों के परिणामस्वरूप पैदा हुई, किन्तु भारत में ब्रह्माण्ड की नियमबद्धता अर्थात् ऋतु को वैदिक काल से ही स्वीकार किया जाता रहा है। प्रोफ़ेसर एडिंगटन ने क्वांटम सिद्धान्त में अनिर्धारणात्मकता (इन्डिटर्मिनेन्सी) के उसूल से यह जो अनुमान लगाया है कि कारण-कार्य का नियम पूर्णतः सत्य और सार्वत्रिक नहीं है, उससे हमें बहुत विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। एडिंगटन का कहना है कि भौतिक विज्ञान के बहुत से नियम सामान्य सांख्यिकीय (स्टेटिस्टिकल) हैं और किन्हीं विशिष्ट इलेक्ट्रानों के व्यवहार के सम्बन्ध में कोई निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, सिर्फ समूह के रूप में ही उनके व्यवहार की भविष्यवाणी की जा सकती है। इस प्रकार यदि स्वयं प्राकृतिक प्रक्रियाएँ ही पूर्ण निर्धारणात्मक नहीं हैं, यदि प्रकृति की साधारण घटनाओं के मूल में भी स्वतन्त्र इच्छा (फ्री विल)-जैसी किसी वस्तु को मानने की गुन्जाइश है, यदि एक भी जगह ऐसी है जहाँ बिलकुल नपे-तुले और निश्चित निर्धारण का नियम पूरी तरह घटित नहीं होता, तो हमें विज्ञान का अपना समस्त प्रयत्न त्याग देना होगा। फिर भी कारणों और व्याख्याओं की निरन्तर खोज इस बात का निर्णायक प्रमाण है कि विज्ञान कारण-कार्य के सिद्धान्त में विश्वास र[illegible]ता है, भले ही उसके कितने ही बड़े अपवाद नजर आएँ। ऐसी दशा में यह [illegible] है कि जहाँ कहीं हमें नियम घटित होता नजर न आता हो वहाँ उसका कारण हमारी प्रेक्षण की भूल हो। यह स्वीकार किया जा सकता है कि वैज्ञानिक भावी घटनाओं की भविष्यवाणी करने के लिए ऐसे सिद्धान्तों का आश्रय लेते हों जिनका पूरी तरह सामंजस्य स्थापित न कर सके हों या जिन्हें वे पूरी तरह हृदयंगम न कर सके हों। इसका अर्थ सिर्फ इतना ही है कि हमें अभी और खोज और अनुसन्धान करने की आवश्यकता है, क्योंकि अभी कुछ ऐसे तथ्य विद्यमान हैं जिनके नियमों को हम खोज नहीं सके हैं। किन्तु इस सबसे हम यह नहीं कह सकते कि ऐसे भी तथ्य हैं जिन पर कोई नियम लागू नहीं होते, क्योंकि तब उसका अर्थ यह होगा कि ऐसे भी तथ्य हैं जिनकी कोई अपनी प्रकृति, अपना स्वभाव नहीं है। तब वे तथ्य वास्तविक सत्य की नियमबद्धता की संकल्पना के चरम अपवाद होंगे।

व्यावहारिक दृष्टि से एक निश्चित नियमबद्धता प्राकृतिक विज्ञान का एक बुनियादी तत्त्व है। जिस समय हमें ब्रह्माण्ड के व्यवस्थित और निश्चित नियमों में बँधा हुआ होने का पूर्ण निश्चय नहीं था, जब हमारा विज्ञान चमत्कार के समकक्ष था, तब प्रकृति की एक सर्वात्मवादी व्याख्या सम्भव थी। किन्तु आज यह बात विचार-कोटि से भी बाहर है। ईश्वर की विशेष कृपा का सिद्धान्त व्यवस्थितता और नियमबद्धता के सर्वथा विपरीत है।

सत्रहवीं शताब्दी के वैज्ञानिक देकार्ते, कैपलर, गैलीलियो और न्यूटन संसार को एक विशाल यन्त्र मानते थे, किन्तु वे यह स्वीकार करते थे कि उस यन्त्र की रचना ईश्वर ने की है और वह उसके मन के नियत नियमों के अनुसार ही कार्य करता है। उनकी मान्यता थी कि परम्परागत मान्यताओं के अनुसार स्वर्ग में पृथ्वी के किसी स्वेच्छाचारी राजा से भी अधिक स्वैरवृत्ति से शासन करने वाला देवराज भी एक ऐसे ईश्वर के आगे झुक जाता है जिसकी सर्वोच्च प्रभुसत्ता सुनिर्धारित और सुप्रतिष्ठित नियमों से बँधी हुई है। लेकिन अठारहवीं सदी के वैज्ञानिक अपने तर्क में और भी कठोर थे और इसीलिए यान्त्रिक ढंग से सुव्यवस्थित ब्रह्माण्ड में वे किसी का भी बाहरी हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करते थे। उनका देवता इस ब्रह्माण्ड के ताने-बाने से बिलकुल बाहर होता था, विश्व के कामों में उसका कोई हस्तक्षेप नहीं था। वह शासक था, नियामक नहीं। प्राचीन ग्रीस में एपिक्युरस का यद्यपि यह विश्वास था कि पृथ्वी पर घटित होने वाली कोई भी घटना, चाहे वह ब्रह्माण्ड के इतिहास का अंग हो या मानव-जगत् के जीवन का, ईश्वरीय प्रभाव का परिणाम नहीं होती, तो भी उसने देवताओं को एकदम ही निर्मूल नहीं कर दिया था। उसने ग्रह-नक्षत्रों के अन्तरालवर्त्ती शून्य अन्तरिक्ष में उनके लिए स्थान निर्दिष्ट कर दिया था जहाँ रहकर वे मनुष्य की ओर कोई ध्यान नहीं देते, हालाँकि हम मानव अपनी दुर्बलता के कारण उन्हें पूजा के योग्य सुन्दर वस्तु मानते हैं और उनके ऐश्वर्यपूर्ण विलास को गलती से अनादि-अनन्त जीवन मान लेते हैं।[1] सदा नियम के अनुसार काम करने वाले और कभी काम ही न करने वाले देवताओं में आसानी से भेद नहीं किया जा सकता। काम न करने वाला और केवल अलंकार के रूप में

1. जिन्हें ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त है और जो अमर हैं वे न स्वयं दुःख अनुभव करते हैं और न किसी को दुःख देते हैं, इसलिए वे न क्रोध के वशीभूत होते हैं और न कृपा के, क्योंकि ये सब चीज़ें दुर्बलों में ही होती हैं। (बेली : एपिक्युरस : दि एक्सटैंट रिमेन्स, (१९२६), पृष्ठ ९४)

सिंहासन पर आरूढ़ देवता अधिक समय तक जीवित शक्ति नहीं रह सकता। इसी लिए देववाद सशयवाद में परिणत हो जाता है। कारण, यदि विश्व के यन्त्र को गतिशील रखने के लिए देवता की आवश्यकता नहीं है तो उसे प्रारम्भ में गति देकर चलाने के लिए भी उसकी क्या आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त, जैसे-जैसे वैज्ञानिक व्याख्या के क्षेत्र का विस्तार होता जाता है, वैसे-वैसे धार्मिक रहस्य की आवश्यकता भी कम होती जाती है। हम आम तौर पर ईश्वर की कल्पना का सहारा वहीं लेते हैं जहाँ हमारा ज्ञान अपनी सीमा पर पहुँच जाता है। सामान्य व्यवहार में हम लोग "यह ईश्वर की लीला है" या "भगवान् ही जानता है" आदि जो वाक्य आम तौर पर कहते हैं वे यह सिद्ध करते हैं कि अज्ञान ही हमारे ईश्वर के ज्ञान का स्रोत है। ईश्वर वह नाम है जो हम काँपते हुए अज्ञात और अव्याख्येय सत्ता को प्रदान करते हैं। वह हमारे "अज्ञान का शरणस्थल' है, हमारे ज्ञान की अपूर्णता का द्योतक है। रहस्य का राज्य, जिसके सम्मुख मानव अपने-आपको दुर्बल और असमर्थ समझता है, धीरे-धीरे अपनी सीमाओं को पीछे हटाता जाता है। इस प्रकार हम विश्व को जान सकते हैं और यह अनुभव किये बिना कि हम अज्ञात शक्तियों पर पूर्णतः निर्भर हैं, अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं।

आधुनिक भौतिकवाद तर्कानुसारी दर्शन का परिणाम उतना नहीं है, जितना आधुनिक विज्ञान की आश्चर्यजनक विजयों का परिणाम है। आधुनिक विज्ञान ने, विशेषकर गणितशास्त्र, भौतिक विज्ञान और ज्योतिर्विज्ञान ने, ब्रह्माण्ड की जो तस्वीर हमारे सामने उपस्थित की है, वह विश्व की यान्त्रिक कल्पना से किसी भी कदर कम स्वीकरणीय प्रतीत नहीं होती।

३. विज्ञान की उपलब्धियाँ

आधुनिक विज्ञान भौतिक पदार्थ के सम्बन्ध में हमारी पुरानी अवधारणाओं को आमूलचूल परिवर्तित कर रहा है। अब भौतिक पदार्थ के मूल उपादान घटक परमाणु नहीं रहे, बल्कि धनात्मक और ऋणात्मक वैद्युतिक प्रभाव हो गए हैं, जो अपने वैद्युतिक आवेशों (चार्ज) में तो परस्पर समान हैं, किन्तु ठोस द्रव्य भार (मास) की दृष्टि में बुनियादी तौर पर परस्पर भिन्न हैं—धनात्मक प्रभाव ऋणात्मक प्रभाव से १८४५ गुना भारी होते हैं। प्रकृति में पाये गए ६२ तत्व उनके न्यूक्लियसों में विद्यमान धनात्मक और ऋणात्मक वैद्युतिक प्रभावों की संख्याओं में भेद

म ही निर्धारित किये जाते हैं। इन मान्यताओं में परिवर्तन करना ही इन तत्त्वों के परिवर्तन और रूपान्तरण के लिए, उदाहरण के तौर पर उनकी रेडियमधर्मिता को बदलने के लिए, पर्याप्त है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि भौतिक पदार्थ की नयी अवधारणा ने पुराने भौतिकवाद का खंडन किया है। इसका यदि यह अर्थ है कि पुराना परमाणु सिद्धान्त अब नहीं टिक सकता तो वह सही है। किन्तु यदि इसका अर्थ यह हो कि इस नयी अवधारणा में आत्मा और प्रकृति का भेद कम हो गया है तो वह बिल्कुल गलत है। यदि यान्त्रिक सिद्धान्त अन्य दृष्टियों में ठोस आधार पर टिका हुआ है तो परमाणु का वैद्युतिक ऊर्जा में विश्लेषण उसे छू भी नहीं सकता।

आधुनिक ज्योतिर्विज्ञान ने टालमी की कल्पना के उस छोटे-से पुराने और आरामदेह ब्रह्माण्ड को, जिसका अतीत जीवन कुल छः हजार वर्ष का था, मिथ्या सिद्ध कर दिया है। आज हम यह विश्वास नहीं कर सकते कि ४००४ ई० पूर्व एक मंगलवार को ईश्वरीय आदेश से सहसा ही यह ब्रह्माण्ड बन गया। ज्योतिर्विज्ञान ने देश (स्पेस) का विस्तार कर उसे असीम बना दिया है जहाँ दूरियाँ प्रकाश-वर्षों में नापी जाती हैं और पृथ्वी को ब्रह्माण्ड के केन्द्र के उच्च पद से बेदखल कर एक छोटे-से सौर परिवार में, जो स्वयं शीत तारकीय रात्रि में अनन्त दूरी तक फैले अन्य असंख्य परिवारों से घिरा हुआ है, एक क्षुद्र ग्रह का स्थान दे दिया है। ब्रह्माण्ड उससे कहीं बड़ा है जितनी कि हमने पहले कभी कल्पना की थी। हमारी पृथ्वी जिस महान् सूर्य की परिचारिका है वह हमारे तारामण्डल के अरबों तारों में एक कणिका-मात्र है और यह महान् तारामण्डल भी स्वयं विस्तीर्ण देश में फैले लाखों तारामण्डलों में से एक है। फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि इस देश (स्पेस) का भी सीमित न होना असम्भव नहीं है और यह हो सकता है कि प्रकाश की एक किरण इसके चारों ओर परिक्रमा कर अन्त में फिर अपने प्रारम्भ स्थान पर लौट आए।[1]

इस सबकी एक विशुद्ध यान्त्रिक व्याख्या की जाती है। प्रकृति की एकता विज्ञान का समस्त सत्ता को एक एक एकत्रीय (यूनिटरी) आधार पर ला खड़ा करती है, जिसके साथ प्रत्येक वस्तु का अन्ततः पूरी खोज के बाद सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। किन्तु इस एकक या सत्ता को बुद्धियुक्त मानना अनिवार्य नहीं है। जीवनरहित भौतिक कण असंख्य वर्षों तक तीव्रगति करते रहे और उन्होंने अपनी

[1] जीन्स : दि युनिवर्स अराउण्ड अस (१९२९)।

पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया से असंख्य नीहारिकाओं का, सूर्यों का और अन्त में हमारे सौर-परिवार का निर्माण किया जिसमें हमारी यह पृथ्वी, समुद्र, हवा और स्थल भी शामिल हैं। सर जेम्स जीन्स हमें बताते हैं कि हमारा सौर-परिवार एक साधारण नीहारिका के निकट से एक साधारण तारे के अचानक गुज़र जाने से ब्रह्माण्ड में हुए एक आकस्मिक और अजीब परिवर्तन के फलस्वरूप बन गया।[1]

हमारे सौर-परिवार में जीवन क्या है? वह पृथ्वी पर विद्यमान है और सम्भव है शुक्र और मंगल पर भी हो। फिर भी पृथ्वी पर जीवन ने जो महत्त्व प्राप्त कर लिया है उसने हमारी ब्रह्माण्ड की सामान्य दृष्टि को विकृत कर दिया है। समस्त ब्रह्माण्ड के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो जीवन केवल एक उपोत्पादन (बाई-प्रोडक्ट) है, एक विराट् योजना की, जिसका हमारी आशाओं और आकांक्षाओं के साथ कोई नियत या सीधा सम्बन्ध नहीं है, एक छोटी-सी चीज़ है। यह केवल हमारे सौर-परिवार में ही है और उसमें भी शायद वह केवल हमारे ही ग्रह में है। इस प्रकार जो जीवन केवल एक स्थानीय और महज ऊपरी चीज़ है वह ब्रह्माण्ड का लक्ष्य नहीं हो सकता, जैसा कि हममें से कुछ लोग सोचते हैं।[2] *प्रयोजन और उत्पादन, ध्येय और साधन में सगत-सम्बन्ध होना आवश्यक। तारे* स्पष्टतः किसी अन्य प्रयोजन के लिए ही अपने मार्गों पर गति कर रहे हैं।

यह विचार बहुत समय तक प्रचलित रहा है कि ब्रह्माण्ड को एक यन्त्र ।नन। भौतिक पदार्थ के क्षेत्र में तो चल जाता है, किन्तु जब हम ऐन्द्रियिक (आर्गेनिक) जीवन पर विचार करते हैं तब वह हमारा साथ नहीं देता। शरीर ।इन्द्रियों का अपने कार्यों के साथ जो सूक्ष्म सामंजस्य है अर्थात् आँखों का दर्शन साथ और कानों का श्रवण क्रिया के साथ, उसके लिए एक भिन्न व्याख्या की आवश्यकता है। किन्तु पेली और बटलर ने ईश्वर को एक महान् शिल्पी सिद्ध करने के लिए उसके आकलन, यन्त्र-निर्माण और समंजन के जो उदाहरण

१. निन्होंने ज्योतिर्विज्ञान के मुख्य तथ्यों का अध्ययन किया है वे जेनेसिस १, १६ (बाइबिल) के इस कथन में अनजाने में निहित विनोद का आनन्द ले सकते हैं : 'और ईश्वर ने दो महान् प्रकाश बनाये, बड़ा प्रकाश दिन पर शासन करने के लिए और छोटा रात पर शासन करने के लिए और उसने तारे भी बनाये।'

२. 'यह विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता कि ब्रह्माण्ड की रचना मुख्यतः हम र जैसे जीवन के उत्पादन के लिए की गई होगी। यदि ऐसा होता तो हमें इस ब्रह्माण्ड-यन्त्र की विशालता और उसके उत्पादन (जीवन) में परिमाण की दृष्टि से अधिक अच्छा अनुपात दिखाई देता।' (जीन्स : दि मिस्टीरियस युनिवर्स (१९३०), पृष्ठ ५-६)।

सूत्र सावधानी से चुनकर दिये थे, उनके बारे में अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि वे सिर्फ परिवेश (एनवायरनमेंट) के साथ समंजन के सिद्धान्त के ही क्रियात्मक रूप हैं। प्रकृति ने अपनी जीवन की अन्ध पिपासा के कारण पृथ्वी को असंख्य रूपों से भर दिया है। जीवों की सन्तानें कभी एक-जैसी नहीं होतीं, उनमें अपने माता-पिता से और एक-दूसरे से भी कुछ-न-कुछ असादृश्य होता है। जो भिन्नताएँ व्यक्तियों को अधिक आसानी से जीवित रहने में सहायता देती है, उन्हीं में अतिजीवन (सर्वाइवल) की प्रवृत्ति होती है। जो व्यक्ति इन भिन्नताओं-रहित होते हैं वे विलुप्त हो जाते हैं। डार्विन का मत था कि इन छोटी भिन्नताओं के लगातार दीर्घ काल तक संचित होते रहने से एक नयी जीव-जाति (स्पीशीज) का जन्म होता है। यद्यपि इस सिद्धान्त की विस्तृत बारीकियों में संशोधन हुआ है—यह माना जाने लगा है कि ये भिन्न बिम्ब लगातार नहीं चलती और न ही क्रमिक या सूक्ष्म मंजिलों में चलती हैं—तो भी मोटे तौर पर इस सिद्धान्त में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। समस्त चेतन प्रकृति में निरन्तर विकास की जो कहानी हम देखते हैं वह एक स्वयं-चालित यन्त्र की क्रिया की द्योतक है। प्राकृतिक जगत् में बाहर का कोई सिद्धान्त इसकी व्याख्या करने के लिए आवश्यक नहीं है। एक ऐसी बन्द दुनिया में, जो एक-जैसे नियत नियमों से शासित है, कोई आध्यात्मिक सिद्धान्त हस्तक्षेप नहीं कर सकता, यद्यपि हमारे प्राचीन धर्म-ग्रन्थों में इस बात के विस्तृत चित्र खींचे गए हैं कि किस प्रकार कुछ भ्रष्ट देवताओं ने ईश्वर की प्रारम्भिक इच्छा को व्यर्थ कर दिया और किस प्रकार एक काल्पनिक देवता का गलत चुनाव करने से युगों तक लोगों को असह्य कष्ट उठाने पड़े और उससे आगे आने वाली समूची पीढ़ियाँ विनाश और भ्रंश का शिकार हो गईं। किन्तु इन सब चीजों में उन लोगों के लिए, जो असंख्य शताब्दियों में से गुजरकर होने वाली विकास की प्रक्रिया के विचार से परिचित हैं, लेश-मात्र भी सत्य नहीं है। हम यह बात निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि जीवों की जातियाँ एक सुव्यवस्थित क्रम से विकास के ऊँचे सोपान से बढ़ जाती हैं। बहुत सी जातियों का ह्रास हो जाता है और बहुत-सी नष्ट और विलुप्त हो जाती हैं। ज्यों ही जीवन का कोई रूप अपने पूर्ण विकास की स्थिति में पहुँचता है त्यों ही उसका ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। हमने जो प्रगति प्राप्ति की है वह परीक्षणों और गलतियों की एक कठिन पद्धति का परिणाम है। संघर्ष और कष्ट, रोग और मृत्यु इतने प्रबल तथ्य हैं कि यदि वास्तव में ही ब्रह्माण्ड में कोई शासक शक्ति है तो

भाग्य, नियति या आकस्मिक संयोग अथवा लापरवाह देवता भले ही वह शक्ति हो, कोई दयालु परमात्मा नहीं है। मानव जीवित प्राणियों की दीर्घ शृङ्खला की नवीनतम कड़ी के सिवाय कुछ नहीं है और वह भी इस ग्रह पर एकदम निर्दोष विनिर्मित गढ़े-गढ़ाए परिष्कृत रूप में उत्पन्न नहीं हुआ, बल्कि वह भी आहिस्ता-आहिस्ता परिस्थितियों के आघातों से गढ़कर परिष्कृत किया जा रहा है। पूर्व-पाषाण युग का अर्ध-मानव, निएण्डरथाल मानव एवं पिल्टडाउन में पाई जानेवाली मानव-अस्थियाँ यह सिद्ध करती हैं कि प्राचीन मानव एप के कितना निकट था। जब हम मानवता के विकास को एक विचित्र आकस्मिक संयोग के रूप में और उसके सारे इतिहास को ब्रह्माण्ड के इतिहास की एक घटना के रूप में देखते हैं, तो ईश्वर की मानव के रूप में कल्पना बहुत भद्दी और असंगत लगती है। काल के अचिन्तनीय रूप से लम्बे विस्तार की तुलना में मानवता का इतिहास पलक की एक झपक से अधिक बड़ा नहीं। मानव-प्राणी देश (स्पेस) के एक इतने छोटे कण-मात्र में सीमित है कि ऐसा प्रतीत होता है मानो ब्रह्माण्ड की मुख्य योजना में उनका कहीं स्थान ही न हो। हम यह बात निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि मनुष्य जीवन का अन्तिम और सर्वोच्च अभिव्यक्त रूप है। जीवन की शृङ्खला में मानव के बाद और भी कड़ियाँ हो सकती हैं जो मानव से उतनी ही भिन्न हों जितना कि वह इस शृङ्खला के प्रारम्भिक जीवन रूप अमीबा से भिन्न है। मनुष्य तो पृथ्वी पर अपेक्षाकृत बहुत बाद में आया है। उसने पृथ्वी पर शासन उसके जीवन के हजारवें भाग से भी कम समय तक किया है। दैत्याकार सरीसृप प्राणियों और डाइनोसौर जन्तुओं ने लाखों वर्षों तक पृथ्वी पर शासन किया है और सम्भव है उन्होंने भी सोचा हो कि उनका अस्तित्व कभी नष्ट नहीं होगा। मानव भी आज यही समझता है कि वह जीव-विज्ञानी विकास की अन्तिम विजय है और वह अनन्त काल तक ऐसा ही रहेगा।

हो सकता है कि मानव भी अज्ञेय के, जो अपनी दिशा के सम्बन्ध में सर्वथा सुनिश्चित नहीं है, असफल परीक्षणों में से एक हो। यदि हम यह मान भी लें कि पृथ्वी पर मानव ही जीवन के विकास की चरम अवस्था है और जीवन का विकास उससे ऊपर नहीं हो सकता, तो उस दशा में विज्ञान हमारे सामने मानव के विनाश का खतरा लेकर उपस्थित है। हमें विज्ञान ने बताया है कि सौर-परिवार एक घड़ी की तरह है जिसकी चाबी धीरे-धीरे खत्म होती जा रही है और जिसमें नये सिरे से चाबी नहीं भरी जा सकती। हो सकता है कि हमारे

जीवन-काल में यह घड़ी न रुके किन्तु अन्ततः एक दिन वह रुकेगा अवश्य।[1] वैज्ञानिक साक्ष्य से यह संकेत मिलता प्रतीत होता है कि ब्रह्माण्ड जो अत्यन्त धीमी गति से मंजिल पार कर सरकता सरकता अपनी वर्तमान स्थिति में आया है समस्त जीवन के पूर्ण विनाश यानी विश्वव्यापी मृत्यु की परिस्थितियों की ओर बढ़ रहा है।

जिन मूल्यों के लिए हम संघर्ष कर रहे हैं वे जुगनू की चमक हैं जो देर सबेर अदृश्य हो जाएँगे। ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया सिर्फ रूपों और आकारों के जनन और उच्छेदन की प्रक्रिया है जिसमें वे मूल्य जिनकी हम कामना करते हैं बहुत थोड़े समय के लिए एक क्षणिक रूप धारण करते हैं। आचार सम्बन्धी नैतिक सिद्धान्त केवल मानवीय व्यवहार के पथ निर्देशन के लिए सामान्य नियम हैं और जिस विकासोन्मुख समाज में उनका जन्म होता है उसी के कारण उनका महत्त्व और सार्थकता होती है। हमारी कर्तव्य की भावना मूलतः समूह जीवन की नैसर्गिक वृत्ति है जो पशुओं और अन्य प्राणियों में भी पाई जाती है। इस नैसर्गिक वृत्ति का अनुसरण करते हुए व्यक्ति के हितों को समूह के हितों के आगे उत्सर्ग कर दिया जाता है। आदर्शों का अनुसरण करने की कल्पना विशुद्ध सामाजिक भावना की उपज है उसके लिए किसी अतिप्राकृत शक्ति (सुपरनेचुरल पावर) की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं है। मानवीय व्यवहार का एक भी ऐसा कार्य नहीं है जिसका समाज ने एक समय अनुमोदन और दूसरे समय निन्दा न की हो। यद्यपि प्रतिमान (पैमाने) स्थिर नहीं रहते बदलते रहते हैं तो भी जीवन उनके बिना अर्थहीन प्रतीत होता है और इसीलिए नैतिक गाथाओं और नैतिक आचार का आविष्कार कर लिया जाता है। और विज्ञान हमें बताता है कि श्रम

[1] सर जेम्स जीन्स का कहना है : 'न सूर्य और न ही कोई अन्य तारा हमेशा इतने तीव्र गति से अपने द्रव्य का विकिरण करता रह सकता है ... सूर्य प्रति मिनट २५ करोड़ टन भार खो रहा है और ऐसा कोई अन्य ज्ञात स्रोत नहीं है जिससे उसके इस क्षय की पूर्ति इतनी तीव्र गति से भी हो सके। सूर्य में इतना द्रव्य है कि वह उसे अभी लाखों करोड़ वर्ष तक विकीर्ण करता रह सकता है। वास्तव में सूर्य इससे भी लम्बे जीवन की आशा कर सकता है, क्योंकि जैसे जैसे कोई तारा अधिक वृद्ध (पुराना) होता जाता है वैसे वैसे उससे ऊर्जा के विकिरण की और फलतः उसके द्रव्य और भार के क्षय की गति कम होती जाती है। जब हम बूढ़ों की भी इन दोनों दृष्टिकोणों पर विचार करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हमारे सूर्य जैसे तारे करोड़ों लाखों वर्षों तक चमकते रह सकते हैं।' (एस्ट्रोनोमी एण्ड कास्मोगोनी, द्वितीय संस्करण (१९२९) पृष्ठ ४१७-४१८)।

किस प्रकार पैदा होते हैं। नैतिकता एक कामचलाऊ व्यवस्था है और उसे मान्यता देना सामाजिक आवश्यकता है। नैतिकता क्योंकि परम्परा का परिणाम है, इसलिए समाज को उसे बदलने या संशोधित करने का अधिकार है। ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जो हमें व्यवहार की एक नियत पद्धति पर चलने के लिए आदेश देता हो। नैतिक नियम सिर्फ इसी अर्थ में वस्तुनिष्ठ (आब्जैक्टिव) हैं कि वे किसी व्यक्ति-विशेष से बँधे हुए नहीं है, इस अर्थ में नहीं कि वे निरुपाधिक (किन्हीं शर्तों से न बंधे हुए) आदेश हैं, या वे यह स्वीकार करके चलते हैं कि 'अच्छाई' एक अविश्लेषणीय और अन्तिम गुण है।

इस प्रकार आस्तिकता का पक्ष नैतिकता की दिशा से सन्दिग्ध हो जाता है। यदि हम यह तर्क करें कि हमारे भीतर जो नैतिक आकांक्षाएँ हैं वे अन्ततः एक दिन पूर्ण होंगी ही, तो यह तर्क दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें हम साध्य को ही साधन मानकर चलते हैं, अर्थात् हम यह पहले ही मान लेते हैं कि यह संसार तर्कपूर्ण है और निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति की ओर नियत गति से जा रहा है, जबकि वास्तव में इसी बात को हमें सिद्ध करना है। मनुष्य अपनी अन्तरात्मा में कर्तव्य की जो भावना अनुभव करता है उसमें या उसकी एक पूर्ण सत्ता की अवधारणा में एक नैतिक सत्ता या ईश्वर की अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती।

स्पंगलर का कहना है कि सांस्कृतिक एकको (कलचरल यूनिट) की पौधों के साथ तुलना की जा सकती है। वे भी पौधे की भाँति वृद्धि की मंजिलों में से गुजरते हैं, फूलों की तरह खिलते हैं और फिर मुरझा जाते हैं। एक अपरिवर्तनीय नियम, चाहे आप उसे नियति कहें और चाहे सामष्टिक आत्मा जातियों, और संस्कृतियों के उत्थान और पतन को शासित करता है। इतिहास तारों की भाँति नियत कक्षा-पथों में चक्राकार गति करता है। और उसकी गतिविधि भी तारों की गतिविधि की भाँति पूर्व-निर्धारित होती है।

मनुष्य के इतिहास और ब्रह्माण्ड के विराट् विस्तार के सम्बन्ध में आज हम ज्ञान की जिस स्थिति में पहुँच चुके हैं उसमें यह कल्पना, कि पृथ्वी या मानव-जाति (स्पीशीज) या कोई ऐतिहासिक व्यक्ति विशेष ही समस्त विश्व या उसकी घटनाओं के केन्द्र-बिन्दु हैं, बेतुकी नहीं तो असाधारण अवश्य प्रतीत होती है। हमारी पृथ्वी अत्यन्त लघु और नगण्य है और उस पर हमारी नागरिकता और भी तुच्छ वस्तु है। पृथ्वी को ब्रह्माण्ड का केन्द्र मानना, मनुष्यों को दर्शनशास्त्र का केन्द्र मानना और बुद्ध या ईसा को धर्म का केन्द्र मानना—ये सभी एक-जैसी

कल्पनाएँ हैं।[1] मनुष्य, जैसा कि प्रोफेसर एडिंगटन ने कहा है, सिर्फ इसी अर्थ में सब चीजों का केन्द्र है कि वह अपने परिमाण और इयत्ता की दृष्टि से परमाणु और तारे के मध्य में है। वह एक परमाणु से लगभग उतना ही गुना बड़ा है जितने गुना तारा उससे (मानव से) बड़ा है। विज्ञान के नवीन ज्ञान ने जिन लोगों के मन और बुद्धि को चकरा दिया है, उन्हें कट्टर सनातन पंथी धर्मशास्त्रों के रचयिता ऐसे ही लगते हैं, जैसे नींद में बड़बड़ाने वाले लोग।

मानव और अधिक विकास की सीढ़ी पर पहुँचे एप की शारीरिक रचना में पाई जाने वाली समानता की बारीकियाँ और उनकी रक्त परीक्षा के आश्चर्य-जनक परिणाम मानव और ऐंथ्रापॉयड की निकट समरूपता को सिद्ध करते हैं। मनुष्य का प्राणि के उसके मूल उद्गम, जन्म से पूर्व गर्भ में विकास, जन्म, वृद्धि, जरा और मरण के तथ्यों से स्पष्ट है। हम केवल यह मानकर, कि प्रकृति ने जीव विज्ञानशास्त्रियों के साथ दिल्लगी करने के लिए एक विराट विनोद किया है, इन तथ्यों को उड़ा नहीं सकते। यह काफी हद तक निश्चित है कि हम लोगों के पूर्वज एप या उन्हीं की जाति के दूसरे प्राणी हैं।

मानव प्राणियों के समूह में एक प्राणी है—यह बात न नयी है और न बहुत रहस्य की। किन्तु नयी बात यह है कि वह एक प्राणी से अधिक कुछ नहीं है। प्रोफेसर वाटसन का व्यवहारवादी मनोविज्ञान इसकी पुष्टि करता है। उनका मत है कि मनोविज्ञान भी शरीर क्रिया विज्ञान ही है, फर्क सिर्फ यही है कि शरीर-क्रिया विज्ञान का सम्बन्ध जहाँ प्राणी के अंगों के कार्यों—मसलन उसकी पाचन-प्रणाली, उसकी रक्त संचार प्रणाली और उसके स्नायु संस्थान—से है, वहाँ व्यवहारवाद की अधिक दिलचस्पी प्राणी के अंगों के बजाय समूचे प्राणी के दिन-रात के आठों पहर के व्यवहार से है।[2] मनुष्य 'पुर्जों और हिस्सों को जोड़कर

१. स्वर्गीय प्रोफेसर ओस्लर ने कहा था कि इसा को मानव जगत् के इतिहास का केन्द्र मानना 'प्राचीन और मध्य युगों के लोगों द्वारा प्रस्तुत की गई विश्व की तस्वीर में तो ठीक बैठ सकता है जिसमें विश्व को एक गाँव की तरह छोटी और सँकरी सी चीज माना गया है, जिसमें मानवीय इतिहास सिर्फ कुछ हजार वर्ष का छोटा सा इतिहास है और जिसमें विश्व के इतिहास की समाप्ति पर इसा की वापसी की आशा की गई है, किन्तु आज के मानव की यह कल्पना बहुत अनाव और बेतुकी लगती है, क्योंकि उसकी आम नैसर्गिक ज्ञान की कल्पनाओं से इसका मेल नहीं बैठता।' (रेवेरेण्ड ने० एम० वायुन स्मिथ द्वारा मार्डन चर्चमैन, अक्तूबर, १९२८ में पृष्ठ ३८६ पर उद्धृत।

२. बिहेवियरिज्म (१९२५), पृष्ठ ११।

तैयार की गई एक मशीन है जो दौड़ने के लिए तैयार है।'[1] जहाँ तक कि पुराने परम्परागत मनोविज्ञान में वर्णित आत्मा और चेतना का सम्बन्ध है, प्रोफेसर वाटसन उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं।[2] उनके मन में भाषा मांसपेशियों के सकोचन-विकोचन की एक शृङ्खला है। विचार भी उसी तरह एक घटना है जैसे कोई भी अन्य घटना। यह टेनिस खेलने की भाँति ही एक प्रेरक क्रिया-सघटन है, *एक प्रकार का व्यवहार (क्रिया) है जिसमें वाक्-पेशियों की गति तो होती है* किन्तु स्वर नहीं निकलता (अ-उस्वर गति)। (विचार) एक प्रकार से मूक वचन अर्थात् ऐसा बोलना है जिसमें आवाज नहीं निकलती, या 'गुप्त पेशी-क्रिया वाला सम्भाषण' है। *थार्नडाइक ने भूलभुलैयों में फँसाकर चूहों पर जो परीक्षण किये* हैं, उनसे उसने वैज्ञानिक रीति से यह सिद्ध करने का दावा किया है कि बुद्धि उद्दीपन और प्रतिवेदन (स्टिमुलस और रिस्पॉन्स) के सिवाय और कुछ नहीं है। भाव-

१. 'इस सम्बन्ध में मैं कोई बहुत कठिन बात नहीं कहना चाहता। चार टायर युक्त पहिये, धुरे, गीयर, गैस इंजन और ऊपर का ढाँचा लीजिए इन सबको जोड़िए तो हमें एक किस्म का मोटर मिल जाएगा। मोटर कुछ खास कामों के लिए उपयोगी चीज है। उसके माडल के अनुसार हम उसे कुछ खास कामों के लिए प्रयुक्त करते हैं। यदि वह फोर्ड है तो वह बाजार जाने और अन्य छोटी यात्राओं के लिए अच्छी है। यदि यह राल्सरॉयस है तो वह आनन्ददायक यात्रा के लिए उत्तम है। इसी प्रकार यह मानव, यह शिशु प्राणी यह जान लो भी जो सिर, बाहु, हाथ, धड़, टाँग, पाँव, उँगली तथा स्नायु, मांसपेशी और मज्जा आदि से बना है, जिसे कोई शिक्षा नहीं मिली है और जो अब इतना बड़ा हो गया है कि शिक्षा पा भी नहीं सकता, कुछ कामों के लिए उपयोगी है।' (बिहेवियरिज्म (१९२५) पृष्ठ २१६)।

२. 'यह मान्यता प्राचीनतम काल से ही मानवीय मनोविज्ञान में रही है। किन्तु किसी ने भी कभी न तो आत्मा को छूकर देखा है, न उसे परीक्षण नलिका में परखा है। और न कोई किसी अन्य प्रकार से कभी उसके सम्पर्क में आया है, जैसे कि वह अपने दैनिक अनुभव की अन्य वस्तुओं के सम्पर्क में आता है। फिर भी उसके अस्तित्व में सन्देह करने से मनुष्य नास्तिक समझा जाता रहा है और कभी-कभी तो इस सन्देह के कारण लोगों के सिर तक काट लिये गए हैं। यहाँ तक कि आज भी जिन लोगों का सार्वजनिक जीवन में कोई ऊँचा स्थान है वे उसके अस्तित्व में सन्देह नहीं कर सकते।' "वुण्ट के जमाने से बराबर चेतना मनोविज्ञान का आधार मानी जाती रही है। आज भी वह व्यवहारवाद को छोड़कर शेष सभी मनोविज्ञानों का मूल आधार है। किन्तु यह आत्मा की पुरानी कल्पना की भाँति विशुद्ध कल्पना मात्र है, जिसे न सिद्ध किया जा सकता है न जिसकी व्याख्या की जा सकती है। लेकिन व्यवहारवादी की दृष्टि में ये दोनों शब्द (चेतना और आत्मा), जहाँ तक कि उनके दार्शनिक अर्थ का सम्बन्ध है, एक ही हैं। (बिहेवियरिज्म, पृष्ठ ४ और ५)

नाएँ शारीरिक प्रतिक्रियाएँ (विसरल रिएक्शन) हैं। इच्छा-जैसी कोई चीज नहीं है। मनुष्य की क्षमता सवदक उद्दीपना और उनके प्रति स्वचलित प्रतिक्रियाओं तक सीमित है। प्रतिक्रियाएँ उद्दीपना की तीव्रता और मासपशियों तथा उन्हें नियन्त्रित करने वाले स्नायुओं की शक्ति पर ही पूर्णत निर्भर हैं। मनुष्य उद्दीपना और प्रतिवदनों के बीच की एक कड़ी है। वह प्राणियों में सबसे चतुर है। मन शरीर है और मनुष्य एक यन्त्र है। हमारे विचारों का कोई परिणाम नहीं होता और हमारी इच्छाओं की कोई उपयोगिता नहीं होती।

वाटसन का व्यवहारवाद सामान्य लोगों में बहुत लोकप्रिय है, क्योंकि वह उनके इस प्रिय विश्वास की पुष्टि करता है कि सब मनुष्यों को ईश्वर ने बराबर बनाया है। मनुष्यों में ऊँच-नीच का भदभाव अस्वीकरणीय और तर्क द्वारा अमान्य घोषित कर दिया गया है और अब हर चीज सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश का परिणाम मानी जाती है।[1] सहजात प्रवृत्ति में होने वाले सब परिवर्तन अभ्यस्त अनुकूलित प्रतिवर्तों के कारण होते हैं। नैतिक नियतिवाद सभी को मनोनुकूल लगता है क्योंकि उसमें सबको अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए बहाना मिल जाता है। व्यक्तित्व एक ऐसी चीज है जिसे हम देख सकते और अपनी इच्छानुसार आकार में ढाल सकते हैं। मनुष्य की गतिविधि रहस्यमय है, या वह स्वतन्त्र है, ये कथन कल्पना मात्र हैं। अगर हम उनसे हट जाएँ तो प्रतिक्रिया में देखना को भी निर्माण कर सकते हैं।

यद्यपि नये मनोविज्ञान में, जिसके साथ फ्रॉयड और युंग के नाम जुड़े हुए हैं, बिलकुल भिन्न वस्तु पर बल दिया गया है, पर वह भी एक प्रकार के मनोवैज्ञानिक नियतिवाद का समर्थक है। वाटसन को यह आपत्ति है कि फ्रायड ने यद्यपि प्रारम्भ में वैज्ञानिक प्रशिक्षण प्राप्त किया, किन्तु बाद में वह भी मन्त्र तन्त्र के फेर में पड़ गया।' फ्रॉयड की त्रुटि यह है कि वह चेतना के अध्ययन के

[1] 'सभी स्वस्थ व्यक्ति समान परिस्थितियों से अपना जीवन प्रारम्भ करते हैं।' हमारी सर्वसिद्ध स्वतन्त्रता की धारणा में भी ऐसे ही शब्द प्राण डाल देते हैं। इस धारणा पर इस्तान्तर करने वालों को मनोविज्ञान की अनभिज्ञता को दृष्टि में रखकर यदि हम सोचें तो हम देखेंगे कि वे सत्य के उससे कहीं अधिक निकट थे, जितना कि हम उनसे आशा कर सकते हैं। यदि घोषणा में 'समान' शब्द के साथ 'जन्म के समय' और जोड़ दिया जाता तो उनका कहना बिलकुल ही सही होता। जन्म के बाद की परिस्थितियाँ से ही कोई व्यक्ति हारा, कोई पनिहारा, कोई राजनयिक, कोई चोर, कोई सफल आत्मा और कोई वैज्ञानिक बनता है।' (बिहेवियरिज्म, पृष्ठ २१७)।

रूप मे मनोविज्ञान के लिए बडे बडे दावे करता है। अपने जागृत जीवन के प्रत्येक क्षण मे हम विविध प्रकार के उद्दीपनो की एक अविरत धारा को अनुभव करते हैं जो विभिन्न इन्द्रियो के द्वारा हम तक पहुँचते है। इन प्रत्यक्ष ऐन्द्रियिक अनुभवो और उनमे सम्बद्ध विचारो और बिम्बो मे ही हमारी चेतना बनती है। इस चेतना की देहरी के पार हमारे पास तथ्यो और मन पर पडी छापो (इम्प्रेशनो) का एक भण्डार है जिसम मे हम इच्छानुसार जब चाहे चुनाव कर सकते हैं। इस भण्डार के कुछ भागो तक कम और कुछ तक अधिक आसानी मे पहुँचा जा सकता है, किन्तु यदि प्रयत्न किया जाए तो छिपे हुए दूरस्थ तथ्यो और इम्प्रेशनों को भी पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। इस भण्डार को मन का अवचेतन प्रदेश कहा जाता है, जबकि चेतना उससे बिलकुल अलग है जिसे चेतन प्रदेश कहा जाता है। मन का एक तीसरा प्रदेश भी है जिसे अचेतन (अनकॉनशस) प्रदेश कहा जाता है जिसमे हमारे शैशव और बाल्यावस्था मे प्राप्त इम्प्रेशन, जो एक प्रकार से हमारे जीवन के खोये हुए या विस्मृत अनुभव होते है, सचित रहते हैं। यद्यपि हम इन अनुभवो को सामान्य चिन्तन के द्वारा उठाकर चेतन प्रदेश मे नही ला सकते, तथापि वे हमारे व्यवहार पर गहरा प्रभाव डालते है। मनोविज्ञान-विश्लेषको की दृष्टि मे अचेतन मन ही वास्तविक मन है। उनका कहना है कि दबे हुए भाव और तत्व ही गतिशील तत्त्व और मन की प्रेरक शक्तियाँ हैं।[1]

इन सिद्धान्तो का धार्मिक प्रश्न से गहरा सम्बन्ध है। यदि 'मन, भावना और आत्मा उसी तरह जीवित मस्तिष्क के ही अभिव्यक्त रूप है जिस तरह ज्वाला जलती हुई मोमबत्ती का अभिव्यक्त रूप है' तो मस्तिष्क के नष्ट हो जाने पर इन सबका अन्त हो जाएगा। प्राकृतिक शक्तियो के प्रभाव के अन्तर्गत मानवीय जाति (स्पीशीज़) का शनै-शनै विकास यह सिद्ध करता है कि मानव भी शेष प्रकृति का एक अग है। उसके धार्मिक अन्तर्ज्ञान सिर्फ एप वशावलि के प्राणी के स्वप्न-मात्र है। डार्विन-जैसे सतर्क विचारक ने भी अपनी आत्मकथा (१८८७) मे लिखा है : 'किन्तु तब यह सन्देह पैदा होता है कि क्या मनुष्य का मन, जिसके बारे मे मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि वह निम्नतम प्राणियो के समान

१. यह कहना सही नहीं है कि व्यवहारवाद और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मनोविज्ञान की प्रधान शैलियाँ है। मनोवैज्ञानिक लोगों में इस बात पर मतैक्य प्रतीत नहीं होता कि मनोविज्ञान का अर्थ क्या है।

मन में धीरे धीरे विकसित हुआ है, जब इतने बड़े बड़े निष्कर्ष निकालता है तो उन पर विश्वास किया जा सकता है? मानवीय मन अस्तित्व के लिए किये गए संघर्ष की उपज है। यह औजार बनाने और अन्न की खोज करने का एक साधन है जो परीक्षणों और गलतियों में से गुजरकर दूसरों के साथ समंजन करना सीखता है। उसका काम का ढंग परीक्षणात्मक, उसके साधन उपयोगितावादी और उसके विचार कामचलाऊ होते हैं।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अनुसार चेतन तर्क अत्यधिक विकसित प्राणियों में भी बहुत मामूली भूमिका अदा करता है। मानवीय मन की अत्यधिक बुनियादी प्रवृत्तियाँ तर्कहीन होती हैं। चिंतन का अर्थ वास्तव में तर्क करना (रीज़निंग) उतना नहीं जितना कि औचित्य-स्थापन (रेशनलाइज़ेशन) है। हम आम तौर पर ऐसी सम्मतियों के पक्ष में, जो तर्क-प्रदत्त आधारों से भिन्न आधारों पर आश्रित होती हैं, तर्क पेश किया करते हैं। मनुष्य का व्यक्तित्व ऐसी नैसर्गिक वृत्तियों की क्रीडास्थली है जो दमनात्मक प्रभावों से नियन्त्रण में रहती हैं। इन दमनात्मक प्रभावों में से कुछ प्रभाव धार्मिक विश्वासों के भ्रमों से उत्पन्न होते हैं। यदि अचेतन मन की गहराइयों में ही गतिशील प्रेरक तत्त्व निहित हैं तो नैतिक प्रयत्न और धार्मिक आशाएँ सिर्फ भ्रम ही हैं।

तर्क का आश्रय, अनेक बार गहरी बैठी हुई नैसर्गिक वृत्तियों और आशाओं में से जन्य कार्यों के समर्थन के लिए लिया जाता है। काल्पनिक सत्ताओं के प्रति हमारी धार्मिक प्रतिक्रियाएँ हमारी अविवेकात्मक प्रकृति के मनोवैज्ञानिक कार्य हैं। धार्मिक विश्वास और सिद्धान्त प्रक्षेप और प्रतिगमन (प्रोजेक्शन और रिग्रेशन) की प्रक्रियाओं द्वारा उत्पादित सान्त्वनादायक साधन हैं और उनका सम्बन्ध किसी वस्तु-निष्ठ वास्तविक सत्ता से नहीं है। ईश्वर केवल अचेतन का एक कार्य है। सर्वयौनिकतावाद के सिद्धान्त के अनुसार यह तर्क दिया जाता है कि धर्म भी प्रारम्भ में यौनिक आनन्द का ही दूसरा नाम था और यहाँ तक कि अनेक उच्च धर्मों में भी यौनिक भावनाओं को आदर्श बना दिया गया है। रहस्यवादी अनुभव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विकृत व्यक्तियों की विकृत इच्छाओं के प्रक्षेप हैं। जब हम ईश्वर को एक कृपालु पिता के रूप में देखते हैं तो हमारे मन में एक प्रतिगमनात्मक विचार होता है। शैशव और बाल्यावस्था में हम अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और हानि से अपनी रक्षा के लिए अपने माता-पिता की ओर निहारते हैं। जब हम परिपक्व अवस्था में पहुँच जाते हैं तब हम

यह कल्पना करने लगते हैं कि जैसे माता-पिता घर पर शासन करते हैं, वैसे ही एक परमपिता जगदीश्वर, जो हम सबको जानता है और हम सबकी फिक्र करता है, *ऐसी व्यवस्था करता है कि उसकी सब सन्तानों का अन्ततः कल्याण हो।*[1] इसलिए उस समय भी, जबकि हमारे सामने जीवन के कठोर सत्य उपस्थित होते हैं, हम अपने-आपको एक भावुकतापूर्ण सुरक्षा की स्थिति के भ्रम में डाले रखते हैं। हमारी भावना यह रहती है कि यदि तुम मुझे कत्ल कर दोगे तब भी मैं तुम पर अपना विश्वास बनाये रखूंगा। इस प्रकार हम वास्तव में प्रौढ़ आयु के शिशु हैं और ईश्वर एक तरह से सारी मानवता को 'स्तन्यपान कराने वाली एक धाय' है।

इस प्रकार ईश्वर के विचार को, जो नृतत्त्वविशारदों के अनुसार मानवीय इतिहास के प्राचीनतम युगों से निरन्तर प्रभावशाली रहा है, एक मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया जाता है। ईश्वर का भय, पापी की लज्जा और मुक्ति की भावना आदि धार्मिक प्रपंचों की भी इसी प्रकार व्याख्या की जाती है। फ्रायड का यह निश्चित विश्वास है कि धर्म मानव समाज के मनोवैज्ञानिक विकास की एक विशेष सीढ़ी के साथ जुड़ा हुआ भ्रम है। समाज उस धीरे-धीरे उखाड़ फेंकने की प्रक्रिया में रत है, क्योंकि उसके मनीषी सदस्य बौद्धिक अपरिपक्वता की उस मंजिल से ऊपर उठ रहे हैं जिसके साथ इस भ्रम का सम्बन्ध है।[2]

आजकल धर्म पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करने पर बहुत जोर दिया जाता है। यद्यपि धर्म के आधुनिक मनोवैज्ञानिक अध्ययन का प्रवर्तक वुण्ट था, तो भी उसके मुख्य प्रतिनिधि विलियम जेम्स और स्टेनली हॉल, स्टारबक और लॉयबा

१. तुलना कीजिए युग—'स्रष्टा पुरुष के रूप में ईश्वर की कल्पना विश्लेषणात्मक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों से मनोवैज्ञानिक है और 'फादर इमेगो' का ही रूपान्तर है, और सबसे बड़ी बात यह कि इसका उद्देश्य मनुष्य द्वारा अपने शैशवकाल के पिता को हटाकर उसके स्थान पर एक महान् पिता को इस ढंग से प्रतिष्ठापित करना है कि उसका अपने छोटे से परिवार के क्षेत्र से बाहर निकलकर मानव-समाज के विशाल क्षेत्र में आना जाना और निर्विघ्नता से हो सके।' (साइकालोजी आफ दि अनकांशस), (१९१७), पृष्ठ २९।

२. एम० राइनख ने एक स्वतन्त्र आधार पर तर्क किया है कि धर्म का इतिहास भ्रमों और गलतियों के, जिन्होंने मानवीय मामलों में एक महत्त्वपूर्ण भाग अदा किया है, और जो कभी-कभी हानिकर भी सिद्ध हुआ है, इतिहास के सिवाय कुछ नहीं है। और भविष्य के लोक *तन्त्र का उससे कुछ सरोकार नहीं होगा।* आर्फियस, अंग्रेजी अनुवाद (१९०९), सैक्शन १०२।

एव की और प्रॅट हैं, जो सब अमरीकी हैं। ब्रिटेन मे भी इसमें काफी योग मिला है।[1] किन्तु धार्मिक लक्ष्य, ईश्वर आदि की वास्तविकता के विरुद्ध निष्कर्ष विशेष रूप मे उन लोगो ने निकाले हैं जो फ्रॉयड के सिद्धान्तो के अनुयायी हैं। लायबा ने अपनी पुस्तक 'ए साइकालोजिकल स्टडी ग्राफ रिलिजन' मे कहा है कि धार्मिक अनुभव केवल एक आत्मनिष्ठ (सब्जेक्टिव) स्थिति है और उसका अन्तर्निहित तत्त्व एक भ्रम है। यद्यपि यह भ्रम वास्तविकता की-सी प्रबलता के साथ होता है तो भी वह भ्रम ही है। बहके हुए और अशिक्षित लोग नीचे से उठने वाले स्वप्नो को ऊपर से आयी हुई आवाज़ समझ लेते हैं। ऊपर स्वर्ग से जो वाणी हम तक पहुँचती है वह स्पष्टत मानवीय वाणी ही है।[2] इसके वचन स्वर्ग से आने वाले देवदूतो के सन्देश नहीं हैं, बल्कि स्पष्टत ऐसी निराश आत्माओं के उद्गार हैं जो विशुद्ध आत्म रक्षा के लिए उनके हृदय से निकलते हैं। जब मनुष्यो का आन्तरिक, नैस गिक उत्साह और माधुर्य उनके इर्द-गिर्द के जीवन से ठण्डा पड जाता है तब अति प्रकृत आश्वासन बहुत लोकप्रिय हो जाते हैं। मनुष्यो को होने वाले रहस्य-मय धार्मिक अनुभवो मे निश्चितता की जो प्रतीति होती है वह वास्तव में सन्दिग्ध है, क्योंकि ये अनुभव परस्पर विरुद्ध होते हैं। यदि धर्म का प्रयोजन गम्भीर सकटो के समय और भविष्य की आशकाओ की घडियो मे हमारे भीतर पुन विश्वास पैदा करना है तो वह मनुष्य के मन पर सुझावो का प्रभाव डालकर और उसकी कल्पना को सजग कर अपना कार्य करता है। पूर्व और पश्चिम दोनो मे एक खास किस्म के धार्मिक सम्प्रदायो मे मत्रदात्मक कल्पना को प्रबुद्ध करने वाली पद्धतियाँ बहुत आम रही हैं।[3] यदि हम किसी वस्तु विशेष के विचार

[1] मेल्वा दा साइकालाजी ग्राफ रिलिजन (१९२४) थाउलेस एन इन्ट्राडक्शन टु दी साइकालाजी ग्राफ रिलिजन (१९२४) विम साइकालाजी एण्ड दि क्रिश्चियन लाइफ (१९२१)।

[2] तुलना कीजिए हाबस हौब्स 'यह कहना कि ईश्वर ने उससे स्वप्न में कहा है, और यह कहना कि उसने यह स्वप्न देखा है कि ईश्वर उससे कह रहा है—दोनो में कोई अन्तर नहीं है। यह कहना कि उसने कोई रहस्यपूर्ण वस्तु देखी है या रहस्यपूर्ण बातें सुनी हैं, एक तरह से यह कहना है कि उसने सोने और जागने के बीच स्वप्न देखा है।' लिवियाथन, पुस्तक ३, अध्याय XXXII (बरेट ब्राउन एण्ड हार्वे का, 'दी नेचुरलनेस ग्राफ रिलिजन' (१९२८) मे पृष्ठ ८८ पर उद्धृत)।

[3] भारत और यूरोप दोनो के ऊँचे दर्जे के योगी रहस्यमय अनुभूतियों और स्वप्नों एवं रहस्य मय वस्तुओं के दर्शन और वाणियों के श्रवण को हमेशा से सन्देह की दृष्टि से देखते रहे हैं।

पर अपना ध्यान केन्द्रित कर दे, उदाहरणार्थ रौरव नरक की आग की लपटों पर, तो कुछ समय बाद हम सचमुच अपनी हथेलियों पर झुलसने वाली आग अनुभव करने लगते हैं। इसी प्रक्रिया से हमने ईश्वर को ही नहीं, उसके शत्रु शैतान और उसके भूत-प्रेत और डाकिनियों के गिरोह को देखा है। 'जो विश्वास करता है उसके *लिए सब-कुछ सम्भव है।' हमें जैसा ज्ञान का प्रकाश दिया जाता है हम* उसके अनुसार अपनी मन स्थिति बना सकते हैं।

मनोवैज्ञानिकों की दिलचस्पी उन परिस्थितियों का पता लगाने में ज़रूर है जिनसे हम अपनी कल्पना की सृष्टि को वास्तविक तथ्य मान लेते हैं, किन्तु उनके सत्यात्मक मूल्य को जानने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं है। जब हमें मालूम हो जाता है कि अमुक वस्तु भ्रम है तो हम उसकी सत्यता पर वहम नहीं करते। जब हम यह बताते हैं कि वे कौनसी परिस्थितियाँ थीं जिनमें सती प्रथा और मन्त्र-तन्त्र पर विश्वास किया जाता था, तब हम उन धार्मिक ग्रन्थों के वचनों का और उन बड़े-बड़े लोगों का उल्लेख करते हैं जिनको प्रामाणिक मानकर यह विश्वास किया जाता था और साथ ही हम जन-साधारण के भोलेपन आदि का भी उल्लेख करते हैं जो उस विश्वास में सहायक थे। इसी प्रकार मनोविज्ञानशास्त्री भी हम बताते हैं कि [किन] परिस्थितियों में लोग धार्मिक बातों पर विश्वास करते हैं।[1]

धर्म संसार में मानवीय भावना के प्राकृतिक दोषों और त्रुटियों की कुछ क्षति-पूर्ति करता है और उसके द्वारा मनुष्य इस संसार की अनित्यता, अनिश्चितता और अर्थहीनता से बचकर एक ऐसे संसार में जा सकता है जहाँ ईश्वर की विद्यमानता के कारण ये सब दोष खत्म हो जाते हैं। तात्विक और वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो धर्म एक पूर्ण पुरुष और पूर्ण संसार के सम्बन्ध में एवं तथ्यात्मक स्थिति से मुक्त होकर विशुद्ध आदर्श के अनुभव को प्राप्त करने के साधनों के सम्बन्ध में, अपने विचारों को प्रकट करने का मनुष्य का प्रयत्न है। मनुष्य की दृष्टि में देवता वास्तव में वैसे ही आदर्श मानव-प्राणी हैं जैसे कि वे स्वयं बनना चाहते हैं।

१. धर्म को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखना और उसका उसी रूप में अध्ययन करना केवल मनोवैज्ञानिकों तक ही सीमित नहीं है। श्री मिडिलटन मरे ने अपनी पुस्तक 'ईश्वर' (१९२९) में कहा है 'ईश्वर का अस्तित्व वास्तव में नहीं है फिर भी हमारा काम तब तक उसके बिना कभी नहीं चल सकेगा, जब तक कि हम अपने अन्दर यह ज्ञान प्राप्त न कर लें कि उसकी (ईश्वर की) कल्पना क्यों की गई थी।' उनके अनुसार ईसा जैसे महान् सन्त ईश्वर के स्वरूप को नहीं, अपने ही स्वरूप की खोज करते हैं।

प्रकृति के सामने मनुष्य की असहायता शक्ति और कृपा के अनिप्रस्त स्रोत की ओर निहारने के लिए उसे विवश करती है। हम धर्म को उसकी व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से अपनाते हैं इसलिए नहीं कि हम चरम पूर्णता वाली सर्वोच्च आत्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकें।[1]

एमिल दुर्खाइम के नेतृत्व में फ्रांसीसी समाजशास्त्री धार्मिक अवधारणाओं की उत्पत्ति और विकास में सामाजिक समूहों द्वारा अदा की गई भूमिका पर बल देते हैं। प्रारम्भ से ही धर्म का उपयोग सामाजिक संगठन को कायम रखने और धर्म निरपेक्ष नैतिक मूल्यों की रक्षा के लिए किया जाता रहा है क्योंकि धार्मिक शिक्षाएँ लोगों को वफादार और कानून-पालक बनाने के लिए जनता और न्यायालयों से भी अधिक प्रभावकारी सिद्ध हुई हैं। धर्म समाज के लिए लाभकारी प्रवृत्तियों के भावनात्मक उद्दीपन देने के लिए एक साधन है। सामाजिक वर्ग क्योंकि अपने सदस्य व्यक्तियों से ऊपर और परे होता है इसलिए उसके विभिन्न रूप व्यक्ति के लिए अपेक्षाकृत स्वतन्त्र और पृथक् होते हैं। भाषा आदि विशुद्ध सामाजिक वस्तुएँ व्यक्ति द्वारा पैदा नहीं की जातीं, उसके द्वारा अपनाई जाती हैं, और फिर भी वे केवल मानव की ही उपज हैं। इसी प्रकार धार्मिक विश्वास भी व्यक्तियों के मनों की पारस्परिक क्रिया से उत्पन्न होता है और उतना ही वस्तुनिष्ठ और उतना ही भ्रामक है जितनी कि भाषा। इस दृष्टिकोण के अनुसार ईश्वर व्यक्तियों की आकांक्षाओं का प्रक्षेप उतना नहीं है जितना कि समाज की उपज।

[1] डा० कूक लिखते हैं: 'तुलनात्मक पाठ्य पुस्तकों में धर्म के रूप में जो कुछ लिया जाता है उसका एक बड़ा अंश वास्तव में आदिमयुगीन विज्ञान प्रतीत होता है, यानी वह एक अदृश्य सत्ता के साथ निःस्वार्थ और निष्काम सम्बन्ध स्थापित करने के बजाय एक रहस्यमान किन्तु बहुदेववादी (प्लूरलिस्टिक) ब्रह्माण्ड में विद्यमान व्यवस्था और उसके कार्य-संचालन की व्याख्या का प्रयत्न है। सर्वात्मवाद अपने विकसित और अविकसित रूपों में केवल प्रकृति की शक्तियों का वर्णन मात्र है। प्रोफेसर लायबा के शब्दों में कहा जाए तो आत्माएँ, शैतान और देवता शब्द का इस्तेमाल किया जाता है। मनुष्यों की दिलचस्पी आरम्भ में धर्मनिरपेक्ष और सांसारिक ही है। देवता की सेवा अपने आपमें उद्देश्य नहीं होती, बल्कि उसे उनसे नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का आधार मानकर की जाती है। प्राचीन काल में किसान अपने खेत में बलि उसी उद्देश्य से देता था जिस उद्देश्य से आधुनिक किसान अपने खेत में रासायनिक खाद देता है। यही कारण है कि सुकरात के प्रसिद्ध वादविवाद में जब सुकरात पूछता है कि 'बलि देने का क्या लाभ है?' तो यूथिफ्रो के लिए उसका उत्तर देना कठिन हो जाता है, क्योंकि सुकरात देवताओं और प्राकृतिक घटनाओं में किसी भी प्रकार के सम्बन्ध का अभाव पहले ही दरसा चुका था। पारम्

हमारी ईश्वर-सम्बन्धी भावना हमारे ऊपर पड़ने वाले समाज के दबाव के कारण है।[1] प्रचलित नैतिक आचार के समर्थन में हम एक ऐसे ईश्वर की दुहाई देते हैं जिसे हम जानते नहीं।

४. तुलनात्मक धर्म-समीक्षा :

तुलनात्मक धर्म-समीक्षा और ऊँचे दरजे की आलोचना, जो अपेक्षाकृत हाल के जमाने की चीज़े हैं, अब अपना भी योग इस प्रकार देने लगी हैं, मानो धर्म का विघटन अपने-आपमें पर्याप्त निर्णायक नहीं था। तुलनात्मक धर्म समीक्षा में हम अपने धार्मिक विश्वास के अतिरिक्त अन्य विश्वासों का भी बिना उन्हें स्वीकार या तिरस्कार किये अध्ययन कर सकते हैं। इस तुलनात्मक अध्ययन में हम अपने सुदूर पूर्वजों के सीधे-सादे विश्वासों से लेकर, जिन्होंने कि इस महान् पारिवेशिक रहस्य के अनुभवों को पहले-पहल सूत्रबद्ध किया, आज के जीवित विश्वासों तक ईश्वर सम्बन्धी हमारे समस्त विश्वासों के इतिहास की समीक्षा कर सकते हैं। प्रतीत होता है कि हर वस्तु पर मनुष्य ने देवत्व का आरोप कर दिया है। प्रकृति की शक्तियों, सूर्य, तारों, अग्नि, जल और पृथ्वी एवं प्रजननकारी ऊर्जाओं को देवता बना दिया गया है। वीर-पूजा और मानवीय देवताओं ने देवताओं की इस संख्या में और भी वृद्धि कर दी है। ईश्वर के चित्र हमने अपने मन में उतने ही बनाये हुए हैं जितने कि हम स्वयं हैं। जीनोफेनीज का, जो यूरोप का धर्म का सबसे पहला महान् तुलनात्मक अध्ययनकर्ता था, सन्देहवाद प्रतिदिन पुष्ट होता जा रहा है।[2]

लिक छात्र परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए माता मेरी के लिए प्रसाद की मन्नत मानता है, जब कि क्रिश्चियन का प्रोटेस्टेंट छात्र परीक्षा में सफलता के लिए सिर्फ एक अच्छा शिक्षक नियुक्त करता है। किन्तु क्या उन दोनों की प्रधान दिलचस्पी और प्रयोजन में कोई वास्तविक अन्तर है?" (बूक, दी क्रिश्चियन रिलिजन एण्ड इट्स काम्पीटीटर्स टु डे (१९२५), पृष्ठ १४)।

१ इस सिद्धान्त की प्रभावकारी आलोचना के लिए क्लामेंट वेब की पुस्तक देखिए "ग्रुप थ्यारीज़ आफ रिलिजन एण्ड दी रिलिजन आफ दी इंडिविजुअल (१९१६)।

२. हाँ, यदि बैलों, घोड़ों और शेरों के हाथ होते और वे मनुष्यों की भांति अपने हाथ से चित्र और कलाकृतियाँ बना सकते तो घोड़े घोड़ों के रूप में और शेर शेरों के रूप में देवताओं को चित्रित करते और उनके शरीर अपनी तरह-तरह की आकृतियों में बनाते। इथियोपियन लोग ईश्वर को काला और छोटी और चपटी नाक वाला चित्रित करते हैं, थ्रेसियन लोग कहते हैं कि उनके ईश्वर की आँखें नीली और बाल लाल हैं।' बर्नेट, अर्ली ग्रीक फिलॉ-

नृतत्त्वशास्त्र, जिसमें हमें सुनहरी शाखाओं और प्राणियों, राजाओं और स्वर्गीय युगल आदि की ईश्वर की भाँति पूजा की प्राचीन परम्पराओं की दिलचस्प जानकारी मिलती है, यह सिद्ध करता है कि हमारे आज के अनेक जीवित देवताओं के पूर्वज बहुत ही निम्न कोटि के थे। मनतत्त्वशास्त्र हमें बताता है कि धर्म के नाम से हमें प्राचीन काल से प्राप्त हुई कुछ परम्पराएं वास्तव में आदिमयुगीन कर्मकाण्डों से ही प्रारम्भ हुई थीं। आदिमयुगीन लोग अपने देवताओं को खाया करते थे ताकि उन्हें उससे शक्ति प्राप्त हो और ईसाइयों में ईसा के शरीर को खाने और उसके रक्त को पीने की जो प्रथा है वह भी इस पुरानी प्रथा से सर्वथा असम्बद्ध नहीं है। धार्मिक साहित्य में दी गई कहानियाँ ईश्वर की सुनाई हुई नहीं हैं, और यदि हम आज भी उन्हें ईश्वरीय कहानियाँ मानकर ही उनसे चिपटे हुए हैं तो उससे यही सिद्ध होता है कि गलतियों का उन्मूलन बहुत कठिनाई से होता है।

कोई भी देवता अन्तिम और अपरिवर्तनीय तथा कोई भी धर्म पूर्ण नहीं प्रतीत होता। एक समय था जब मोलोक और बाल के बड़े-बड़े मन्दिर बनाये गए थे, वे अपने समय के शक्तिशाली देवता थे और उनके पूजकों की संख्या बहुत बड़ी थी, वे आदेश और निषेध जारी किया करते थे जिनकी व्याख्या करने में कितने ही पुजारियों ने अपना सारा जीवन व्यतीत कर दिया था। उनकी शक्ति और सत्ता से इनकार करना कुफ्र समझा जाता था और हजारों व्यक्तियों ने इस अपराध में मौत और अत्याचार झेले, किन्तु आज कौन ऐसा व्यक्ति है जो उनकी पूजा करना तो दूर, उनको स्वीकार भी करे? मिस्र का रा और बेबिलोन का शमश, आइसिस और अष्टोरेथ, जियस और एथीना, जानस और वेस्टा जिन्हें लाखों व्यक्ति भय और सम्भ्रम की दृष्टि देखते थे और जो कुछ हजार वर्ष पूर्व स्वयं यहोवा के समकक्ष समझे जाने वाले देवता थे, कहाँ गये? उनके दिन लद गए, आज उनकी वेदिकाओं पर पूजा के धूप-दीप से धुआँ नहीं उठता। हम उन लोगों के भोलेपन पर हँसते हैं जो यह समझते हैं कि और सब देवता खत्म हो जाएँगे, सिर्फ उन्हीं का देवता अनन्त काल तक बना रहेगा। अतीत की खण्डित मूर्तियों से भी उन्हें कोई सबक नहीं मिलता। धर्म का इतिहास परस्पर विरोधी प्रणालियों के

मर्री, न्यूयार्क, (१९३०), पृष्ठ ११६। स्पिनोजा का कहना है: 'यदि किसी त्रिकोण में बोलने की शक्ति हो तो वह यही कहेगा कि ईश्वर त्रिकोणाकार है और वृत्त कहेगा कि ईश्वर वृत्ताकार है और इस प्रकार हर वस्तु ईश्वर पर अपनी ही विशेषताओं का आरोप करेगी और अपने आपको ईश्वर जैसा और बाकी सब चीजों को विरूप और भद्दा बता देगी।' कारस्पॉन्डेन्स ऑफ स्पिनोजा, वुल्फ द्वारा सम्पादित (१९२८), पृष्ठ २८८।

संघर्ष का इतिहास है, जिनमें से हरेक का यह कट्टरतापूर्ण दावा था कि वही अन्तिम है, वही चरम सत्य है—एक ऐसा दावा जो उनकी बहुसंख्या को देखते हुए बेतुका ही बेतुका था।

यदि धर्म का तुलनात्मक अध्ययन हमें कोई सबक देता है तो वह यही है कि हर धर्म भ्रान्त और अपूर्ण मानवीय साधनों में ढाला और गढ़ा गया है और जब तक वह जीवित है तब तक वह बदलता रहेगा। आत्मा का अर्थ है विकास और अभी जब हम जीवन का सिर्फ एक ही पार्श्व देख रहे होते हैं, चक्र घूम जाता है और अतीत की छाया उसके बीच में आ जाती है।

'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य को ही ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप मानने के दयनीय विश्वास ने सर्वात्मवाद के ऐसे-ऐसे अजीब सिद्धान्तों को जन्म दिया जिनमें प्रायः हर चेतन और अचेतन वस्तु में मानवीय गुणों का अध्यारोप कर दिया गया। हमने पत्थरों को सजीव और वृक्षों को संवेदनशील माना। यहाँ तक कि जब हमारे मन में मानवीय व्यक्तित्व की अवधारणा अधिक स्पष्ट हो गई तब भी सब वस्तुओं को मनुष्य के समान मानने की प्रवृत्ति ने हमारा पीछा नहीं छोड़ा। हमने अपने देवताओं को मानवीय आवेशों से युक्त कर दिया, और वे हमारे मामूली-से पाप के लिए भी हम पर क्रोध और प्रतिशोध का वज्रपात करते। इसीलिए यह मान्यता है कि मनुष्य का मन विराट् ब्रह्माण्ड-सत्ता के अनुरूप है।

५. सूक्ष्म आलोचना

वेद, त्रिपिटक, बाइबिल और कुरान आदि जो धर्म-ग्रन्थ धर्मों की चरम सत्यता की घोषणा करते हैं और अपने-आपको अभ्रान्त बताते हैं, उन्हें भी आज प्लेटो के प्रश्नोत्तरों और अशोक के लेखों की भांति आलोचनात्मक और ऐतिहासिक भावना से परखा जाता है। ये सब मानवीय हाथों से लिखे गए मानवीय अभिलेख हैं और उनमें गलती की सम्भावनाएँ हैं। केवल धार्मिक ग्रन्थ ही नहीं, सब धर्मों की स्मृतियाँ भी अपौरुषेय और सीधे देवताओं से प्राप्त मानी जाती हैं। यहूदी और गैर-यहूदी, ग्रीक और ग्रीकेतर, सभी यह दावा करते हैं कि उनके नियम-कानून सबसे पहले देवताओं ने ही बनाये थे। किन्तु आज हम जानते हैं कि इन सबकी उत्पत्ति मानव प्राणियों के परस्पर-विरोधी आवेशों और अपना मार्ग टटोलने वाले अन्धे-से तर्क में हुई है। धार्मिक-ग्रन्थ भी इसके अपवाद नहीं हैं। ये उन परम्-

राम्रा ग्रौर उरायी का मन्न ह कि ह ग्र न्त ि सम्पन्न ऋषियों न स्मनिाम निर्धारित करना उनरा समभा ताकि उनम मनुष्यों का ग्रच्छा जावन बिताने पर परस्पर मिलकर रहने म सहायता मिल सके। धर्म-ग्र थ इतिहास का उपज ह और उनके कुछ भाग प्रक्षिप्त ह या धर्म-ग्रन्थ इतने पुरान नहीं ह जितने कि व समभ जाते ह। यह बात ग्रच्छी तरह सिद्ध नहीं की जा सकी कि ऋषियों या पैगम्बरों की य बातें इ ा ग्रन्थ म प्राप्त हुए। हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि इनम स एक भी धर्म-ग्रन्थ साक्षात् ईश्वर का ही वचन है। ईसाई धर्म ग्रंथों की स्मृति ग्रौर सूक्ष्म ग्रालोचनाग्रों ने यह सिद्ध किया कि बाइबिल म पौराणिक गाथाएं दन्तकथाएँ ग्रौर प्रचलित परम्पराएं ह ग्रौर विकास के ग्रनेक स्तरों से गुजरते हुए उसम ग्रभिवृद्धि हुई है। किन्तु इस ऐतिहासिक वर्णन समभना गलत होगा। मनीषी हिन्दुग्रों ग्रौर बौद्धों म ग्रालोचनात्मक रवैया काफी ग्राम फहम है। उन्होंने ग्रपने पवित्र ग्रन्थों का विश्लेषण किया है ग्रौर यह निर्धारित किया है कि उनका कौनसा भाग किस युग स सम्बद्ध है। वेद कोई एक पुस्तक नहीं बल्कि साहित्यिक संग्रह ह जिनम विविध शैलियों वाली ग्रौर मूल्यों वाली साहित्यिक रचनाएँ ह। उनके प्रणाेता हाने का ग्रर्थ यह नहीं है कि व ईश्वर न ही बनाकर दिखाए ह या लेखक न जिस समय उन्ह लिखा उस समय उसकी सामान्य शक्तियां तिरोहित हो गई ग्रौर उनका स्थान कुछ ग्रसाधारण दिव्य शक्तियों ने ले लिया। उनके विभिन्न खण्ड म एक के बाद एक ग्रनेक पीढ़ियों की ग्राशाग्रों ग्रौर विश्वासों भयों ग्रौर कल्पनाग्रों का संग्रह है। उनका महत्त्व इस बात म नहीं है कि व बहुत प्राचीन हैं या ईश्वरीय वचन है बल्कि उनकी विषय-वस्तु की महत्ता म है। वास्तव में समस्त चीनी जगत् को यह बहुत चकित कर दिया था कि व सब धार्मिक पाठ, जिनके बारे म यह परम्परा चली ग्रा रही है कि कन्फ्यूशियस न उन्ह भावी सन्ततियों के लिए पवित्र विरासत के रूप म व्यवस्थित करके प्रकाशित कराया, वास्तव म जान-बूझकर की गई जालसाजी हैं। उसकी दि रिफार्म ग्राफ कन्फ्यूशियस नामक पुस्तक ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कन्फ्यूशियस द्वारा लिखे गए पुरान ग्रन्थ वास्तव म प्राचीन ग्रन्थ नहीं हैं ग्रौर न उसके द्वारा सम्पादित हैं, बल्कि उसने ग्रपनी शिक्षाग्रों को जो उस जमाने म क्रान्तिकारी थीं, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि प्रदान करने के लिए य बातें स्वयं गढ़ ली थीं।[1] एसे हरेक धर्म ग्रन्थ म, जो ईश्वरीय ज्ञान बताया जाता है ऐसी बहुत सी चीज़े है जिनके

१ रिचर्ड विल्हेल्म दि सोल ग्राफ चाइना ग्रंग्रेजी ग्रनुवाद (१६२८) पृष्ठ ७७।

बारे में वैज्ञानिक आलोचना और ऐतिहासिक ज्ञान का तकाज़ा है कि हम उ
अस्वीकार कर दें और वास्तव में इस बात का कोई तर्क-संगत कारण नहीं है।
हमें उन्हें स्वीकार करना ही चाहिए। सत्य किसी भी इलहाम से बड़ी चीज़ है।

६. आस्तिक्वाद के पक्ष में प्रमाण

ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में दिये जाने वाले सब तथाकथित प्रमाण दोषपूर्ण हैं, बशर्ते कि प्रमाण से हमारा अभिप्राय ऐसे सबूत हों जो किसी भी विवेकशील व्यक्ति के लिए उसी प्रकार विश्वसनीय हों जिस प्रकार गणित के तर्क वाक्य के प्रमाण होते हैं। दार्शनिक तर्क एक सर्वथा पूर्ण सत्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना से प्रारम्भ होता है। ऐसी सर्वथा पूर्ण सत्ता अस्तित्वमय होनी चाहिए, क्योंकि अस्तित्वहीन होने का अर्थ है अपूर्णता और उस अस्तित्वहीन अपूर्ण सत्ता से अधिक पूर्ण सत्ता की जो विद्यमान (अस्तित्वमय) हो, कल्पना की जा सकती है। किन्तु यह तर्क वाक्य उस मूल सिद्धान्त के विरुद्ध है जिससे कि तर्क प्रारम्भ हुआ था। इसलिए ईश्वर का अस्तित्व है। कान्ट का कहना है कि सत्ता अच्छाई या बुद्धिमत्ता-जैसा गुण नहीं है, इसलिए वह हमारे मन में किसी भी विचार की सकल्पना के साथ सलिप्त नहीं हो सकती। बहुत-सी चीज़ें ऐसी हैं जिनका अस्तित्व केवल हमारी कल्पना में ही है। हमारे मन में एक पूर्ण वृत्त की कल्पना है, किन्तु उसका अर्थ यह नहीं कि पूर्ण वृत्त-जैसी वस्तु का वास्तव में अस्तित्व है। ईश्वर का विचार भी इसका अपवाद नहीं है। ईश्वर का अस्तित्व उसकी कल्पना से सिद्ध नहीं किया जा सकता।

कार्य-कारण सम्बन्ध का तर्क भी इससे अधिक सन्तोषजनक नहीं है। यह तर्क कुछ ऐसी धारणाओं के आधार पर चलता है जो तर्क के आगे नहीं टिक सकती—ये धारणाएँ है (१) कार्य-कारण सम्बन्ध का सिद्धान्त प्रमाण सिद्ध है, (२) यह सिद्धान्त विश्व के भागों पर ही नहीं, समग्र विश्व पर भी लागू होता है, (३) विश्व का एक आदि-कारण माना जा सकता है, जो कि कार्य-कारण सम्बन्ध के सिद्धान्त के विपरीत होने के कारण एक अपवाद है और (४) वह आदि-कारण ईश्वर है। कार्य-कारण की एक अनन्त शृङ्खला की कल्पना करना असम्भव नहीं है। यदि कार्य-कारण सम्बन्ध का अर्थ यह माना जाए कि जिस वस्तु की हम कल्पना कर सकते हैं उसका अस्तित्व अनिवार्य है तो सारा तर्क ही प्रमाणापेक्ष हो जाता है। हम यह मान लेते हैं कि विश्व की रचना की गई है और फिर यह तर्क करते हैं कि

-उसका कोई रचयिता होना चाहिए। यदि ईश्वर को हम अनादि अनन्त और अनिवार्य मानते हैं तो स्वयं विश्व को भी अनादि, अनन्त और अनिवार्य मानना सम्भव है। इसके अतिरिक्त, कार्य-कारण सम्बन्ध प्रकृति की घटनाओं से सम्बद्ध है और हम उसके द्वारा प्रकृति से बाहर सब वस्तुओं के मूल स्रष्टा तक नहीं जा सकते। यह विश्व जिसे हम जानते हैं एक सापेक्ष और काल्पनिक तथ्य है। यह भी कल्पना की जा सकती है कि विश्व जैसी कोई चीज़ है हो नहीं और है भी तो सिर्फ तर्कहीन और सर्वथा आकस्मिक संयोग जन्य है। इसलिए यह कल्पना भी की जा सकती है कि ईश्वर जैसी कोई चीज नहीं है। अधिक से अधिक कार्य कारण सम्बन्ध के नियम की खातिर ईश्वर एक काल्पनिक सत्ता है। किन्तु धर्म में जो ईश्वर है वह निरपेक्ष पूर्ण सत्ता है वह किसी भी अर्थ में काल्पनिक नहीं है। हम यह पहले ही देख चुके हैं कि नैतिक तर्क इसलिए नहीं टिक पाता कि नैतिक भावना के विकास को एक प्राकृतिक चुनाव की प्रक्रिया से सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है।

सोद्देश्यता की युक्ति भी जीव विज्ञान सम्बन्धी विकास के सिद्धान्त के गहरे प्रभाव से दोषपूर्ण हो गई है। मानवीय जीवन की सोद्देश्यता का प्रश्न असंगत है। प्रश्न यह है कि क्या मानव-जीवन का ही कोई उद्देश्य क्या है अन्य प्राणियों के जीवन का कोई उद्देश्य क्या नहीं है? यह प्रतीत नहीं होता कि ब्रह्माण्ड का कोई निश्चित उद्देश्य है और उसकी पूर्ति के लिए वह प्रयत्न कर रहा है। उत्पन्न होना, जीना, मर जाना और फिर नए सिर से पैदा होना—यही प्रक्रिया तब तक चलती रहेगी जब तक कि सब कुछ इस प्रकार नष्ट नहीं हो जाता जैसे कोई भी कार्य पूर्ण नहीं हुआ,—यह है ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया, उसकी नियति। यदि यह मान भी लें कि विश्व किन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति में लगा हुआ है तो भी उससे हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि कोई-न-कोई उद्देश्य निर्धारक मन भी होना चाहिए। हम फिर विश्व के एक प्राकृतिकवादी दृष्टिकोण की ओर लौट आते हैं, जिसमें इन बातों पर बल दिया गया है कि यह संसार एक यन्त्र है और यन्त्रवत् उसके कार्य निर्धारित हैं, मानव उसमें अत्यन्त नगण्य है, वैयक्तिक नैतिकता सर्वथा असंगत है, व्यक्ति स्वतन्त्र नहीं है और नैतिक पैमाने समष्टि द्वारा निर्धारित होते हैं और जिसमें अनुनियात्मक भावना के प्रति उदासीनता दिखायी गई है। जहाँ बुद्धिमान और मनीषी लोग धर्म के आधार पर ही सन्देह प्रकट करते हैं और धार्मिक वृत्ति के लोगों के लिए धर्म से कोई बड़ी आशाएँ

लगाना कठिन बना देते है, वहाँ आदर्शवादी उनके नियामक मूल्य और उप-योगिता पर आपत्ति करते है।

७. धर्म की व्यावहारिक अनुपयोगिता .

धर्म, यह मानकर कि एक पूर्ण ईश्वर ब्रह्माण्ड का शासक है, नैतिक प्रयत्न के लिए उत्साह नष्ट कर देता है। प्लेटो की दृष्टि में पुण्य या अच्छाई, सत्य और वास्तविक है, आकाश मे सूर्य की भाँति सदा चमकती रहती है। मनुष्य जोकि अपनी अज्ञानता से अँधेरी गुफा के भीतर रहता है और अपनी मूर्खता और स्वार्थ की जजीरो मे जकड़ा रहता है, अपने निज के आवेशो और वासनाओं के प्रकाश मे गुफा की दूरतम दीवारो पर पडने वाली परछाइयो को ही वास्तविकता समझ लेता है, वह यह नहीं जानता कि अच्छाई और सत्कार्य-जैसी भी कोई चीज है जो समस्त प्रकाश और जीवन का उत्स है। यदि उसकी आँखे खोल दी जाएँ तो वह वास्तविक सत्य को देख सकेगा। उसे अपने मन मे विद्यमान सन्देहों और अपनी गलतियों की छायाओं के सिवाय और किसी से सघर्ष नही करना। जो होना चाहिए वह पहले से ही है। हेगेल का कहना है, "अनन्त उद्देश्य की प्राप्ति इसी बात मे है कि हम उस भ्रम को दूर कर दें जो हमे यह आभासित कराता है कि वह उद्देश्य पूर्ण नही हुआ। अच्छाई, निरपेक्ष और पूर्ण अच्छाई अनादि काल मे विश्व मे अपने-आपको सार्थक और साकार करती चली आ रही है और इसका परिणाम यह है कि उसे हमारी प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नही है,-बल्कि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनो रूपो मे वह साकार हो गई है।"[1] धर्म वह है जोकि विद्यमान है, न कि जो होना चाहिए, जैसा कि वैरन फॉन ह्यूगेल ने बहुधा कहा है। धर्म का सम्बन्ध उन वस्तुओ मे है जो वस्तुत हमारे चारो ओर के परिवेश मे हमे आवृत करके विद्यमान है या हमारे भीतर प्रवेश कर रही है और यदि हम उसे पहचान लें तो हम बच जाते है। धर्म जो-कुछ विद्यमान है उसकी उपलब्धि पर बल देता है, न कि अविद्यमान की उपलब्धि पर। अच्छाई की उपलब्धि भविष्य की आवश्यकता नही है बल्कि एक सार्वकालिक और आवश्यक वास्तविकता है। इस प्रकार धर्म को सृजनात्मकता के बजाय आस्था और भक्ति का रूप हमें उस ससार के, जिसमे हम रहते है, कष्टो के प्रति सहिष्णु बना देता है। अनादि-अनन्तता को काल से पृथक् कर और आध्यात्मिक सिद्धि को पार्थिव जीवन

१. वैलेस की पुस्तक 'लॉजिक ऑफ हेगेल', अंग्रेजी अनुवाद (१८९२), पृ० ३५१-३५२।

से अलग कर हम उस एकमात्र अनादि-अनन्तता को नष्ट कर देते हैं, जिसे हम जानते हैं अर्थात् गहन जीवन की अनादि-अनन्तता।

मुक्ति का अर्थ, आम तौर पर, दूसरे लोक में जाना किया जाता है, न कि इसी पृथ्वी पर ईश्वर के राज्य का निर्माण। धर्म का अर्थ जितना संसार से भागना किया जाता है, उतना संसार को पाना या संसार में विचरण करना नहीं।

धर्म हमसे कहता है कि हम ईश्वर की वस्तुओं को सीज़र (अर्थात् राजा या संसार) की वस्तुओं से अलग रखें। उसके (धर्म के) सिद्धान्तों को सांसारिक व्यवस्था में, मानव के स्वार्थपूर्ण आवेग के उन्मुक्त मेल में, हस्तक्षेप नहीं करने देना चाहिए। यदि एक ओर धर्म हमसे भ्रातृत्वपूर्ण प्रेम को अपनाने, बल-प्रयोग से बचने और धन-सम्पत्ति की उपेक्षा करने के लिए कहता है तो दूसरी ओर ऐसा लगता है कि धार्मिक लोग युद्ध, विजय और उपयोगिता पर बल देते रहे हैं। दोनों में समझ-बूझकर किये गए इस पार्थक्य का अर्थ सांसारिक और पारलौकिक यानी दुनियादारी और धर्म दोनों को ही नीचे गिराना है। धर्म किन्हीं कट्टर सिद्धान्तों का अनुपालन या कर्मकाण्डों का आडम्बर नहीं है, बल्कि वह ऐसा प्रेम है, जिसमें मनुष्य आत्म-बलिदान कर देता है, वह ऐसी शक्ति है जो दूसरे को कारागार में बन्द नहीं करती, कारा-मुक्त करती है। जो लोग यह कहते हैं कि हम ईसा मसीह का राष्ट्र नहीं हैं और उसके उदाहरण का अनुकरण करने और अपनी स्थल-सेनाओं को विघटित और अपनी नौ-सेनाओं को खत्म कर शहीद बनने की हमें आवश्यकता नहीं है जो यह कहते हैं कि धर्म व्यवहार में लाने की चीज नहीं है, वे वास्तव में धर्म का ऐकान्तिक विनाश करने में सहायता देते हैं।

धर्म की गहराइयों में हमेशा जीवन के प्रति एक नकारात्मक दृष्टिकोण रहता है—एक त्याग और उत्सर्ग का दृष्टिकोण, जिसमें प्राणों का उत्सर्ग भी शामिल है। हमें बताया जाता है कि महान् देवताओं ने—जिनकी संख्या काफी है और जो विश्व के सभी भागों के हैं—हम लोगों के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग किया है और फिर हमसे कहा जाता है कि हम उनके लिए प्राणों का बलिदान करें।[1] 'क्या तू यह नहीं जानता कि हममें से इतने अधिक लोगों ने, जिन्होंने ईसा मसीह के धर्म की दीक्षा ली, उसकी मृत्यु के कारण ईसाई धर्म स्वीकार किया।' सन्त पाल के गृहस्थ-जीवन सम्बन्धी ये प्रसिद्ध कठोर वचन 'कि मैं चाहता हूँ कि सभी लोग मेरे ही जैसे होते' अर्थात् ब्रह्मचारी और अविवाहित होते, अन्य धर्म-

१. सर जेम्स फ्रेज़र : दि डाइंग गॉड (१९१२)।

ग्रन्थों में भी पाए जाते हैं। संसार के सभी देशों के धार्मिक सन्त और पैगम्बर मानो ईश्वर की इस बात के लिए भर्त्सना करते हैं कि क्यों उसने हमारे खून को इतना गरम बनाया, क्यों हममें विषय-वासना पैदा की, क्यों नहीं हम सबको यौनवासनाहीन, नपुंसक और नस्त्रीक, हाड-मासहीन भूत-प्रेत बना दिया। वे मानवीय प्रकृति को एक कुत्सित वस्तु समझते हैं, जिसे काट-छाँटकर ऐसा विकृत कर देना चाहिए कि ईश्वर की आँखों में वह खटके नहीं। धार्मिक व्यक्तियों ने अपने भीतर दुःखी होने और आत्मपीडन करने की नैसर्गिक वृत्ति अनुचित रूप से विकसित कर ली है। जान पड़ता है उनमें पाप के लिए नये उपादान ढूँढने की एक विकृत दक्षता है।[1] धर्म का यह आदेश कि 'तुम त्याग कर दो' आज के इस नये आदेश के सर्वथा विपरीत है कि 'तुम उपभोग करो' जिस पर कि हमारे आज के छोटे-बड़े सभी पैगम्बर सहमत हैं।[2]

धर्म यह मानकर चलता है कि मनुष्य को आवश्यक सत्य का पूर्ण ज्ञान दे दिया गया है और अब इससे अधिक जिज्ञासा और अनुसन्धान की आवश्यकता नहीं है। वह ऐसी भ्रान्ति मनुष्य के मन में पैदा कर देता है जैसी कि टर्टलियन के मन में उस समय पैदा हो गई थी जब कि उसने अभिमान से कहा था कि एक ईसाई धर्म को मानने वाला मैकेनिक भी बुद्धिमान-से-बुद्धिमान दार्शनिकों से

[1] बर्ट्रेण्ड रसेल का कहना है, 'जो गुण मनुष्य को सुखी बनाते हैं वे उस मनुष्य में उतने ही कम होते हैं जिसमें धार्मिक विश्वास जितना अधिक होता है।' श्री बुट को उद्धृत 'लिटरेरी गाइड', मार्च, १९२९ में।

[2] जीवन के सम्बन्ध में नया रवैया अगस्त, १९१४ में ब्रिटिश एसोसिएशन में दिये गए प्रोफेसर बेटसन के अध्यक्षीय भाषण के निम्नलिखित उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है 'मनुष्य को अभी अभी यह प्रतीति होने लगी है कि वह क्या है—वह वास्तव में एक ऐसा दीर्घायु प्राणी है जिसमें आनन्द के उपभोग की बहुत बड़ी शक्तियाँ हैं, बशर्ते कि वह जान-बूझकर उनका परित्याग न करे। अभी तक अन्धविश्वास और पाप के सम्बन्ध में मिथ्या पौराणिक कल्पनाएँ मुख्यतः इन शक्तियों को नियन्त्रित करती रही हैं। सब कुछ त्यागकर कष्ट सहन को धर्म मानने की भावना का कभी अन्त नहीं होगा, क्योंकि इस प्रकार की कल्पनाओं का इलाज ज्ञान से नहीं हो सकता, किन्तु उनका रूप बदल सकता है। और यह प्रसन्नता की बात है कि कष्ट सहन और इन्द्रिय-साधना के रूप में रहस्यवाद का प्रभाव आधुनिक संसार पर धीरे धीरे क्षीण हो रहा है। जीवन और मृत्यु के सम्बन्ध में फिर से एक अधिक स्वतन्त्र—और आप चाहें तो उसे अधिक सीधी-सादी भी कह सकते हैं—अवधारणा बनाकर आने वाली पीढ़ियाँ जीवन का अपने पूर्वजों की अपेक्षा अधिक उपभोग करने के लिए दृढ़ संकल्प हैं।

वि द्ध करने वाली पहेलियों का उत्तर दे सकता है। धर्म जिज्ञासा और आलोचना से घबराता है। ज्ञान का भय तभी से चला आ रहा है जबकि आदम और हव्वा अदन के बगीचे में रहते थे। प्रामीथियस को जिसने ज्ञान को चुराकर लोगों के सम्मुख प्रकट करने का साहस किया था एक चट्टान के साथ जंजीर से जकड़ दिया गया था। फाउस्ट की कहानी इस व्यापक विश्वास की साक्षी है कि ज्ञान लोगों और अंधकार की शक्तियों में एका है। जब हम यह मान लेते हैं कि हमने समस्त मानवता के लिए और सदा के लिए समस्त आध्यात्मिक ज्ञान का आदि और अन्त पा लिया है तब स्वभावतः हम यह भी मान लेते हैं कि यह हमारा कर्तव्य है कि हम उन शास्त्रास्त्रों की शक्ति या उससे भी अधिक सूक्ष्म उपायों से दूसरों पर लादें। धर्म के नाम पर नर नारियों को इसलिए मौत के घाट उतार दिया गया कि वे यह विश्वास करते थे कि मानव देह में दुष्ट आत्मा का वास है या इसलिए कि वे इसाई अंतवाद के रहस्य को गलत समझते थे। धर्मशास्त्रों को अपौरुषेय नहीं मानते थे या इसी प्रकार के अन्य कट्टर सिद्धान्तों में भोलेपन से अविश्वास करते थे। धर्म को अन्तिम रूप से सत्य या पूर्ण मानने के दुराग्रह का ही यह परिणाम था कि प्राचीन काल में अनेक सन्तों को न्याय के नाम में मृत्युदण्ड दिया गया। धर्म कठमुल्लापन को जीवन की पवित्रता के भी ऊपर प्रतिष्ठित कर देता है।

आर्थिक और राजनीतिक ताकतें जहाँ लोगों को परस्पर निकट ला रही हैं वहाँ धर्म लोगों को विभाजित करने और एक-दूसरे को शत्रु बनाने वाली आन्तरिक दीवारों को कायम रखने का भरसक यत्न कर रहे हैं। हिन्दुओं की दृष्टि में बौद्ध नास्तिक हैं उसी तरह जैसे अनीश्वरवादी रोमनों की दृष्टि में प्रारम्भिक इसाई नास्तिक थे। वैधानिक लोग किसी को एकनिष्ठ समझने के बजाय नास्तिक जल्दी समझ लेते हैं। धर्म लोगों के मन में एक भारी घृणा के लिए गहरा प्रेम पैदा कर देता है। हर धर्म में अपने पोप, धर्म युद्ध, अन्धविश्वास और काफिरों को चुन चुनकर नष्ट करने की प्रवृत्ति होती है। ढोंग के पंत और मत वही हैं सिर्फ उनके नाम भिन्न भिन्न होते हैं। एक धर्म में जिस बात को अस्वीकार करने के कारण लोगों की निन्दा की जाती है दूसरे धर्म में उसी को स्वीकार करने के कारण दूसरे लोग निन्दा के पात्र बनते हैं। धर्म में आस्था ऐसा मालूम होता है, समस्त नैतिक विवेक और संवेदनशील मानवीयता को नष्ट कर देता है। धार्मिक आस्था अन्य धर्मों को विनाश करने के लिए उतारू हो जाती है

समाज के कल्याण या विश्व-शान्ति की खातिर नहीं, बल्कि इसलिए कि इस प्रकार का काम सम्बद्ध व्यक्ति के अपने ईर्ष्यालु देवता को प्रिय लगता है। पूजा जितनी श्रद्धापूर्ण होती है, नामों का अत्याचार भी उतना ही बड़ा प्रतीत होता है। एक साघातिक तर्क द्वारा यह मान लिया जाता है कि ईर्ष्यालु देवता ने उन सब लोगों के विनाश का विधान कर दिया है, जो उसे दूसरे नामों से पूजते हैं। यह विचार कि ईश्वर ने अपने-आपको किसी एक पैगम्बर, जैसे बुद्ध, ईसा या मुहम्मद, पर ही अभिव्यक्त किया है और दूसरों को या तो ईश्वरीय ज्ञान उसी पैगम्बर से प्राप्त करना होगा अन्यथा उनका आध्यात्मिक विनाश हो जाएगा, पुराने जमाने का विचार नहीं है।[1] एक धर्म का दूसरे धर्मों से बढ़कर कोई शत्रु नहीं है। हमने धर्म के प्रति भी एक प्रकार की देश-भक्ति की-सी भावना बना डाली है जिसमें धर्म का अपना अलग विधान है, अपनी ध्वजा है और अन्य धर्मों के विधान और ध्वजा के प्रति विद्वेष भी है। जिन स्वतन्त्र विचारकों को ईश्वर की प्रिय विशिष्ट जातियों और विशिष्ट पैगम्बरों के सिद्धान्त का खण्डन करने और ईश्वर के सम्बन्ध में विचार-स्वातन्त्र्य का प्रतिपादन करने का साहस होता है, उनसे जाति-बहिष्कृतों का-सा व्यवहार किया जाता है। इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि कभी-कभी समझदार व्यक्ति भी यह समझने लगते हैं कि धार्मिक मद, अहंकार और घृणा से मुक्ति पाने का एकमात्र उपाय है धर्म का ही परित्याग कर देना। वे सोचते हैं कि यदि संसार से सब धर्मों को निर्वासित कर दिया जाए तो वह सही अर्थों में अधिक धार्मिक हो जाएगा।[2]

८. धर्म और राजनीति :

आधुनिक सभ्यता का राजनीतिक पक्ष ग्रीक लोगों के नगर राज्य का है

१. लन्दन के बिशप ने १९२४ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'हाई एम आई ए क्रिश्चियन?' में कहा है : "बेतुलहम के उस शिशु (ईसा) ने हमारे हाथ में एक ज्योति थमा दी थी और संसार में वही एकमात्र ज्योति है। मैं यह बात कह सकता हूं क्योंकि मैं सारे संसार में घूमा हूँ और मैंने निकट से संसार के अन्य धर्मों को देखा है। वास्तव में ही उनके पास ऐसी कोई ज्योति नहीं है जो उनका पथ आलोकित कर सके।"

२. स्ट्रिण्डबर्ग के एक नाटक में एक नर्स, जो बड़ी कट्टर ईसाई है, एक नास्तिक बैरन को ईसाई बनाने की चेष्टा करती है। वह उससे ईश्वर के प्रेम के बारे में बातें करती है। वह उसे उत्तर देता है : 'यह विचित्र बात है कि तुम जैसे ही ईश्वर और प्रेम की बातें करती हो, तुम्हारी आवाज कठोर हो जाती है और तुम्हारी आँखें घृणा से भर जाती हैं।'

रूपान्तर है। ग्रीक लोगों की विचारधारा के मूल्य चाहे कितने ही अतुलनीय रहे हों, उसमें राजनीति और धर्म, सार्वजनिक कर्तव्य और व्यक्तिगत पूर्णता के भेद बिलकुल स्पष्ट नहीं थे। उनके लिए एथेन्स और एथीन (देवी सरस्वती) और बाद में सीज़र और ईश्वर पर्यायवाची थे। वे व्यक्ति की सबसे अधिक भलाई राज्य की सत्ता में ही समझते थे। ग्रीक विचारकों ने अच्छे आदमी और अच्छे नागरिक में भेद करने का प्रयत्न किया और राज्य को नैतिक बुनियाद पर प्रतिष्ठित करने के लिए संघर्ष किया। किन्तु उन्होंने यह भली भाँति महसूस नहीं किया कि व्यक्तिगत आत्मा के भी कुछ दावे और आकांक्षाएँ हैं और इस प्रकार उन्होंने चर्च (धर्म) और राज्य को एक कर दिया। यह सच है कि सुकरात को अपने अन्तःकरण की आज्ञा का पालन करने के कारण ही मौत का शिकार बनना पड़ा और अरस्तू ने भी यह माना कि नगर राज्य की चिन्ताओं से दूर आन्तरिक जीवन में सिर्फ कुछ विशेष प्रिय व्यक्तियों को ही प्रवेश करने का अधिकार है। किन्तु ये सब बातें इस महान् परम्परागत उक्ति के सामने फीकी पड़ जाती हैं कि जो व्यक्ति नागरिक जीवन में भाग नहीं लेता वह या तो देवता है या पशु। जब ग्रीक लोगों की परम्पराएँ पूर्व के शत्रु से भी प्रेम करने, धन-सम्पत्ति से घृणा करने, भविष्य की चिन्ता न करने और इहलोक के बजाय परलोक की अधिक चिन्ता करने के आदर्शों के साथ मिलकर गड़बड़ा गईं तो एक ऐसा व्यामोह पैदा हो गया जो अभी तक दूर नहीं हो सका।

धर्म आज राजकरण की ही शाखा है, राजनीति का एक खिलौना है। हमारी पूजा की भावना देवताओं से हटकर अपने देश पर केन्द्रित हो जाती है जो हममें से बहुतों के लिए एक पवित्र धार्मिक चिह्न है, जिसके अपने विश्वास हैं, अपने कर्मकाण्ड हैं और जो हमसे त्याग और बलिदानमय जीवन की आशा करता है। पिछले युद्ध ने इस बात का एक सुस्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया है कि देशभक्ति के अधिक प्रबल तकाज़ों की तुलना में धर्म के दावे कितने कमजोर हैं।[1]

[1] कभी कभी यह कहा जाता है कि धर्म ने मध्ययुग को राष्ट्रवाद के अभिशाप से बचा लिया था। किन्तु डा० कल्टन के इन शब्दों की ओर ध्यान दीजिए 'बारहवीं सदी में नवस्थापित पेरिस विश्वविद्यालय का पहला काम अपने छात्रों को उसी प्रकार राष्ट्रों के हिसाब से बाँट देना था जैसा कि बोलोना विश्वविद्यालय पहले कर चुका था। आक्सफ़ाड में भी राष्ट्रवाद कुछ कम अभिशाप नहीं था। उसने एक अंग्रेज को यूरोपीय महाद्वीप के निवासी से ही अलग नहीं किया बल्कि उसे ट्रेंट के उत्तर या दक्षिण में उत्पन्न अंग्रेज से भी बल्कि स्वयं मध्यप्रान्तवासी से भी अलग किया। डा० रैशडाल का यह अनुमान

करने वाले वेतनभोगी प्रचारक, हजारों अवैतनिक कार्यकर्ता और लाखों अन्य सदस्य होते, तो वह धार्मिक नेताओं को लज्जा से सिर न उठाने देता क्योंकि वह एक छोर से दूसरे छोर तक संसार को गरीबी और बीमारी, युद्ध और अपराध एवं अत्याचार अथवा किसी भी प्रकार के शोषण के विरुद्ध संघर्ष के साहसिक सुसन्देश से गुंजा देता। हम उसकी इस ऊँची आशावादिता से सहमत हों या न हों, और भले ही हम उसके सुधार के कठोर उपायों को पसन्द न करें, किन्तु हम उसके इस आरोप के वजनदार होने से इनकार नहीं कर सकते कि संगठित धर्म अपने समस्त वास्तविक और सम्भावित साधनों के बावजूद असफल रहा है। अगर फिर भी लोग उसे सहन करते रहे हैं तो इसका कारण उनका अज्ञान और उदासीनता है और अब हमारे लिए और अधिक अज्ञान या उदासीन बने रहना सम्भव नहीं है।[1]

इस युग में सत्य का वह सजीव अर्थ नहीं रहा जो पहले किसी समय था। जिस भावना ने दैवी अधिकारों और राजनीति में मान्यता-प्राप्त अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह किया था, जिसने सामाजिक कुरीतियों और परम्परागत रूढ़ियों के अनौचित्य के विरुद्ध आवाज उठाई थी, जिसने रोमन कैथोलिक ईसाई धर्म में सुधार के सोलहवीं सदी के आन्दोलन (रिफर्मेशन) में अपने-आपको इस माँग के रूप में अभिव्यक्त किया था कि धर्म-ग्रन्थों और उसके कर्मकाण्डों का ठीक-ठीक अर्थ निश्चित किया जाना चाहिए, जिसने पुनर्जागरण (रिनैसान्स) के दिनों में आधुनिक यूरोप को ग्रीक मनीषियों की स्वतन्त्र जिज्ञासा और बौद्धिक अनुसन्धान की वृत्ति और रोमन लोगों की न्याय और औचित्य की व्यावहारिक बुद्धि प्रदान की, उसी भावना के फलस्वरूप आज यह माँग की जा रही है कि विज्ञान और सामाजिक आदर्शवाद का प्रसार किया जाए। इनमें वह सत्य निहित है जो किसी सन्दिग्ध धर्मग्रन्थ या भ्रान्त मानवीय प्रामाण्य की अपेक्षा नहीं करता, किन्तु जिसे देखने समझने की बौद्धिक शक्ति और निर्णय करने के लिए आवश्यक ईमानदारी से युक्त सभी लोग स्वीकार करेंगे। आनन्दमय और सुखी जीवन तो ज्ञान और विज्ञान द्वारा ही सम्भव है।

[1] धर्म का, विशेषकर ईसाई जगत् की वर्तमान प्रवृत्तियों और भविष्य की सम्भावनाओं के विश्लेषण के लिए जोड का 'दि प्रेजेण्ट एण्ड फ्यूचर ऑफ रिलिजन' (१९३०) पुस्तक देखिए।

९. सार्वत्रिक अशान्ति :

आज जो विभ्रम, व्यामोह और अव्यवस्था हम देख रहे हैं वह यूरोप और अमेरिका तक ही सीमित नहीं है। यद्यपि पूर्व और पश्चिम में बुनियादी अन्तर है, तो भी एक आश्चर्य की बात अवश्य है कि दोनों की जनता के सांस्कृतिक जीवनों में एक असाधारण एकता है। टर्की राष्ट्र की उन्नति और प्रगति के लिए इस्लाम की ओर अपनी पीठ मोड़ रहा है।¹ टर्की के बारे में जो बात सही है वही न्यूनाधिक अन्य मुस्लिम राज्यों—ईरान, मिस्र और अफगानिस्तान के बारे में भी सही है। भारत और चीन में भी अनेक सन्ततियों के धैर्य और परिश्रम से निर्मित किये गए धर्म के समादरणीय ढांचों पर हर ओर से प्रहार हो रहा है। धर्म को हमारी बौद्धिक और राष्ट्रीय गुलामी, हमारी असफलता और शक्ति एवं ओजस्विता के अभाव का कारण बताया जा रहा है। भारत के बहुत से नेताओं का यह विश्वास है कि सनातन और पुराणपन्थी धर्म के कारण ही जो आज भी हमारे देश के अधिकतर लोगों का धर्म है, हमें बहुत अधिक संघर्ष करना और कष्ट उठाना पड़ रहा है, इसी के कारण हमारे मानवीय व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो गया है और हमारी आध्यात्मिक वृद्धि विकृत हो गई है। जब हम ऐसे लोगों को, जिनकी धार्मिकता असन्दिग्ध है, सामान्य बुद्धि, वैज्ञानिक ज्ञान और मानवता की पुकार एवं न्याय के तकाजों के विरोध में खड़ा देखते हैं, क्योंकि वे उन धार्मिक नियमों का, जिनकी अभ्रान्तता काल्पनिक है उल्लंघन नहीं कर सकते, तो हमारे नेता धर्म से ऊब जाते हैं और सोचने लगते हैं कि अब धर्म को छुट्टी दे देने का वक्त आ गया है। देश को आज पाप से मुक्ति की उतनी आवश्यकता नहीं है, जितनी कि सामाजिक सुधार की, जो भूखों, नंगों और बेघर लोगों को एक ऐसे सुव्यवस्थित परिवारों के स्वतन्त्र समाज में परिणत कर दे जो विलासपूर्ण जीवन नहीं बल्कि भयंकर और अस्वस्थ्य प्रतिस्पर्धा से रहित साधारण आराम की ज़िन्दगी बसर कर सकें। स्वतन्त्रता का नारा आज समाज को संगठित करने वाली पुकार है। यह अनिवार्य है कि स्वाधीनता की चुनौती कुछ पुरानी वफादारियों का गला घोंटे और प्राचीन धार्मिक चिह्नों, कर्मकांडों और आडम्बरों में निहित आदरणीय सौन्दर्य को बिना विचारे जल्दी में तिरस्कृत कर दे। किन्तु

१ मुस्तफा कमाल ने १९२७ की पतझड़ में टर्की की पीपल्स पार्टी के एक सम्मेलन में भाषण करते हुए कहा था, 'संविधान में टर्की को मुस्लिम राज्य घोषित करने की जो व्यवस्था है, वह एक ऐसी व्यवस्था है जिसे सबसे पहला मौका मिलते ही खत्म करना होगा।'

आखिर स्वतन्त्रता भी तो अपनी कीमत मांगती है।

१०. वर्तमान आवश्यकता :

यह स्पष्ट है कि वर्तमान अशान्ति का जितना बड़ा कारण धर्म की नैतिक प्रभावहीनता और उत्तम जीवन को समुन्नत करने मे उसकी असफलता है, उतना ही बडा कारण परम्परागत विश्वासो पर निरन्तर पड रहा नये ज्ञान का दबाव भी है। कुछ छिछोरे बुद्धिवादी ऐसे भी है जो धर्म का उपहास करना फैशन का अग समझते हैं। उनकी दृष्टि मे धर्म की फिक्र करना पुराना दकियानूसीपन है और उसकी आलोचना करना आधुनिकता और प्रगतिशीलता है। एक लोकतन्त्रीय देश के पढे-लिखे लोग, जो अवश्य ही पूर्णत शिक्षित नही है, जब परम्परागत नियन्त्रण के औचित्य को समझ नही पाते तो उसे ठुकरा देना अपना कर्तव्य मानने लगते है। सशयवादिता के लिए कोई बडी कीमत नही चुकानी पडती, वह निहायत सस्ती है। आज तो हिम्मत और साहस की जरूरत विश्वास के लिए है। धर्म को अस्वीकार करने वाले इन लोगो के अलावा ऐसे लोगो की भी काफी बडी सख्या है जो धार्मिक विश्वास मे ऊपर उठ चुके है, फिर भी उससे नाता तोडने मे इसलिए घबराते हैं कि कही धर्म का पाखण्ड करने वाले उनके शत्रु न हो जाएँ। हमारी चिन्ता का विषय वे लोग है जो धर्म पर विश्वास करना चाहते हैं किन्तु कर नही पाते। उनकी आत्माएँ अधिक सवेदनशील हो गई हैं, इसलिए उनकी कठिनाइयाँ भी अधिक है और उनके प्रश्न और सन्देह भी अधिक अचल है। उनके सन्देह एक प्रकार मे उनकी आन्तरिक आस्था की अभिव्यक्ति है और उनके विरोध एक प्रकार की वफादारी। मानवीय आत्मा की गहराइयो मे एक ऐसी वस्तु रहती है जिसे हम सत्य की खोज, न्याय की माँग और सदाचरण की उत्कण्ठा कह सकते है। सत्य और न्याय की खोज का यह प्रयत्न हमारे जीवन का एक अनिवार्य अंग है। हमे यह बताने के लिए कि ज्ञान की साधना हमारा कर्तव्य है और केवल ज्ञान प्राप्ति के क्षेत्र मे ही अति करने की अनुमति है, हमे किसी अरस्तू की आवश्यकता नही है। मानवीय आत्मा की दासता के बजाय हमारे मन की विक्षुब्धता के कारण उत्पन्न अव्यवस्था कही अधिक वर्णनीय है। इतिहास मे यह पहला मौका नही है जबकि यह अनुभव किया जा रहा है कि वर्तमान युग सशान्ति का युग है और धर्म तर्क की कसौटी पर टिक नही सकता। ऐसा कहा जाता है—हालांकि मैं उसकी सत्यता की कोई गारटी नही कर सकता—

कि अदन के बगीचे के द्वार से बाहर निकलते हुए आदम और हव्वा ने सबसे पहले ये शब्द कहे थे — हम संक्रान्ति के काल में से गुज़र रहे हैं। हरेक युग संक्रान्ति का युग है। प्रगति संघर्ष और विभ्रम के बीच में गुज़रकर ही होती है। यह प्रगति होती है मानवीय व्यवहार के स्तर में भी नीचे स्तर पर, और उसकी आकांक्षा उदित होती है मानवीय स्तर पर। मनुष्य की भावना उसकी कूच की दिशा को बदल सकती है। किसी क्षण विशेष के लिए आवश्यक वस्तु का किसी ऐसे उपाय का, जो हमें नयी परिस्थिति के साथ अपना समन्वय करने में सहायता दे, आविष्कार कर लेना भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि ठीक समय पर पुरानी वस्तु को ऐसा एकमात्र नया रूप दिया जाना, जो बदलती हुई परिस्थितियों में अपनाया जा सके। एक ऐसे समय में जबकि मानव समाज एक ऐसी स्थिति में से उभरकर आ रहा है जिसमें कि उसे दूसरे अधिकारी व्यक्तियों को प्रामाणिक मानकर उन्हीं की बातों पर चलना पड़ता है और एक ऐसी स्थिति में प्रवेश कर रहा है जिसमें वह पूर्णतः स्वयं अपने निर्णय कर सकता है, हमें सर्जनात्मक प्रतिभा वाले लोगों की सहायता की आवश्यकता है। अपनी हमारी भटकती हुई पीढ़ी को अपने लक्ष्य निर्धारित करने के लिए पैग़म्बरों की ज़रूरत है, प्रचारकों की नहीं। मौलिक प्रतिभा और चिन्तन वालों की आवश्यकता है, विरासत में पाया हुई परम्पराओं की मशीनों की तरह नकल करने वालों की नहीं। पैग़म्बर होना अन्तर्दृष्टि में युक्त होना है, कल्पना शक्ति में समृद्ध होना है, भविष्य के अनुभव को पहले से जान लेना है। यह वर्तमान को इतनी पूर्णता के साथ देखता है कि उसके द्वारा भविष्य को पहले से ही देखा जा सके।

२. धर्म के विकल्प

जिन लोगों के मन धार्मिक सन्देहों से आक्रान्त हैं वे वर्तमान अनिश्चय और व्यामोह की स्थिति में से निकलने के लिए अनेक उपाय निकाल रहे हैं। नेताओं से कोई निश्चित दिशा न मिलने के कारण वे बड़े भद्दे और आश्चर्यजनक मतों का अवलम्बन कर रहे हैं। वे थियोसफी, एन्थ्रोपोसफी, क्रिश्चियन साइंस, न्यू थॉट या इसी प्रकार की मानवीय मन की नयी कसरतों में ऐसा विकल्प ढूंढ रहे हैं, जो धर्म का स्थान ले सके। किन्तु अधिक विवेकी लोग धर्म के इन भावुकतापूर्ण विकल्पों से सन्तुष्ट नहीं हैं और वे ऐकान्तिक (कट्टरतापूर्ण) अस्वीकृति से लेकर ऐकान्तिक स्वीकृति तक अनेक प्रकार के रचनात्मक सुझाव देते हैं।

१. प्राकृतिकवादी नास्तिकवाद :

ल्युक्रेशियस के, जो यह मानता था कि यह विश्व परमाणुओं से बना है जो अनादि-अनन्त नियम के अनुसार शून्य में विचरण करते रहते हैं और बिलकुल अचेतन और उदासीन हैं, आज भी बहुत से अनुयायी हैं।[1] स्थूल भौतिकवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया की बात को खूब अतिरंजित कर कहने का कोई लाभ नहीं है। आज भी भौतिकवाद ही ऐसा विश्वास है जिसकी ओर अधिकतर विचारशील लोग झुकते हैं और जो बहुत से लोग विज्ञान की विजयों से चमत्कृत हो गए हैं, वे भी उसका परित्याग नहीं करते।[2] पुराने विचारों के बन्धन से मुक्त बुद्धिजीवियों की दृष्टि में—मैं उन्हें नास्तिक-भौतिकवादी कहना पसन्द नहीं करता—ब्रह्माण्ड अचेतन यान्त्रिक ऊर्जा से उत्पन्न हुआ है जिसके प्रति हमारे मन में भक्ति

1. 'धर्म के सम्बन्ध में मेरा अपना विचार वही है जो ल्युक्रेशियस का था। मैं इसे भय से उत्पन्न एक बीमारी समझता हूँ और मानव जाति के लिए अकथनीय विपत्ति का स्रोत मानता हूँ।' (बर्ट्रेंड रसेल : 'रैशनलिस्ट प्रेस एसोसियेशन एनुअल', १६३०)।
2. 'मार्डर्निज्म एण्ड ह्यूमनिज्म' विषय पर 'कण्टेम्पोरेरी रिव्यू', जुलाई, १६३१ में जुलियन हक्सले का लेख देखिए।

या पूजा का कोई भाव नहीं पैदा हो सकता। मनुष्य तत्त्वतः प्रकृति का ही एक अंग है यद्यपि उसकी यह विशेषता है कि वह सोचता है किन्तु इससे वह किसी भी प्रकार अन्य प्राणियों से बढ़कर नहीं हो जाता। वह सिर्फ जीवित प्राणियों की एक खास किस्म है और यह पर्याप्त सम्भव है कि प्रकृति उससे भी अधिक आश्चर्यजनक किस्म का प्राणी पैदा कर दे जिसमें उससे भी कहीं अधिक बड़ी शक्तियाँ हों और यह भी सम्भव है कि वह जीवन का दीप ही पूर्णतः बुझा दे। जो कुछ भी हो प्रकृति उससे बहुत अधिक विक्षुब्ध नहीं होगी। मानवीय प्राणी भी आकस्मिक संयोग के परिणाम हैं और वे शीघ्र ही ब्रह्माण्ड के उस विप्लव में जो इस ब्रह्माण्ड का नष्ट करने के लिए अवश्यम्भावी है, विलुप्त हो जायँगे। हमने विरह की वेदना और दैन्य को अपनी रगों में प्रत्यक्ष अनुभव किया है किन्तु ईश्वर का प्रेम और कृपा केवल हमारे स्वप्न ही हैं। ईसा की गेथ्समेन के बगीचे में अपने आपको दुःख और लज्जा के प्याले के पान से मुक्ति देने के लिए की गई प्रार्थना के उत्तर में जो मौन प्राप्त हुआ था हममें से ऊँचे-से ऊँचे आदमी भी विपत्ति के समय अधिक-से अधिक उसी की आशा कर सकते हैं। हम प्रकृति के पंजों की पकड़ में हैं जिसने हमसे कभी यह नहीं पूछा कि हम पैदा होना चाहते हैं या नहीं। उसने हमें विकारी देह और वेदना से परिपूर्ण हृदय दिये और हमसे यह पूछा भी नहीं कि हम उन्हें लेना चाहते हैं या नहीं। उसने हमारे अस्तित्व के लिए स्थान, परिवार और हमारे जीवन की परिस्थितियाँ स्वयं चुनीं और उनको जानने के लिए हमें अपने आप पर छोड़ दिया, फिर भी यदि हम अनजान के वशीभूत होकर उसके उद्देश्य में बाधा डालने लगें तो वह हमें कुचलने के लिए तैयार हो जाती है। यदि हम धर्म के सत्य की परीक्षा करें तो यह कड़ी भूत तथ्य हमारे सामने आ जाएगा। उदाहरण के लिए ईसाई धर्म में वर्णित मनुष्य की मुक्ति विशुद्ध कल्पना है। मानव जो अपने निज के अज्ञपन और प्रकृति की व्यवस्था का शिकार है, मुक्त नहीं किया जा सकता। मनुष्य क्योंकि इस सत्य का सामना नहीं कर सकता, इसलिए वह लापरवाह अव्यवस्था से परे एक दैवीय शक्ति की कल्पना करता है जो दयार्द्र और कृपालु होकर उसे मुक्ति प्रदान करती है। ठीक ठीक कहा जाए तो हम मुक्ति नहीं मिल सकती और न हम उसके अधिकारी ही हैं। ल्युक्रेशियस की सी भावना से बर्ट्रेंड रसल हमें यह प्रेरणा देता है कि हम धर्म द्वारा दी जाने वाली मनोहारी सान्त्वनाओं, आश्वासनों और महत्त्व शक्ति की भयंकर कल्पनाओं को जिन्होंने मनुष्यों को अपनों और दूसरों

की हत्या करने के लिए उत्तेजित किया, परित्याग कर दे। उनका कहना है कि मनुष्य के भावी धर्म के दो अंग होंगे—एक होगा केवल आदर्श के रूप में कल्पित आदर्श की पूजा और दूसरा होगा केवल वास्तविक और विद्यमान के रूप में वास्तविक सत्ता की पूजा। पहले अंग में पूजा का लक्ष्य अच्छा अवश्य है, किन्तु वह विद्यमान नहीं है और दूसरे में पूजा का लक्ष्य विद्यमान अवश्य है, परन्तु उसका अच्छा होना जरूरी नहीं है।[1] हमें संसार को उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए जिस रूप में वह विद्यमान है और उससे कोई आशा नहीं करनी चाहिए। जो वास्तविक है उसमें विश्वास रखना और उसे सहन करना काल्पनिक में विचरण कर आनन्द लेने के बजाय कहीं अधिक मर्दानगी का काम है।

हम इस बात से इनकार नहीं करते कि सांसारिक सुखों के इस त्याग में, जो तुच्छ सान्त्वनाओं का आविष्कार किये बिना सत्ता, अवश्यम्भाविता या आकस्मिकता के महान् नियमों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देता है, कुछ-न-कुछ महत्ता का तत्त्व अवश्य है। किन्तु एक ऐसे ब्रह्माण्ड के प्रति, जो हमारी कोई परवाह और चिन्ता नहीं करता, महान् और पवित्र निराशा या उदासीनता की अभिवृत्ति को कायम रखना कठिन है। उदात्त सर्वसुखत्यागवाद से सर्वसुखोपभोगवाद की ओर जाना बहुत आसान है। यदि यह ब्रह्माण्ड एक विशाल यन्त्र है, जो मानव-जगत् की आशाओं और आकांक्षाओं की परवाह किये बिना चलता रहता है, और यदि ब्रह्माण्ड के परिप्रेक्ष्य में देखने से मानव एक आकस्मिक संयोग के सिवाय कुछ नहीं है, तो जीवन से प्राप्त होने वाले थोड़े-से दुर्लभ और क्षणिक सुखों से अपने-आपको वंचित रखकर हम मानवीय दुःखों में और वृद्धि क्यों करें? सांसारिक सुखों के त्याग का सिद्धान्त (स्टोइसिज्म) मनुष्य को जिन शुभ फलों की आशा प्रदान करता है वे बहुत साधारण हैं और इस सिद्धान्त की शिक्षाओं पर आचरण करना भी आसान नहीं है, इसलिए वह बहुत बड़ी संख्या में लोगों को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकता, जब कि सुखोपभोगवाद (नियो-पैगनिज्म) के, जो जीवन के मुख्य प्रलोभनों को उचित सिद्ध करता और प्रोत्साहित करता है, अनुयायियों की संख्या बहुत बड़ी है। किन्तु स्टोइसिज्म और नियो-पैगनिज्म दोनों ही जीवन में हमारा विश्वास और श्रद्धा खंडित हो जाने पर जीवन से बचने के उपाय-मात्र हैं। जीवन की कम-से-कम एक अच्छी बात, जैसा कि सेनेका ने कहा है, यह है जहाँ इसमें प्रवेश का केवल एक ही मार्ग है वहाँ इसमें

१. 'दि इसेन्स आफ रिलिजन', हर्बर्ट जनल, अक्तूबर, १६१२।

निकलने के मार्ग अनेक हैं और मनुष्य उसमें बाहर निकलने के लिए समय और तरीका अपनी इच्छानुसार चुन सकता है।[1] कारामाजोव के शब्दों में ज्योंही हम यह महसूस करें कि जीवन की मेज अब किसी काम की नहीं रही, हम अपना प्रवेश का टिकट ईश्वर के हवाले करके वापस जा सकते हैं। जीवन से निकलकर अन्धकार में जाने पर वहाँ हम किसी निराशा का सामना नहीं करना पड़ेगा। निराशावाद एक आश्चर्यजनक रूप में शक्तिशालीवाद है और इसका अत्यधिक प्रचलन इस बात का द्योतक है कि हम निराशा से पीड़ित हैं। जब डायोजानिस ने यह अनुभव किया कि मेसिडोनियनों के शासन में ग्रीक लोगों की सब स्वतन्त्रता नष्ट हो गई है तो उसने अपने देशवासियों को चेतावनी दी कि वे भय, आकांक्षा और सम्पत्ति, सब कुछ त्याग दें, क्योंकि तब जीवन को निर्दयपूर्ण चोट हम निराश नहीं कर सकती।

कभी कभी यह कहा जाता है कि कला और उच्च चिन्तन धर्म का विकल्प हो सकते हैं। रहस्य हम यह प्रेरणा देता है कि इससे पूर्व कि हम पर मृत्यु का प्रहार हो ऊँचे ऊँचे विचारों का चिंतन करो जो हमारे इस लघु जीवन को महान् बनाते हैं। भारत में युद्ध के जमाने में और यूरोप में पगनिज्म के दिनों में जबकि पुरानी मान्यताओं और पुराने धार्मिक विश्वासों पर प्रहार हो रहा था लोग दार्शनिक चिन्तन में वह सान्त्वना प्राप्त करते थे जो पुरातन परम्परागत धर्म उन्हें नहीं दे सकता था। यदि निःस्वार्थ और निष्काम चिन्तन हम पर यह प्रकट कर दे कि जीवन कितनी कुत्सित और जुगुप्सित वस्तु है तो हम कम से कम अपने ध्येय का कुछ स्वप्न तो ले सकते हैं और अपने अन्तर में एक ऐसा मन्दिर बना सकते हैं जहाँ हम उस ध्येय (आदर्श) की पूजा कर सकें। इस प्रकार हम अपनी अपूर्ण आशाओं की काल्पनिक पूर्ति कर सकते हैं और अपनी कल्पना में वे भमिकाएँ अदा कर सकते हैं जिन्हें हम वास्तविक जीवन में अदा नहीं कर सके। कला एक प्रकार का मानसिक आत्म विलास, एक ऐसा मनोविनोद हो जाती है जो वास्तविकता के अप्रिय और कटु स्वाद से मुक्ति प्रदान करता है। हमारे जमाने के आधुनिक बुद्धिजीवी भद्रवर्ग के लोग एक ऐसे मत के अनुयायी हैं जो इदा

[1] एपिक्टेटस ने अपने शिष्यों से कहा था कि याद रखो बाहर जाने का द्वार तो आखिर खुला हुआ है। खेल में लगे बच्चों की भाँति जब हम खेल से ऊब जाएँ तो हम तत्क्षण उस खेल को खत्म करने का निश्चय कर सकते हैं, और जब यहाँ से वापस हमारे पास है तब उस स्थान पर भी ज्यादा रहना और शिकायत शिकवा करते रहना उचित नहीं है।

सीनतावाद (न्यूटलिज्म), सुखत्यागवाद (स्टोइसिज्म), सुखोपभोगवाद (पैगनिज्म) और निराशावाद (पैसिमिज्म) के विभिन्न विचारों का सम्मिश्रण है।

किन्तु यह मिश्रित सर्वसुखत्याग—सुखोपभोगवाद धर्म का कमजोर विकल्प है। यदि हम जीवन और ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में अपने पुराने विश्वास को फिर से प्राप्त नहीं कर सके, तो हम जीवित नहीं रह सकेंगे। यह सत्य है कि हमें उन *असत्यों के, जो हमारे मन को अपाग कर देते हैं, आवेशहीन भ्रम-निवारण का* विरोध करना चाहिए। तर्क और बुद्धि-सगतता आवश्यक है, किन्तु यदि विघटन को रोकना है तो धर्म की भी आवश्यकता है। यह हो सकता है कि धर्म विशुद्ध काल्पनिक आधारों पर स्थित न हो, किन्तु धर्म के सम्बन्ध में केवल तर्क का आश्रय लेना भी पर्याप्त नहीं है। हमें इन दोनों के बीच में सन्तुलन और विवेक भी कायम करना है। जीवन के प्रति निष्ठा और वफादारी का तकाजा है कि हम सृजनकारी रहस्यमय शक्ति को जानें और अपनी शक्ति के अनुसार उसकी सेवा करें। यदि हम यह अनुभव करते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में हमारी कोई आवश्यकता नहीं है, तो हम अपने इस आन्तरिक द्वन्द्व को अपने परिवार के प्रति आसक्ति या नागरिक कर्तव्यों से ढकने का प्रयत्न कर सकते हैं, किन्तु आत्मा का एकान्त एकाकीपन कारागार की निपट तनहाई से भी खराब चीज है। मानवीय आत्मा के अकेलेपन की अनुभूति, विराट अज्ञेय जगत् में उसका विचित्र एकाकीपन उस सप्राण लय को खण्डित कर देता है जो विश्व को थामे हुए है। जो लोग पुराने भ्रमों और मोह को तोड़ने की बातें करते हैं वे हमें सत्य के सन्धान, सौन्दर्य के सृजन और शिव की प्राप्ति के उपदेश देते हैं। किन्तु यदि हमें यह विश्वास हो जाए कि हम एक ऐसे विश्व में, जो हमारे प्रति शत्रुतापूर्ण नहीं तो कम-से-कम उदासीन अवश्य है, मात्र एक आकस्मिक सयोग हैं तो हम उन आदर्शों के लिए कभी प्रयत्न नहीं करेंगे। यदि विश्व विद्वेषपूर्ण है तो हमें उसका प्रतिरोध करना चाहिए।

यह प्रश्न करना अवश्य ही उचित है कि इन अच्छे कामों को करने के लिए प्रेरणा कहाँ से मिलती है। यदि सत्य, शिव और सुन्दर की साधना एक ब्रह्माण्ड-व्यापी योजना का अग है तो निश्चय ही वह हमारे प्रति अमैत्रीपूर्ण नहीं है। रसेल ने यह स्वीकार किया है 'यह एक विचित्र रहस्य है कि सर्वशक्ति-सम्पन्न किन्तु अन्धी प्रकृति ने देश के विराट् शून्य अन्धकूप में तीव्र गति से चक्कर लगाते हुए अन्ततः एक ऐसे शिशु को जन्म दिया है जिसे उसकी शक्ति में ही शक्ति प्राप्त होती है फिर भी जिसे अच्छे और बुरे की पहचान और ज्ञान की देन

न य-सम्बन्धी धारणाएँ, हमारे सौन्दय-सम्बन्धी बोध और हमारे प्रेम के अनुभव इस बात के प्रमाण हैं कि हम मात्र भौतिक शक्तियों की उपज नही है। जो लोग मूल्यों की रक्षा का प्रबल प्रतिपादन करते हैं उनके हृदय मे यह क्षीण-सी आशा रहती है कि शायद अन्तत मनुष्य विशाल भौतिक और आर्थिक आवश्यकताओं का शिकार नही है, उनके दैनिक व्यवहार से बँधा और उनके सघर्षो मे फँसा हुआ नही है। वह एक नाटक मे अभिनेता है जो नियति को विवश और घटनाओं की अनिवार्यता को नियन्त्रित कर सकता है। वह मानव, जो विश्व के मनमानेपन मे पराजित होकर भी अप्रभावित रहता है, अपनी नैसर्गिक प्रतिष्ठा और प्रकृति से श्रेष्ठता का उद्घोष करता है।

विश्व के सम्बन्ध मे निर्णय अनजाने मे यह मानकर दिया जाता है कि मानव का आनन्द ही जीवन का लक्ष्य है। अहकार जब तक एक सीमा मे रहता है, तब तक तो वह युक्तियुक्त है, किन्तु जब वह मनुष्य मे अपने-आपको बहुत बडा समझने, ब्रह्माण्ड का एक स्वयम्भू निर्णायक मानने की आदत पैदा कर देता है तब वह अत्यन्त भ्रामक हो जाता है। विश्व के विरुद्ध जब हम शिकायत और असन्तोष प्रकट करते है तब हम सत्य का अनुसन्धान नही करते, और साथ ही हममे विश्व की व्यापक उदारता भी नही होती। यदि हम जीवन को उसकी किसी भी प्रवृत्ति की उपेक्षा या अतिरजना किये बिना यथार्थ रूप मे देखे तो हम यह देखेंगे कि यह विराट् गति हमारे किसी निजी लाभ के लिए कार्यरत नही है। इसका अपना एक विशाल उद्देश्य है जिसकी पूर्ति के लिए वह प्रयत्नशील है और जिसकी तुलना मे हमारे उच्चतम उद्देश्य भी अत्यन्त तुच्छ हैं।

ससार कोई मनोरजन का उद्यान नही है, बल्कि वेदना और कष्टो से भरा हुआ है, यह विचार कोई नयी खोज नही है। धर्म के पैगम्बर इस सत्य को स्वीकार करते हैं और ससार मे व्याप्त दु खो का कारण अविद्या, अज्ञान या आदम और हव्वा का प्रारम्भिक पाप (ओरिजिनल सिन) बताते है और कहते है कि सारी मानव जाति उससे किसी-न-किसी रूप मे लिप्त है। उनके कहने का आशय यह भी होता है कि मानवीय व्यक्तित्व का ठीक उपयोग करके सुख प्राप्त किया जा सकता है।

कारामोजोव' में लिखा है, 'आश्चर्यजनक और विस्मयकारी बात यह नहीं है कि ईश्वर अस्तित्व है, बल्कि आश्चर्यजनक बात यह है कि इस प्रकार का विचार, ईश्वर की आवश्यकता का विचार, मानव जैसे बर्बर और दुष्ट प्रकृति प्राणी के मस्तिष्क में पैदा हुआ। यह विचार कितना पवित्र है, कितना प्रभावोत्पादक है, कितना बुद्धिमत्तापूर्ण है और मनुष्य के लिए कितने बड़े श्रेय का कारण है।"

किन्तु सुख का अर्थ शारीरिक सुख नहीं है। उसका अर्थ है अपनी आत्मा के साथ एकत्व और तल्लीनता स्थापित करना, जीवन के प्रति एक भावात्मक अभिवृत्ति को पनपना और आत्मा में वास करने वाली शान्ति प्राप्त करना। प्रकृति हर वस्तु और हर प्राणी जाति (स्पीशी) को अपने ही ढंग पर पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न करती है। इस प्रक्रिया में पीड़ा और दुःख हो सकता है किन्तु यदि हम समझदार हैं तो हम सब उस प्रसन्नता के साथ स्वीकार करेंगे और अपनी-अपनी वास्तविक प्रकृति के पूर्ण विकास के लिए उद्योग करेंगे। जब कोई मनुष्य सुख ताहता है, किन्तु दुःख से बचता है तब वह नीचे स्तर पर उतर आता है। सत्य के अनुसन्धान और शिव के लिए प्रयत्न में कष्ट और दुःख तो अनिवार्य हैं यहाँ तक कि शरीर का अन्त भी हो सकता है, फिर भी वे आत्मा की महत्ता में जो वास्तविक आनन्द और सुख है, योग दे सकते हैं।

आखिरकार यह ब्रह्माण्ड एकाकी और प्रेम का भूखा प्रतीत नहीं होता। जो लोग जीवन के कठोर संघर्ष में लगे हैं वे भी एक दूसरे के दुःख और कष्ट के आदर के आधार पर एक साथीपन की भावना विकसित कर सकते हैं। दुःखों के भोग में साथीपन दुःखों के भार को भी हल्का करता है।

रसेल ने कहा है कि भय सभी धर्मों का उद्गम स्रोत है। इसका अर्थ इतना ही है कि मनुष्य और उसके इर्द गिर्द का संसार एक दूसरे को समझते नहीं हैं। जीवन को समझने का अर्थ है विचारों की एकता में उसे समग्र रूप में ग्रहण करना। आदिम युग का मानव प्रकृति के साथ सप्राण आत्म चेतनाहीन ऐक्य स्थापित करके रहता था। जब उसकी आलोचनात्मक प्रतिभा का विकास होता है तो मानव और शेष सत्ता में एक प्रकार का द्वैत पैदा हो जाता है। यह द्वैत ही भय का कारण है। धर्म इस भय का निवारण करके और मनुष्य एवं प्रकृति के बीच की विलुप्त एकता को, समस्त विश्व के साथ ऐक्य की भावना को पुनः उद्बुद्ध करके हमें अभय प्रदान करता है। प्रकृतिवाद हमें सत्य को स्वीकार करने और वास्तविकता का आदर करने की प्रेरणा देता है, किन्तु यदि मनुष्य और प्रकृति के बीच में खाई रहे तो हम वैसा नहीं कर सकते। धर्म प्रकृति की दुनिया और मूल्यों की दुनिया के बीच अभिन्न आंगिक सम्बन्ध पर बल देकर हमें अपने पार्थक्य और अनित्यता से मुक्त करता है। इसलिए वह हमें बुद्धि से भी अधिक गहराई तक ले जाता है और मानव और प्रकृति में पहले से विद्यमान सप्राण सम्बन्ध को पुनः प्रतिष्ठित करता है।

नास्तिकवाद का सम्बन्ध बुद्धि से है। जब हम अपने जीवन की अन्तरतम गुहा में प्रवेश करते हैं तो हम चाहे-अनचाहे ब्रह्माण्ड को स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाते हैं। नास्तिकवाद जीवन की अन्त्य नैसर्गिक वृत्ति के विपरीत है। जीवन एक अच्छी चीज़ है और हमें उसका अच्छे-से-अच्छा उपयोग करना है, यह एक विश्वास की वस्तु है, एक ऐसी चरम अनुभूति है जिसका विश्लेषण नहीं किया जा सकता और न ही उसके लिए कोई कारण दिया जा सकता है। नास्तिकवाद, चाहे वह किसी भी प्रकार का हो, मन की ऊपरी सतह पर रहता है। जीवन उससे अधिक आनन्दमय और रहस्यपूर्ण है जितनी कि हमारी बुद्धियाँ कल्पना कर सकती हैं। रसेल का दर्शन मनुष्य की असफलता सिद्ध नहीं करता, बल्कि सिर्फ यह सिद्ध करता है कि जिस सत्य का स्पन्दन हम अपनी स्नायुओं में अनुभव करते हैं, बुद्धि उसको समझने के लिए असमर्थ और अपर्याप्त है। जो नैसर्गिक प्राणि-वृत्ति मनुष्य को जीने और विश्व को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करती है वह उसमें इस तर्कमय और विवेकपूर्ण विश्वास का रूप धारण कर लेती है कि हमारे चारों ओर की प्रकृति विश्वसनीय है और वह हमारे प्रयत्नों के अनुसार कार्य करेगी।

रसेल और उसके अनुयायी एक अतिप्रकृत संसार की कल्पना के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि यदि वह वास्तविक है, केवल काल्पनिक नहीं है, तो उसका उस संसार के साथ जिसमें हम रहते हैं, सक्रिय सम्बन्ध होना चाहिए। प्राकृतिक और अतिप्रकृत संसार में निकट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए चमत्कारों, अवतारों और स्वर्गारोहण आदि की कल्पना करनी पड़ती है। यदि दोनों संसार निश्चित नियमों के अनुसार एक-दूसरे से बँधे हैं तो हमें वास्तविक सत्ता को दो परस्पर विपरीत शिविरों, प्राकृतिक और अतिप्रकृत, में बाँटने की क्या आवश्यकता है। तब यह सारी प्रकृति ही है, हमें प्रकृति शब्द का व्यवहार केवल उन स्पष्ट तथ्यों और शक्तियों के लिए ही नहीं करना चाहिए जिन्हें हमारा अपूर्ण विज्ञान जान सकता है। प्राकृतिक और अतिप्रकृत ये दोनों वास्तविक यथार्थ के ही दो भेद हैं, वे ऐसे दो पृथक्-पृथक् संसारों के नाम नहीं हैं जिनमें से एक को हम जानते हैं और दूसरे को नहीं जानते। यदि अतिप्रकृत प्राकृतिक का विरोधी है तो कभी-कभी हम भूल से अव्यवस्थित और अनियमबद्ध को अतिप्रकृत और व्यवस्थित और नियमबद्ध को प्रकृत नाम दे देते हैं। अतिप्रकृत संसार उस अर्थ में आकस्मिक नवीनताओं और पहले से अज्ञेय संयोगों से भरा हुआ है। विज्ञान इस प्रकार के

अतिप्रकृत संसार को स्वीकार नहीं करता। किन्तु अतिप्रकृत का सही रूप इससे भिन्न है। प्रकृति की एक अपनी व्यवस्था है। अतिप्रकृत भी प्रकृत ही है, किन्तु सच्चे अर्थों में अपने गहरे और अनन्त रूप में। वह प्रकृति से कोई भिन्न वस्तु नहीं है।

२ अज्ञेयवाद :

अज्ञेयवाद भी ईश्वर की रहस्यात्मकता को स्वीकार करता है और उसका मत है कि हम न तो ईश्वर को जानते हैं और न जान सकते हैं। जो हमसे अतीत है वह हमारी चिन्ता का विषय नहीं है। एक प्राचीन अन्योक्ति में जीवन की एक पक्षी से उपमा दी गई है जो अन्धकार से एक प्रकाशित कोठरी में घुसता है कुछ समय तक वहाँ पंख फड़फड़ाने के बाद फिर अन्धकार में लुप्त हो जाता है। हम यह नहीं जानते कि विश्व का आदि क्या है और हम यह भी नहीं जानते कि उसका अन्त क्या है, हम केवल उसके मध्य को ही जानते हैं। तब हम उसके लिए चिन्तित क्यों हों?[1] यदि ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया का कोई उद्देश्य हो भी, तो भी हम यह नहीं जान सकते कि वह क्या है। अज्ञेयवादी इस बात से इन्कार नहीं करता कि इस दृश्यमान प्रपंच के पीछे एक वास्तविक सत्ता है। यदि वह इन्कार करता है तो वह अज्ञेयवादी नहीं है क्योंकि तब वह यह जानता है कि हम समस्त वास्तविकता को जानते हैं। दूसरी ओर यदि वह यह कहे कि इस दृश्यमान प्रपंचात्मक जगत् के पीछे भी कुछ है, भले ही हम उसके स्वरूप को नहीं जान सकते, तो यह भी अज्ञेयवाद के साथ संगत नहीं है, क्योंकि उस दशा में वह यह जानता है कि कुछ चीज ऐसी भी है जिसके स्वरूप को हम कभी नहीं जान सकते। हम यह बात निश्चित रूप से नहीं जान सकते कि जिसके बारे में हम स्वीकारात्मक रूप से यह जानते हैं कि वह अज्ञेय है, उसके सम्बन्ध में हम अधिक नहीं जान सकते। अज्ञानी होना मनुष्य का कोई विशेष सौभाग्य या अधिकार नहीं है, किन्तु यह जानना कि वह अज्ञानी है, उसका विशेष सौभाग्य और अधिकार है। इस सौभाग्य और विशेषाधिकार का अन्तर्निहित अर्थ है ज्ञान की एक आदर्श स्थिति, जो मनुष्य के ज्ञान और अज्ञान दोनों की सीमा नियत कर देती है। इसके अतिरिक्त, लोगों से वास्तविक और यथार्थ की खोज का परित्याग करने के लिए कहना व्यर्थ है।

३ सन्देहवाद

विभिन्न प्रकार के दार्शनिक विचारो के प्रभाव से कुछ लोग कभी-कभी सन्देहवादी हो जाते है। उन्हें सभी दार्शनिक विचार दिलचस्प प्रतीत होते हैं और वे इतने सुसंस्कृत होते है कि उनके अपने कोई विचार नहीं होते। उनके लिए कोई भी चीज़ गम्भीर नही होती—न कला, न दर्शन, न राजनीति, न धर्म। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि इस विश्व का कोई उद्देश्य या प्रयोजन नही है क्योंकि जो बहुत से छोटे-छोटे उद्देश्य हम खोज निकालते है, वे परस्पर इतने विरोधी होते हैं कि हम ससार को समग्र रूप मे उद्देश्यहीन मान सकते हैं। इसलिए उनकी दृष्टि मे समझदारी यही है कि विभ्रान्त होकर भी इस सामान्य आशा मे आगे चलते जाएँ कि अन्त अच्छा ही होगा, किन्तु किसी खास वस्तु म न तो कोई उम्मीद करें और न उसमे बहुत विश्वास ही रखे।

सन्देहवाद सक्रान्तिकाल मे सबसे अधिक पनपता है। जब ग्रीक सस्कृति और नैतिकता का एक व्यापकतर सभ्यता के सस्पर्श से विघटन हो रहा था, तभी वितार्किक (सोफिस्ट) लोग उभर आए। भारत मे बुद्ध और शकर के ज़मानो मे सन्देहवाद के लिए सबसे अनुकूल अवसर था।

सन्देहवाद मनुष्य के मन मे ऐसी भावना पैदा करता है कि वह ससार मे बिलकुल एकाकी है और ससार उसके लिए बिलकुल निरर्थक है। किन्तु निरन्तर सन्देहवादी रहना एक असम्भव अभिवृत्ति है। ह्यूम हमे बताता है कि किस प्रकार उसने जीवन को कुछ दूरी से अध्ययन करके सन्देहवादिता से मुक्ति पा ली। यद्यपि यह आशा की जाती है कि सन्देहवादी ज्ञान की सम्भावना पर भी सन्देह करेगा, किन्तु वास्तव म वह अपने निज के विचारो की सत्यता पर विश्वास करता है। एक ऐसी सन्देहवादिता, जो अपने प्रति पूर्णत गम्भीर है, केवल सन्देहवादी नही रह सकती। वह कम-से-कम सन्देही और सन्देह दोनो के अस्तित्व को तो स्वीकार करती है। वह सन्देह करती है, क्योंकि उसमे एक निश्चितता का आदर्श है। एक प्रणाली (विधि) के रूप मे सन्देहवाद एक चीज है और एक दार्शनिक विचारधारा के रूप मे दूसरी। ससार के प्रख्यात सन्देहवादियो ने उसे एक प्रणाली के रूप मे अपनाया था। देकार्त सन्देहवाद के द्वारा ही कट्टर सिद्धान्तो पर पहुँचा। सन्देहवादी ह्यूम ने भी ज्ञान पर आपत्ति नही की। बालफोर ने 'दार्शनिक सन्देह' का यह कहकर समर्थन किया कि वह 'विश्वास की नीव' है। रसैल को भी विज्ञान

की प्रणाली पर विश्वास है।[1] ऐसा सन्देहवादी मिलना मुश्किल है जिसके अपने कोई विश्वास न हों। प्रोटेस्टेंटवाद ईसाई धर्म की प्राचीन रूढ़ियों के विरोध के रूप में पैदा हुआ था, किन्तु उसकी परिणति अन्त में एक धर्म के रूप में हुई। आज ऐसे लोग बहुत बड़ी संख्या में हैं जो ईश्वर का अस्तित्व तो स्वीकार नहीं करते किन्तु भूत प्रेतों से छुटकारा भी नहीं पा सकते। किसी वस्तु का निषेध नितान्त निषेध ही नहीं। हम एक वस्तु के अस्तित्व से इन्कार इसलिए करते हैं क्योंकि हम किसी ऐसी अन्य वस्तु में विश्वास रखते हैं जिसके साथ उसकी संगति नहीं बैठती। हम किसी वस्तु के ज्ञान को आमतौर किसी अन्य वस्तु की तुलना में ही समझते हैं, जिसके बारे में हमारी यह धारणा होती है कि हमें उसका ठीक ज्ञान है। आमतौर पर सन्देहवादी की अपनी पीढ़ी के विश्वासों के विरुद्ध संघर्ष रहता है। सन्देहवाद का कार्य कट्टर सिद्धान्तवाद की अपेक्षा से (सापेक्ष) होता है जिसकी वह आलोचना करता है।[2] किन्तु सन्देहवाद मानवीय चिन्तन की अन्तिम गति नहीं हो सकता। यदि पुराना विश्वास असम्भव हो गया है तो उसके स्थान पर नया विश्वास खोजा जाना चाहिए। सन्देहवादी एक ऐसी जीवन पद्धति की खोज में रहता है जो अनुसरण के योग्य हो। वह एक ऐसे विश्वास की तलाश करता है जो ईमानदारी के साथ अपनाया जा सकता है, वह एक ऐसी समाज-व्यवस्था का आविष्कार करना चाहता है जिसमें हम आश्रय ले सकें। सन्देह का गहरा होना आध्यात्मिकता की वृद्धि का चिह्न है।

४ मानवीयवाद

जिसे हम कभी कभी मानवीयवाद (ह्यूमनिज्म) कहते हैं उसका रुख अधिक भावात्मक और सकारी होता है। उसका विश्वास यह है कि यदि हम

1 रसेल की पुस्तक 'स्कैप्टिकल एसेज' (१९२८) में इस बात पर बहुत आग्रहपूर्वक बल दिया गया है कि मानवीय जीवन की समस्याओं पर हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए।

2 जब सुकरात पर नास्तिकता का आरोप लगाया गया तो उसने कहा था: "मैं भी यह विश्वास करता हूँ कि देवता हैं और उससे भी ऊँचे अर्थ में, जिसमें कि मुझ पर आरोप लगाने वाले करते हैं।" बुद्ध अपने जमाने के लोगों द्वारा माने जाने वाले देवताओं से भिन्न देवताओं में विश्वास करता था। जिन देवताओं में हम विश्वास रखते हैं उनकी मूर्तियों को तोड़ने का अर्थ हमेशा नास्तिकता नहीं होता, वह ईश्वर की एक उच्च धारणा की घोषणा होता है।

उचित कार्य करने के लिए उद्यत है तो इसमें कुछ आता-जाता नहीं कि वास्तविक सत्ता के अन्तिम स्वरूप के बारे में हमारे क्या विचार हैं। धार्मिक सिद्धान्त महज अटकलबाजी हो सकते हैं। हम निश्चित रूप से नहीं जान सकते कि सत्य क्या है, या कोई भी वस्तु सत्य हो भी सकती है या नहीं। किन्तु जीवन तो कम-से कम एक निश्चित वस्तु है ही, इसलिए हम जीवन को सुधारने में ही अपने-आपको लगा देना चाहिए। मानवीयवाद एक ओर प्रकृतिवाद के विरुद्ध है और दूसरी ओर धर्म के। उसकी दृष्टि में मनुष्य की आत्मा प्रकृति की चीज नहीं है और न ही वह ईश्वर की कृति है। यदि मनुष्य पूर्णतः प्रकृति की ही उपज हो तो मूल्यों और आदर्शों के प्रति उसकी आस्था की किसी भी तरह व्याख्या नहीं की जा सकती। मानवीयवाद की मान्यता है कि यह संसार ही हमारी मुख्य दिलचस्पी का विषय है और मानवीयता की पूर्णता हमारा एक आदर्श है, जबकि धर्म की ये मान्यताएं नहीं है। मानवीयवाद का ध्येय है सभी व्यक्तियों में एक दूसरे के साथ अन्ततः मधुर और सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना। जैसा कि रायस ने कहा है, विशाल समाज के प्रति वफादारी हमारा सबसे बड़ा कर्तव्य है। मानवीयवादी की उन सब धार्मिक निषेधों के साथ कोई सहानुभूति नहीं है जो हमारी रगों का खून सुखा देते हैं। नैतिकता निरर्थक आत्मविनाश नहीं है। धर्म अत्यधिक तपस्या और कृच्छ्र साधना को प्रोत्साहित करता है किन्तु मानवीयवाद सन्तुलन और विवेक में विश्वास रखता है। यह ग्रीक लोगों की समस्वरता और रोमनों की शिष्टता की भावना पर आधृत है।

मानवीयवाद को यथेच्छवाद समझना भूल होगा। वह यह स्वीकार नहीं करता कि सभी प्रकार के विचार सिर्फ इसलिए समान रूप से वैध या उचित नहीं हैं क्योंकि उनका अस्तित्व है। हमारी सामासिक आत्मा (कम्पोज़िट सैल्फ) को, जो विभिन्न तत्त्वों का एक अस्थिर संग्रह है, एक पूर्ण एवं सन्तुलित समग्र अवयवी के रूप में विकसित करने की आवश्यकता है। किन्तु स्थिति यह है कि कुछ प्रवृत्तियों को पूर्णतः खुलकर खेलने का अवसर नहीं दिया जा सकता, क्योंकि जब उन्हें खुली छूट दे दी जाती है तो आत्माभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाना आवश्यक हो जाता है। इसके अलावा, मनुष्य एक ऐसे सामाजिक परिवेश में अवस्थित है जो उसके जीवन पर अनेक सीमाएँ लगाता है। किन्तु ये सीमाएँ प्रतिबन्ध के रूप में खलती नहीं है, क्योंकि इन्हें स्वीकार कर मनुष्य बदले में शान्ति और सन्तोष प्राप्त करता है। हार्वर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर इरविंग

किसी भी अन्य अनुभव से सर्वथा भिन्न, चरम और स्वत स्पष्ट अनुभव है। कर्तव्य की भावना सभी बुद्धियुक्त प्राणियों के लिए एक ही जैसी है। नैतिक नियम के इस तकाजे का, कि हम उसका पूर्णत पालन करे, परिणाम यह होता है कि हम उन सब लोगो को, जो इस तकाजे को अनुभव करते है, समान स्वीकार करते हैं और उन सब लोगो का नैतिक उद्देश्यो का एक राज्य, एक आध्यात्मिक सहकारी शासन बन जाता है जिसमे नैतिक नियम ही सर्वोच्च और सर्वोपरि होता है। नैतिक नियम के सम्बन्ध मे काण्ट का रुख अत्यन्त धार्मिक किस्म का है, उसमे उसके प्रति एक सम्भ्रम का और अपने-आपको उसके सम्मुख तुच्छ समझने का भाव है, किन्तु वह भाव धार्मिक नही है। दृश्य तथ्यवादी (पोजिटि-विस्ट) धर्म को मानवता की सेवा मानते है। नैतिकवादी आन्दोलन मे ईश्वर और नैतिक आदर्श को समान मानने की प्रवृत्ति रहती है। एमिल दुर्खाइम का फ्रासीसी सम्प्रदाय और उसके अनुयायी धर्म को एक सामाजिक प्रपच मानते हैं।[1] आज हमारे अनेक सन्देहवादी विचारक मानवीयवाद को सामान्य बुद्धि के एक विश्वास के रूप मे स्वीकार करते हैं। जब मानव का मन जीवन के मूल स्रोत और उसके स्वरूप के बारे म निश्चय नही कर पाता तो मानवीयवाद उसे स्वभावत आकृष्ट करता है। इसका सबसे प्रबल समर्थक अमेरिका मे है, जहां वैज्ञानिक विचारो के अत्याचार मे शासित और आत्मा के यान्त्रिकीकरण से सकटग्रस्त विश्व की मुक्ति के लिए उसे एकमात्र आशा माना जाता है। अमरिकी मानवीयवाद ग्रीक, बौद्ध और कन्फ्यूशियस की परम्पराओ मे अश ग्रहण करता है।[2]

१. 'जनजाति का देवता, जिसका चिह्न धार्मिक चिह्न माना जाता है, वास्तव में जनजाति से भिन्न नही है। जनजाति का ही उक्त देवता के रूप में एक व्यक्ति का रूप दिया जाता है और एक प्राणी या वनस्पति के दृश्य आकार के रूप में उस जनजाति के सदस्यो की कल्पना के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है, जो उसके धार्मिक चिह्न का काम देता है।' (दुर्खाइम, ऐलिमेण्ट्री फार्म्स आफ रिलिजस लाइफ, अंग्रेजी अनुवाद, पृ०,२०६)। इसके अनुसार धर्म 'उच्चतम नैतिक मूल्यो की चेतना' से अधिक कुछ नहीं है। (मालिनोस्की, आफ रिलिजन एण्ड ह्यूमनिज़्म, अध्याय ८)।

२. 'यह उचित ही है कि मैं उस महान् हिन्दू दृश्य तथ्यवादी का ऋण स्वीकार करूँ। उदाहरणार्थ, एक और अनेक की समस्या की मेरी व्याख्या प्लेटो की अपेक्षा बुद्ध के अधिक निकट है।' (ह्यूमनिज़्म एण्ड रोमाण्टिसिज़्म (१९१९), पृ० २०)। प्रोफेसर पी० ई० मोर ने प्लेटो और उपनिषदों का अध्ययन किया है। उनका 'शैलबर्न ऐसेज' (१९०४-१९२८) और 'दि ग्रीक ट्रेडिशन' (१९०४-१९२८) देखिये। अमेरिकी युनिटेरियनो (एकेश्वरवादी ईसाई,

सकते जब तक कि हम आत्मा के अधिक गहरे स्रोतों से अंश ग्रहण न करें। मानव के अस्तित्व की जड़ अज्ञात और नित्य में और उसकी नियति पृथ्वी पर उसके जीवन तक ही सीमित नहीं है।[१] मानवीयवाद यह स्वीकार करता है कि वह तर्कवादी है और जीवन के उन तत्त्वों की उपेक्षा कर देता है जिनकी बौद्धिक व्याख्या नहीं की जा सकती। एक भारतीय दार्शनिक के एक बार सुकरात से भेंट करने की एक कहानी प्रसिद्ध है। एरिस्टाजीनिस के वर्णन के अनुसार सुकरात ने उक्त भारतीय अजनबी को बताया कि उसकी कृति में मानवों के जीवन का अध्ययन किया गया है। इस पर भारतीय मुस्कराया और बोला कि जो मनुष्य ईश्वरीय वस्तुओं के सम्बन्ध में नहीं जानता वह मानवीय वस्तुओं के विषय में नहीं जान सकता।

मानवीयवाद एक अनुशासनपूर्ण जीवन चाहता है और समग्रता एवं समस्वरता पर बल देता है। किन्तु वह मनुष्य के अन्दर में विद्यमान नैतिक तत्त्व और उसके प्राकृतिक भौतिक तत्त्वों को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा कर देता है। मानवीयवाद भौतिक आवेगों (इम्पल्स) और कामनाओं के उद्दाम वेग को नियन्त्रित करने की नैतिक इच्छा का सार है। यदि मानव और प्रकृति के बीच द्वैत बहुत उग्र हो तो दोनों में समंजन और समस्वरता के आदर्श की पूर्ति नहीं हो सकती। इसके अलावा यह प्रश्न उठता है कि क्या नियन्त्रणकारी इच्छा मात्र एक निषेधात्मक नियन्त्रण है या उसमें कुछ भावात्मक वस्तु भी है? यदि यह निषेधात्मक (अभावात्मक) नियन्त्रण है तो इसमें अन्तर्वस्तु कुछ नहीं है और यदि उसमें भावात्मक अन्तर्वस्तु भी है तो प्रश्न उठता है कि उसमें वह अन्तर्वस्तु आयी कहाँ से? मनुष्य के भीतर जो उच्चतर इच्छा (ईश्वरीय इच्छा) है वही उसकी अपनी भावना के साथ तदाकार हो जाती है। यदि हम एक ऐसा आध्यात्मिक केन्द्र स्वीकार न करें जो हमें मानवीय प्रकृति में विद्यमान परस्पर-विरोधी तत्त्वों के समन्वय में सहायता देता है, तो हमारे जीवन में अखण्डता और समग्रता नहीं होगी।

अरस्तू ने अपनी 'निकोमैकियन एथिक्स' में स्वर्णिम मध्य मार्ग और

[१] तुलना कीजिए अरस्तू 'हमें उन लोगों की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए जो किसी से यह कहते हैं कि वह अपने आपको मरणधर्मा समझे, बल्कि हमें यथासंभव अपने आपको अमर्त्य बनाना चाहिए और अपने अन्दर के सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त के अनुरूप जीवन को दृष्टि में रखकर सब काम करने चाहिए।' (निकोमैकियन एथिक्स, ११७७ बी)।

समन्वय का निर्धारण किया है। उसका कहना है कि जीवन का नियम यह होना चाहिए कि हर दो परस्पर-विरोधी वस्तुओं के बीच सन्तुलन स्थापित किया जाए। वह कहता है कि यदि मनुष्य धर्माचरण करेगा तो उसे पार्थिव सुखों का भी उचित हिस्सा मिलेगा। आधुनिक मानवीयवादी का दृष्टिकोण भी ऐसा ही है। यह निश्चय कर सकना आसान नहीं है कि अत्यधिक और अनियन्त्रण के बीच मध्यम स्थिति कहाँ है? आत्मसम्मान का वह कौन सा मध्य मार्ग है जो सुराही की भाँति 'जी हुजूरी' और मदोद्धत गर्व दोनों के बीच में बचकर निकल जाता है? जितेन्द्रिय योगियों की पवित्रता और भोगियों की विलासिता के बीच शिष्टजनोचित मार्ग क्या है? हिंसा कहाँ शक्ति नहीं होती? अच्छे और बुरे में अन्तर केवल मात्रा का नहीं है। स्वयं अरस्तू ने कहा है कि दो परस्पर विरोधी वस्तुओं के बीच मध्य बिन्दु को चूक जाना आसान है, किन्तु उसे ठीक ठीक पकड़ पाना कठिन है। इस सम्बन्ध में हम विशुद्ध यान्त्रिक नियम लागू नहीं कर सकते। हमें एक सजीव समायोजन का तरीका निकालना होगा, जो किसी भी विशिष्ट स्थिति में निश्चित रूप से खरा उतरे। यान्त्रिक नैतिकता और सच्चे गुण का अन्तर स्थिति की वास्तविकताओं की सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि से जाना जा सकता है। अरस्तू का कहना है कि केवल यह अनुभूति ही, कि जीवन के अस्थिर और परिवर्तनशील अनुभवों के नीचे एक स्थायी और सबको एक सूत्र में बाँधने वाली कोई वस्तु है, हमें किसी भी स्थिति में सत्य और उचित को जानने में सहायता देती है। यदि हम आध्यात्मिक राज्य को पृथ्वी पर निर्मित करना चाहते हैं तो हमें पहले इस राज्य में प्रवेश प्राप्त करना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रबुद्ध मानवीयवाद सच्चे अर्थों में आध्यात्मिक जीवन के इस तत्वतः अलौकिक स्वरूप को भूल जाता है। इसलिए जब धर्म और सामाजिक नैतिकता को एक ही बताता है तो वह न्याय नहीं करता। सभी धर्मों में एक ऐसा तत्व भी होता है जो सामाजिक जीवन से ऊपर होता है। कोई भी धर्म तब तक अपने सामाजिक कार्यों को पूरा नहीं कर सकता जब तक वह केवल सामाजिक रहेगा।

गुण या धर्म का अर्थ केवल सन्तुलन करना या अच्छा हिसाब लगाना ही नहीं है। एक प्राचीन आलोचक ने अरस्तू के बारे में कहा था कि वह 'अत्यधिक रूप से और उदार' है। वह हमें अच्छा सन्तुलित उत्साह देता है, उग्र कट्टरतापूर्ण उत्साह नहीं देता, सौम्य और सुचारुता प्रदान करता है, रचनात्मक आवेश नहीं। एक सन्तुलित मानववादी के लिए अहिंसा भी उतनी ही समाज विरोधी

और अव्यावहारिक है जितनी की अन्धाधुन्ध और अविचारपूर्ण हिंसा। उस द
में मध्य मार्ग का सम्भवतः यह नियम होगा कि हिंसा केवल दूसरे की हिंसा के ब
में की जाए। नैतिक वीरता एक ईर्ष्यालु देवता है, विवेकपूर्ण समन्वय नहीं।
सन्तों का ध्येय सत्याचरण होता है, दूसरों के आदर का पात्र बनना नहीं। उ
आवेश की, एक साहसिक व्यग्रता की आग होती है, जो जीवन की भी पर
नहीं करती। मानवीयवाद में वह अवर्णनीय और अनिर्वचनीय सस्पर्श नहीं हो
वह धर्म का उत्साह नहीं होता जो उस महान् और उच्च विश्वास को जन्म दे
सकता है, जिसकी सृजनात्मकता असीम है, जिसकी आशा अक्षय है और जि
साहसिक उद्यम उच्चकोटि के हैं। जो लोग अपनी आँखें धरती पर लगाए र
हैं, और समाज की परम्पराओं का अनुसरण करने के लिए विज्ञ पुरुषों के प
मर्श को स्वीकार करते हैं, वे मानवीय नियम के पालक हो सकते हैं, किन्
नैतिक वीर नहीं हैं। भद्र पुरुष और धार्मिक पुरुष का यही अन्तर है। एक स
ईसाई बनने से एक भद्र पुरुष बनना आसान है, धार्मिक सत्याचरण की भूख
प्यास के बजाय पर्याप्त आत्म-सम्मान और आत्म-नियन्त्रण प्राप्त करना
शिष्ट और अच्छा बनना अधिक सहज है।[1] सन्त लोग हमेशा सीमा का उल्ल
करते हैं। उनका सन्तत्व ही इसमें है कि वे सीमा के बन्धन में बँधे न रहें।
रात और ईसा दोनों ने सीमाओं का अतिक्रमण किया था। यद्यपि उन्होंने
और न्याय के प्रति अपने प्रेम के लिए जान दे दी, तो भी वे प्रतिध्वनि
प्रकाश बनकर हमेशा के लिए अमर हो गए। वे मानवों के मन को बद
हैं और मानवीय इतिहास के अँधेरे पन्नों को रोशन कर रहे हैं। अच्छाई के
वास्तविक प्रेम या उसकी आकांक्षा अपने पड़ौसी के लिए आत्म-बलिदा
लेकर अपने प्रति क्रूरता करने वालों को भी गले लगाने तक अनेक रूपों में अ
आप को अभिव्यक्त करती रहती है, किन्तु यह सब तभी सम्भव है जबकि

१. डीन इंगे ने हाल में कहा था कि 'एक पादरी से भी अगर यह कहा जाए कि उसने
ईसाई की भांति आचरण नहीं किया है तो वह ईसाइयों के अनुरूप नम्रता दि
किन्तु यदि उससे यह कहा जाए कि उसने भद्र व्यक्ति का-सा आचरण नहीं किय
वह जरा भी नम्र नहीं होगा। हो सकता है कि हम अठारहवीं सदी में की गई भ
की यह परिभाषा पसन्द न करें जो 'इस संसार के सुखों के उपभोग और अनागत
के सुखों की विश्वासपूर्ण आशा के बीच बुद्धिपूर्वक समन्वय कर सकता है, वही भ
है।' किन्तु इसके साथ चेस्टरफील्ड की इस परिभाषा की तुलना कीजिए कि शि
अर्थ है पुण्य का पाप कर्म के ठाम उपभोग के साथ उपयोगी समन्वय।

अपने व्यक्तिगत रहस्यमय अध्यात्म को सामाजिक नैतिकता के आगे बलिदान न कर दें। जो लोग सच्चे अर्थों में धार्मिक हैं व आत्मा की वास्तविक गहराई के भीतर से पोषण ग्रहण कर जीवित रहते हैं, उनकी निष्प्रयत्न उपलब्धियों का लक्ष्य केवल इस संसार को नये ढाँचे में ढालना ही नहीं होता। उनका विश्वास तत्वतः जीवन में भी ऊपर प्रतिष्ठित होता है और इसीलिए वह जीवन का कायाकल्प कर देता है।

जब तक संसार उसी स्थिति में है जिसमें कि हम आज उसे पा रहे हैं तब तक चाहे हम अपने समाज का आयोजन और संगठन कितनी भी दक्षता और निपुणता से करें और चाहे हम मानवीय सम्बन्धों को समंजन कितने ही अच्छे ढंग से क्यों न करें, हममें से कोई भी व्यक्ति भले ही वह कितना भी अच्छा हो, ताप और कष्ट से बच नहीं सकता। यदि हम किसी तरह अपने भाग्य के बल पर जीवन के सामान्य प्रकोपों से बच भी जाएँ तो भी हम मृत्यु से अपने आपको नहीं बचा सकते। हमारी देह की रचना में ही उसके विनाश और विघटन का बीज विद्यमान है। मृत्यु हमारे इस संसार में नैसर्गिक रूप से जुड़ी हुई है। क्या मानववाद मृत्यु को तुच्छ एवं नगण्य और सेवा को ही महत्त्वपूर्ण बना सकता है? हमसे यह कहना आसान है कि सहिष्णु बनो, वीर बनो और शक्तिशाली पुरुष की भाँति एकाकी ही विजय-वैजयन्ती फहराते हुए घाटी में उतर जाओ किन्तु जब हम विश्व के अर्थ के सम्बन्ध में ही पूरी तरह निश्चित और आश्वस्त नहीं हैं तब हमें इस तरह की सलाह देना निरा पागलपन है। प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' के दूसरे खण्ड में एक ऐसे मानव का उदाहरण दिया है जो सर्वथा न्याय पथ पर चल रहा है किन्तु लोग उसे गलत समझते हैं इसलिए उसे बड़े कष्ट और कठोर दंड सहन करने पड़ते हैं और न उसे इस जीवन में चैन की आशा है और न अगले जीवन में किसी पुरस्कार की। जब सुकरात से पूछा गया कि क्या ऐसा व्यक्ति, जिसे तख्ता पर खींचकर और सूली पर लटकाकर उत्पीड़ित किया गया है इन यातनाओं के बाद भी सुखी हो सकता है तो उसने उसका उत्तर स्वीकारात्मक दिया सिर्फ इसलिए कि वह केवल मानवीयवादी नहीं था बल्कि मनुष्य के अन्तर में वास करने वाले परमात्मा और विश्व की सार्थकता में विश्वास करता था। मानवीयवाद उन लोगों के लिए सान्त्वना का काम नहीं कर सकता जो निष्फल आशाओं के यातना को वेदना के साथ सहन करते हैं और जिनके मन दुःख और घृणा से भरे रहते हैं। काण्ट को ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में सबसे बड़ा

तर्क यही है कि अच्छे आदमी को पृथ्वी पर प्रायः पराजयों और असफलताओं का सामना करना पड़ता है, इसलिए हमें पुण्य कार्य और सुख की प्राप्ति के बीच समंजन करने के लिए एक अतिमानवीय शक्ति की आवश्यकता है। जब जीवन की बुनियाद हिलने लगती है, जब जीवन के अन्तिम प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होते हैं और हमसे जवाब मांगते हैं, तब अकेले मानवीयवाद से काम नहीं चलता। जीवन एक महान् देन है और हमें उसे महान् उच्च स्थिति में लाना है। अकेला मानवीयवाद उसे इसके लिए प्रेरणा नहीं दे सकता।

जब मानवीयवाद यह स्वीकार करता है कि अमुक मूल्य अन्तिम और शाश्वत हैं, तब वह प्रकारान्तर से ब्रह्माण्ड के आध्यात्मिक दृष्टिकोण को स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में नैतिक 'आत्मा' एक ऐसी शक्ति है जो सामान्य आत्मा से ऊपर है, जिसमें हर मनुष्य साझीदार है चाहे उसकी मानसिक प्रकृति कैसी भी हो, और इस आत्मा के प्रति हमारी मानसिक अभिवृत्ति यह होती है कि हम उसके अधीन हैं। यह प्रश्न अनिवार्य है कि क्या नैतिक आदर्श एक स्वप्न-मात्र है या उसे ब्रह्माण्ड का समर्थन भी प्राप्त है? क्या मनुष्य अन्धकार में अकेला ही चल रहा है या एक ऐसा लोकातीत उद्देश्य भी है जो उसे आदर्शों की खोज में सहयोग दे रहा है और अपनी योजनाओं की अन्तिम विफलता से उसकी रक्षा कर रहा है? क्या मूल्य महज अनुभवाश्रित आकस्मिक संयोग हैं और अधिक-से-अधिक मानवीय मन की सृष्टि हैं, या यह समझा जाए कि वे हमारे सामने एक ऐसी सत्ता द्वारा की गई व्यवस्था को अभिव्यक्त करते हैं जो महज मानवीय सत्ता ही नहीं है बल्कि एक ऐसी आध्यात्मिक सत्ता है जो लौकिक प्रक्रिया में घटने वाली हर घटना को एक अर्थ और महत्त्व प्रदान करती है? क्या मानवीय जीवन इस लोक से परे किसी अन्य संसार की ओर संकेत करता है जो मानवीय जगत् के सम्पर्क में होने पर भी पूर्ण और नित्य है और उसे प्रभावित करता है? प्रोफेसर अलेक्ज़ेंडर का मत है कि मूल्यों का जगत् एक अधिक सरल अन्तिम सत्ता से एक गौण उत्पादन के रूप में उद्भूत होता है। उनकी दृष्टि में मूल्यों का उद्भव देश-काल की मुख्य वास्तविक सत्ता के अन्तर्गत वस्तुओं की आनुभविक वृद्धि से होता है। अलेक्ज़ेंडर मूल्यों को प्रथम स्थान नहीं देता किन्तु किसी उत्प्रवृत्ति (नाइसस) को स्वीकार किये बिना देश-काल की उत्पत्ति की व्याख्या करना उसे कठिन प्रती[त] होता है। वह उत्प्रवृत्ति देश-काल नहीं है। यदि वह देश काल होती तो उस[े]

१. स्पेस, टाइम एण्ड डीटी, खण्ड २ (१९२०), पृष्ठ ३१४।

वह उद्देश्य सिद्ध न होगा जिसके लिए उसकी कल्पना की गई है। दूसरी ओर यदि वह कोई ऐसी वस्तु है जो देश काल की और अधिक ऊँचे आकार धारण करने के लिए प्रेरित करता है तो वह निश्चय ही काई ऐसी वस्तु है जो देश-काल से भिन्न और उससे परे है। इसकी व्याख्या का आधार देश काल और उ प्रवृत्ति प्रतीत होता है और यदि आल्ट टेक्सामेंट के शब्दों में कहा जाए तो यह आधार शून्य और ईश्वर है। कान्ट की नैतिकता विषयक सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि हम आध्यात्मिक सत्ता की, जो मानवीय सत्ता से ऊपर है भावी नैतिक चेतना से प्राप्त करते हैं। यद्यपि कान्ट धर्म को मानवीय भावना की एक स्वतन्त्र क्रिया के रूप में नैतिकता से भिन्न और कुछ हद तक उसके अधीन मानता है तो भी यह मिलाकर उसकी विचार प्रणाली दोनों के बीच एक सन्तुलन उपस्थित करती है। यद्यपि पुण्य अपने आपमें एक अच्छी चीज है किन्तु शिव (अच्छाई) का पूर्ण रूप नहीं है। उसका पूर्ण रूप पुण्य और सुख दोनों से मिलकर बनता है। पूर्ण अच्छाई और पूर्ण सुख ये दोनों शिव के दो निरुपाधिक पाद हैं जिन्हें व्यावहारिक तर्क बुद्धि अपने सामने रखती है। यदि इन दोनों में सामञ्जस्य न रहे तो हमारी नैतिक चेतना कुंठित होती है। किन्तु पूर्ण सुख प्राकृतिक कारणों पर निर्भर है जिनका पुण्य या अच्छाई से कोई सीधा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। सुख और अच्छाई के बीच उचित समञ्जन तभी सम्भव है जबकि हम एक ऐसी ईश्वरीय सत्ता की कल्पना करें जो ब्रह्माण्ड को नैतिक जगत् के साथ समायोजन और सुख एवं अच्छाई के सम्बन्ध का नियमन कर सके। हमारी नैतिक चेतना एक ऐसे ईश्वरीय की सत्ता स्वीकार करती है जो उच्चतम अच्छाई की उपलब्धि के लिए पर्याप्त है। कान्ट का कहना है कि केवल मात्र यह संसार ही नहीं है और पुण्य के दान और जीवन के पुरस्कारों के बीच उचित सम्बन्ध का जो अभाव नजर आता है उसे दूर किया जा सकता है। यदि हम ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार न करें तो हमारे सामने एक द्वैत की समस्या खड़ी हो जाएगी एक ओर नैतिक नियम होंगे जो हमारी निष्ठा पर दावा करेंगे और दूसरी ओर ब्रह्माण्ड होगा जो नैतिकता की माँगों के प्रति विरोधी नहीं तो उदासीन अवश्य है। यदि नैतिक नियम की नियामकता सिद्ध करना है यदि मनुष्य को अन्ततः एक नैतिक सत्ता के रूप में प्रमाणित करना है तो विश्व की इस प्रक्रिया का जिसने मानवीय व्यक्तियों का निर्माण किया है कुछ अर्थ अवश्य है और समस्त घटनाओं की संरचना अन्ततः आध्यात्मिक है। इस प्रकार मानवीयवाद अपना एक ऐसा चित्र उपस्थित करता

है जिसमे वह एक ऐसी अधिक गहरी और अधिक व्यापक सत्ता मे बद्धमूल दृष्टिगोचर होता है जिसमे वह अपना पूर्ण विकास पाता है। मानवीयवाद का सम्बन्ध मूल्य से है, और धर्म मूल्य का वास्तविक सत्ता के साथ और मानव-जीवन का उस अन्तिम पृष्ठभूमि के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है जिस पर वह प्रतिष्ठित है। असभ्य मानव का धर्म चाहे कितना ही स्थूल, अपरिष्कृत और दुष्कल्पित हो, वह कम-से-कम उसे यह आश्वासन तो देता ही है कि वास्तविक उच्च सत्ता का उसके मूल्यो के प्रति सद्भाव है और वह उसके कल्याण के प्रति उदासीन नहीं है। असभ्य मानव की विभिन्न प्राणियो या वनस्पतियो के रूप मे ईश्वर की आदिम कल्पना से लेकर सुविज्ञ दार्शनिक की एक पूर्ण परमात्मा के रूप मे ईश्वर की कल्पना तक निरन्तर यह विश्वास व्याप्त रहा है कि मनुष्य एक अधिक व्यापक और अधिक विशाल सृष्टि-योजना का एक छोटा-सा खण्ड है। इस सृष्टि-योजना मे उसके जीवन और उसके परिवेश का रहस्य निहित है और वह उसकी नियति पर रहस्यमय प्रभाव डालती है।

महान् मानवीयवादियो का कहना है कि बहुसख्यको के अनन्त प्रवाह में एक का स्थायी तत्त्व रहता है। प्लेटो ने 'अपरिवर्तनीय आदर्श' को स्वीकार किया है और अरस्तू ने 'अन्तिम अभौतिक आकार' को। प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन मे हम एक ऐसा धर्म पाते हैं जो एक नित्य ईश्वर के अस्तित्व का आग्रह नहीं करता, फिर भी पाप और बुराई की चेतना, पवित्र आचरण की आवश्यकता और लोभ और काम वासना के दमन की सबल प्रेरणा देता है। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म एक ऐसे नित्य और शाश्वत सत्य मे गम्भीर विश्वास रखता था, जिसका सब वस्तुओ मे वास है। उसकी दृष्टि मे ब्रह्माण्ड की सरचना नैतिक और आचारमय है। वह 'धर्मभूत' है। मैथ्यू आर्नल्ड भी, जिसकी दृष्टि मे धर्म का अर्थ भावुकता-मिश्रित नैतिकता है, यह मानता था कि 'एक ऐसी सत्ता है जो हमारी अपनी सत्ता से बडी है जो हमे सत्य और धर्म की ओर ले जाती है।' उसके साथ हमारा किसी-न-किसी प्रकार का सम्बन्ध अवश्य है और हम उसके प्रभाव के अनुकूल अनुक्रिया करते हैं, वह सत्ता उससे बडी है जिसका अन्त हो चुका है या होना अवश्यम्भावी है और उसके प्रति आत्म-समर्पण में ही हमारी शान्ति निहित है। अमरीकी मानवीयवादी बॅबिट और मोर की दृष्टि मे मानवीयवाद और धर्म एक ही मार्ग की दो मंजिलें हैं। प्राकृतिकवाद जब यह कहता है कि शरीर मनुष्य है तो वह सही होता है; मानवीयवाद जब यह कहता है कि मन मनुष्य है तो वह भी सही होता है,

किन्तु मनुष्य न सिर्फ शरीर ही है और न सिर्फ मन, बल्कि वह इनके साथ-साथ आत्मा भी है। इस प्रकार मानवीयवाद एक भक्तिमय जीवन की, जिसे ईश्वर के मन के रूप में स्वीकार किया जाता है, और जो सेवा और आत्मोत्सर्ग के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त करता है, आवश्यकता पूरी नहीं कर सकता।

धर्म और युक्तियुक्त मानवीयवाद में कोई विरोध नहीं है। इस संसार में जो सच्चे अर्थों में धार्मिक कर्म है, अर्थात् ईश्वर और मानव के बीच सम्बन्ध की आन्तरिक अनुभूति है, वह अवश्य ही मानव-सेवा के रूप में अभिव्यक्त होगी। यद्यपि व्यवहार में महत्त्व धार्मिक जीवन के फल का, उसकी सामाजिक उत्पादकता का, है तो भी समाज के सबसे अच्छे और योग्य सेवक वे लोग हैं जो आभ्यन्तर जीवन का सत्कार करते हैं। कोई भी ऐसा धर्म, जिसका केन्द्र ईश्वर नहीं, बल्कि मानव होता है, शक्तिशाली धर्म नहीं होता।

५ धर्म और मानवीयवाद

मानवीयवाद और सामाजिक आदर्शवाद के प्रहार का लक्ष्य प्रतिगामी धार्मिक सम्प्रदाय हैं जो लोगों को मरणोत्तर जीवन का भय दिखाते हैं और यह चेतावनी देते हैं कि मृत्यु के बाद परलोक में उनके सब अच्छे-बुरे कर्मों का हिसाब-किताब निबटाया जाएगा। किन्तु अब मानवीयवाद के विद्रोह के फलस्वरूप धर्म अधिकाधिक समाज-सुधार का साधन बनता जा रहा है। ईसाई सम्प्रदाय में ही हम ऐसे सुधारवादियों को देखते हैं जो ईसा मसीह के धर्म के प्रमाण देकर मास्को (कम्युनिस्ट सोवियत् संघ) के कार्यक्रमों का समर्थन करते हैं। वे लोग हमें यह स्मरण कराते हैं कि ईसा उन लोगों के बारे में क्या कहा करते थे जो उनका नाम जपते थे, किन्तु भूखों का पेट भरने में उपेक्षा दिखाते थे। वे हमें ईसा के इस कथन की याद दिलाते हैं कि लोग उसके (ईसा के) छोटे-से-छोटे भाई के साथ जो व्यवहार करते हैं वह अन्ततः उसी के साथ करते हैं। वे हमें पवित्र और विशुद्ध धर्म के सम्बन्ध में सन्त जेम्स की उक्ति का और सन्त जॉन के इस कथन का स्मरण कराते हैं कि 'जो अपने देखे हुए भाई को प्यार नहीं करता वह अनदेखे ईश्वर को कैसे प्यार करेगा।' हारनेक की रचनाओं और सीली के 'एक्से होमो' (ईसा का चित्र, जिसमें उसने काँटों का ताज धारण किया हुआ है) में भी एक मानवीयवादी ढंग की ईसाइयत का उद्घोष किया गया है। ईसाई विज्ञान का प्रचलन इसीलिए है कि वह ईसा के मिशन के व्यावहारिक रूप पर बल देता है।

भारत में दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द गांधी और टैगोर के प्रभाव में सामाजिक उत्थान का आन्दोलन लोकप्रिय हो रहा है। भगवद्गीता कर्म पर बहुत बल देने के कारण ही हिन्दुओं का सबसे महत्त्वपूर्ण धर्मग्रन्थ बन गई है। धर्म में सबसे महत्त्वपूर्ण चीज यह है कि उसमें बल किस बात पर दिया जाता है और आज यह बल सामाजिक सुधार पर ही दिया जा रहा है। किन्तु हम यह नहीं भूल सकते कि तत्वतः आध्यात्मिक मुक्ति का नाम धर्म है, सामाजिक सुधार का नहीं। पवित्रता और साधुत्व का अर्थ परोक्षरूप में भले ही सेवा और बन्धुत्व हो, किन्तु वे उसका प्रत्यक्ष और सीधा अर्थ नहीं हो सकते।[1] धर्म को आज केवल नास्तिकता और विशुद्ध लौकिकता के विरुद्ध ही नहीं लड़ना बल्कि सामाजिक सुधार के बाने में अपने अधिक प्रच्छन्न प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध भी संघर्ष करना है।

६. फलवाद (प्रैगमैटिज्म) :

कभी कभी धर्म को आधुनिक चुनौती फलवादी दृष्टिकोण से भी दी जाती है। फलवाद पूर्ण और निरपेक्ष सत्य को एक काल्पनिक वस्तु मानता है। उसका विचार है कि सभी सत्य मानवीय और सापेक्ष है। सत्य की परख उनके परिणामों के मूल्य से होती है। उदाहरण के लिए, विज्ञान में हम कुछ अनुकूल और उपयुक्त प्राक्कल्पनाएं को उनकी परीक्षा और सिद्ध किये जाने से पूर्व ही अपना लेते हैं और उनके अनुसार कार्य करते हैं। इसी प्रकार हम धर्म के क्षेत्र में भी आध्यात्मिक परीक्षण कर सकते हैं। हमें धार्मिक विचारों के मूल्य का निश्चय उनके वस्तुनिष्ठ सत्य के द्वारा नहीं बल्कि उनके नैतिक और आध्यात्मिक परिणामों से करना है। जब तक कि कोई विचार, मसलन अवतार की कल्पना, समाज में एक जीवित वास्तविकता के रूप में विद्यमान है तब तक इस बात का कोई महत्त्व नहीं है कि वह ईसामसीह के व्यक्तित्व में साकार हुआ या नहीं। हमारे अनुभव के ईसामसीह, दर्शन और धर्मशास्त्र के ईसामसीह पर इतिहास के ईसामसीह का कोई असर नहीं पड़ता। जब हम कहते हैं कि 'ईश्वर हमारा पिता है' तो हम ईश्वर के स्वरूप का वर्णन नहीं करते, बल्कि यह संकेत करते हैं कि हमारा आपस में एक दूसरे के साथ क्या व्यवहार होना चाहिए। यदि हम वास्तव में

१. तुलना कीजिए : एक फ्रांसीसी लड़की ने रेनां की 'लाइफ आफ जीसस' पुस्तक की आलोचना करते हुए कहा था : 'कितने अफसोस की बात है कि कहानी का अन्त विवाह में नहीं हुआ।'

ईश्वर में विश्वास नहीं करते तो भी हमें वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा कि हम उस पर विश्वास करने पर करते। अर्थात् ईश्वर के होने पर जैसा जीवन व्यतीत करना चाहिए, वैसा ही जीवन बिताना लाभकारी है। किन्तु सामाजिक व्यवहार का तकाजा है कि हम ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करें। इस दृष्टिकोण का मूल हम काण्ट के इस सिद्धान्त में पाते हैं कि ईश्वर की कल्पना एक नियामक विचार है, एक व्यावहारिक कल्पना है जो हमें अपने विचार के विषयों को एक सुव्यवस्थित पूर्ण के अंगों के रूप में परस्पर सम्बद्ध रूप में देखने में सहायता देती है।

फलवाद यह मानता है कि हमारे अनुभव हमारी इच्छा या अनिच्छा के परिणाम हैं, या एक निश्चित उद्देश्य के लिए होते हैं और वह ज्ञान को मन के मुक्त जीवन में व्यवहार में पृथक करने का विरोधी है। इस लिहाज से वह परम्परागत आदर्शवाद का और उसके इस सिद्धान्त का अनुगामी है कि आदर्शवाद का निपरभूत आदर्श पहले विद्यमान है। किन्तु उसकी त्रुटि यह है कि वह जिस माद्य्यतावाद को अपनाता है वह बहुत संकीर्ण है। किसी भी काम की कसौटी समग्र अनुभव के व्यापक सन्दर्भ में लागू की जाती है। किसी भी विचार का तभी कोई मूल्य होता है जबकि वह किसी आकस्मिक इच्छा या क्षणिक उद्देश्य के लिए नहीं, बल्कि समग्र सम्बद्ध स्थिति के लिए व्यवहार में आता है। उससे आलोचनात्मक बुद्धिमत्ता और विवेक की सन्तुष्टि होनी चाहिए। कभी-कभी ऐसा लगता है कि आत्मा की गहरी आवश्यकताएँ खतरनाक भ्रमों से पूरी होती हैं। यदि हम विश्वासों को इस आधार पर स्वीकार करने लगें कि वे हमारे मन को प्रसन्न करते हैं और हम सुख पहुँचाते हैं तो बहुत से अन्धविश्वास भी उचित हो जाएँगे। फलवादी मनोविज्ञान विश्लेषक से इस बात पर सहमत प्रतीत होता है कि धार्मिक विश्वास वास्तविक जीवन की कठोरता की क्षति-पूर्ति कर देते हैं। यदि विश्वास का विषय या वस्तु केवल काल्पनिक हो और उसकी सृष्टि हमने सिर्फ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए की हो तो उस विषय या वस्तु का विश्वास भी एक दिन खत्म हो जाएगा। ईश्वर से हमारा आशय केवल ईश्वर का प्रत्यय या विचार ही नहीं, बल्कि उससे कुछ अधिक होता है। धार्मिक विश्वास की महत्वपूर्ण बात यह है कि उसका विषय केवल प्रत्यय या विचार मात्र नहीं होता। यदि, ईश्वर की कल्पनाएँ ही अनेक पीढ़ियों की सहायता करती आई हैं तो सिर्फ इसलिए कि लोग उन्हें कभी निरी कल्पना नहीं समझते थे। कोई भी व्यक्ति

हमेशा किसी ऐसी वस्तु की पूजा नहीं करता रह सकता जो बिलकुल असत्य हो। जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर पर विश्वास का एकमात्र आधार मनुष्य की विश्वास करने की आवश्यकता और आकांक्षा है, तो हम वास्तव में यह प्रकट करते हैं कि असल में हमारा उस पर विश्वास नहीं है। हमारा कर्तव्य है कि हम केवल सान्त्वना और आश्वासन देने वाली मिथ्या कल्पनाओं से चिपटे रहने के बजाय सत्य की खोज करें, चाहे वह कितना ही अप्रिय और अचिरस्थायी क्यों न हो। ईश्वर वैसा नहीं है जिस रूप में कि मनुष्य कुछ सुविधाजनक समय के लिए उसे सत्य बनाना चाहता है, बल्कि वह वैसा है जिस रूप में कि वह सचमुच उसे सत्य समझता है, भले ही इसके लिए मनुष्य को बलिदान और आत्मोत्सर्ग करना पड़े।

७. आधुनिकवाद .

जिसे आधुनिकवाद कहा जाता है वह मन का एक ऐसा रवैया है जो बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है और जिसे हम सभी धर्मों में पाते हैं। हर पीढ़ी के सामने अपने अनुभवों का समजन करने और एक विधिवत् निर्धारित योजना में उन्हें बिठाने की समस्या होती है। आज आधुनिकवादी धार्मिक परम्पराओं को विकास की प्रक्रिया में उत्पन्न नयी आवश्यकताओं के ढाँचे में बिठाने के कार्य में व्यस्त हैं। ईसाई जगत् में आधुनिकवादी कहते हैं कि ईसाई धर्म के आधारभूत मूल सत्य भी वृद्धि और विकास की प्रक्रिया की उपज हैं। उनका कहना है कि बाइबिल के धर्मोपदेशों का ईसा यहूदियों के मसीहा, ग्रीक लोगों के लोगोस या प्रोटेस्टेंट लोगों के ईसा से बिलकुल भिन्न है। बीसवीं सदी के ईसा पर यहूदियों की धर्मनिष्ठा, ग्रीक लोगों के दर्शन, रोमनों के वैधवाद (यह मान्यता कि धर्म में कानून बड़ा है और मनुष्य का अच्छा या बुरा होना इस बात पर निर्भर नहीं कि वह धर्म को मानता है या नहीं, बल्कि उसके कर्मों पर निर्भर है), जर्मन यथार्थवाद और फ्रांसीसियों के तर्कवाद, सभी की छाप है। हमारा कर्तव्य है कि हम धर्म में इस बात की छानबीन करें कि उसमें कौनसे तत्त्व स्थायी हैं और कौनसे अस्थायी, या अल्पकालिक और स्थायी तत्त्वों का धर्म की पुनर्व्याख्या से नये ज्ञान और आकांक्षाओं के साथ समजन करें। आधुनिकवादी धार्मिक सिद्धान्तों को कपोल-कल्पना, चमत्कारों को जनश्रुतियाँ, धार्मिक संस्कारों और अनुष्ठानों को चक्र और प्रतीक एवं धर्म-ग्रन्थों को साहित्य-ग्रन्थ बताते हैं। मात्रा-भेद में आधु

निरवादियों की अनेक श्रेणियां हैं और यह सम्भव नहीं है कि उन सबके विचारों की यहां चर्चा की जा सके। सिर्फ एक या दो विशिष्ट उदाहरण लिए जा सकते हैं। उदार प्राटेस्टेंटवाद क्या है, इसका सकेत हम हारनेक के उस प्रसिद्ध विवेचन से मिलता है जिसमें वह ईसा के धर्म और ईसा विषयक धर्म में भेद करता है। उसका कहना है कि ईसा के कष्ट सहने का तभी कुछ अर्थ हो सकता है जबकि वह उत्पीड़ित मानव हो। मनुष्य के प्रति प्रेम के कारण कष्टों को सहनकर ईसा ने ईश्वर को जितना अभिव्यक्त किया है उतना उसने अपने जीवन के किसी भी अन्य कार्य में नहीं किया। यह कथन है कि ईश्वर को संसार से इतना प्रेम था कि उसने अपना एकमात्र पुत्र संसार के लिए अर्पित कर दिया इस सीधे-सादे अन्तर्ज्ञान की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है कि प्रेम का अर्थ है कष्ट सहन जितना अधिक हम प्रेम करते हैं उतना ही अधिक हम कष्ट उठाते हैं। अनन्त प्रेम अनन्त कष्ट सहन है। इस दृष्टिकोण के अनुसार ईसा ने एक साधारण नैतिक धर्म से अधिक ऊँचे आचार की शिक्षा दी। वह मानव में ईश्वर बना न कि ईश्वर में मानव। ईश्वर से मानव बनने की कल्पना शिक्षित आधुनिकवादी के लिए वैसी ही खामखी है जैसा आदिमयुगीन जादू मिशनरी के लिए।

डीन इंग का कहना है कि ईसाई धर्म आन्तरिक भावना का धर्म है न कि कट्टर सिद्धान्तों का। उसकी सन्देहियों और अविश्वासियों से रक्षा की जा सकती है और दूसरों पर उसे थोपा भी जा सकता है। धर्म ईश्वर के अतीत या अनागत कार्य के प्रति प्रेम और उसकी पूजा नहीं है वह ईश्वर के वर्तमान कार्य के प्रति प्रेम और उसकी पूजा है। वह आज भी उसी प्रकार अभिव्यक्त हो रहा है जिस प्रकार हमेशा अभिव्यक्त था वह एक प्रकाश है जिसे आत्मा ग्रहण करती है और अपनी अनुभूति एवं प्रतिपत्ति के अनुसार न्यून या अधिक चमक के साथ परिक्षिप्त करती है। ईसा के व्यावहारिक जीवन में हम इस चमक का सबसे अधिक प्रतिक्षिप्त होते देखते हैं। धार्मिक सत्य प्लेटो और उपनिषदों में पाया जाता है, किन्तु उसका सबसे अधिक साकार रूप हम ईसा के जीवन में पाते हैं। इस प्रकार डीन इंग[1] का कहना है कि वह ईसाई विचारधारा में प्लेटो की परम्परा का अनुयायी है। इस परम्परा की विशेषताएं हैं एक ऐसा आध्यात्मिक धर्म जो इस दृढ़ विश्वास पर आधृत है कि निरपेक्ष और नित्य मूल्य ही ब्रह्माण्ड में सबसे अधिक वास्तविक वस्तु है, यह विश्वास कि मनुष्य इन मूल्यों को जान सकता है, किन्तु

१. दि प्लेटानिक ट्रैडिशन इन इंग्लिश रिलिजस थॉट (१९२६) पृष्ठ ६।

उन्हें जानने के लिए बुद्धि, इच्छा और लगन को पूरे हृदय से उनकी खोज में लगाना होगा, विज्ञान की खोजों के प्रति उन्मुक्त मन, सृष्टि के सौन्दर्य, उदात्तता और बुद्धिमत्ता के प्रति समादर और ग्रहणशीलता की अभिवृत्ति और सृष्टि को स्रष्टा के मन और स्वरूप की अभिव्यक्ति मानना; और दुनियादार लोगों के वर्तमान मूल्यांकन के प्रति पूर्ण उदासीनता। इस परम्परा में ईसाई तत्त्व मुख्यतः जीवित, महनीय और सदा मन के भीतर वास करने वाले ईसा के साथ आन्तरिक योनि के तादात्म्य से उपलब्ध होता है।'[1]

प्रोफेसर करसॉप लेक[2] ने आत्मा के पवित्र धर्म के लक्षणों का विवेचन किया है, किन्तु उसने इस सम्बन्ध में पूर्ण उदासीनता दिखाई है कि ईसा में वे सब लक्षण मूर्तिमान् हुए हैं। उसकी व्याख्या ईसाई धर्म से ऐसे तत्त्वों को, जो स्पष्ट रूप से ईसाई तत्त्व हैं, निकालकर उसे विशुद्ध रहस्यवाद में परिणत कर देती है। आधुनिकवादी लोग धार्मिक विश्वास की अन्तर्वस्तु का सम्बन्ध समसामयिक ज्ञान के साथ जोड़कर पुराने सनातन धर्म को उसकी पृथक् विशिष्ट और स्पष्ट सत्ता से विरहित कर देते हैं और इसीलिए उनके इस प्रयत्न को ऐसे बहुसंख्यक लोगों की सहानुभूति प्राप्त नहीं होती जो उस सम्बन्ध में कुछ राय रखने का अपना अधिकार समझते हैं। सनातन ईसाई धर्म में विश्वास रखने वाले आधुनिकवादियों के इस प्रयत्न को उच्चतर जीवन के लिए एक प्रकार की अस्पष्ट आकांक्षा समझते हैं, जो कुछ-कुछ इसी किस्म की और अभावात्मक है।[3] आधुनिकवादी क्योंकि कुछ-कुछ मध्यवर्ती स्थिति में हैं, इसलिए उन पर दोनों ओर से आक्रमण होते हैं। प्राकृतिकवादी उनसे इसलिए नाराज हैं कि उनके प्रयत्नों से धर्म का खात्मा होने के बजाय उसकी जिन्दगी और बढ़ती है। परम्परावादी कहते हैं कि आधुनिकवादी धर्म की ऐसी चीजों को भी, जिनका अन्धकार में रहना

१. दि प्लैटानिक ट्रैडिशन इन इंग्लिश रिलिजस थाट (१९२७), पृ० ३३-३४।
२. दि रिलिजन आफ यस्टरडे एण्ड आफ टुमॉरो (१९२५)।
३. तुलना कीजिए - फादर रानाल्ड नॉक्स ने आधुनिकवादियों की प्रार्थना का यह व्यंग्यात्मक चित्र खींचा है

> 'हे प्रभो, तुम्हारे बिना क्योंकि—
> हम तुम पर भरोसा नहीं कर सकते,
> इसलिए कृपा कर हमें सहायता दो,
> जिसमें हम सारी मानव-जाति को शिक्षा दे सकें,
> कि हम तुम्हारे बारे में कुछ भी नहीं जानते।'

हाँ सुरक्षित है, खींचकर रोशनी में ला रहे हैं, किन्तु वह रोशनी पूर्ण उज्ज्वल प्रकाश होने के बजाय अधूरी रोशनी है, इसलिए उसमें व धर्म को उलटा खतरे में डाल रहे हैं। हम इन चीज़ों को अन्धकार में आवृत ही रहने देना चाहिए और इस प्रकार उन पर पूर्ण विश्वास और आस्था रखनी चाहिए। यदि हमें उनको प्रकाश में लाना ही है तो पूर्ण प्रकाश में लाना चाहिए और इस प्रकार अन्ततः उस लौकिक धर्म बना देना चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिकवाद एक ऐसी दरम्यानी स्थिति में है जो चल नहीं सकती।

८. आप्त प्रामाण्यवाद

नये मतों के प्रवर्तकों को पहले तो श्रोता ही मुश्किल से मिलते हैं, अनुयायी मिलने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उनमें परस्पर एकता का इसके सिवाय और कोई बन्धन नहीं है कि वे सभी अविश्वासी हैं, जिज्ञासु और अनुसन्धित्सु को इतनी किस्म की सलाह दी जाती है कि वह उनमें खो जाता है। वह चाहता है कि उसे एक ऐसा पैमाना मिले जिसके अनुसार वह अपना जीवन बिता सके, उसे एक ऐसा अपने से ऊँचा आदर्श मिले जिसके सम्मुख वह आत्मसमर्पण कर सके। अराजकता अधिनायकतन्त्र के लिए सबसे बड़ा सहारा और समर्थन है। निरकुंश अधिकारी-तन्त्र अराजकता का निकटवर्ती पड़ोसी है। तरह तरह के विचारों में जो एक अस्पष्ट और निराकार विभ्रम और व्यामोह पैदा हो जाता है। वह हमें निश्चित आकारों की ओर धकेलता है। चिन्तन के प्रयत्नों से थककर, संशय की कठिनाइयों से भयभीत होकर हम फिर किसी प्रामाणिक अधिकारी सत्ता का आश्रय लेते हैं और बेफिक्री और चैन की साँस लेते हैं। प्रामाणिक अधिकारी सत्ता यदि सन्देहवाद का विकल्प नहीं है तो उससे बचने के लिए आश्रय-स्थल अवश्य है। स्वतन्त्रता और तर्क निःसन्देह महान् आदर्श हैं, किन्तु अनुशासन के बिना स्वतन्त्रता नहीं हो सकती और विश्वास के बिना कोई तर्क नहीं हो सकता। आर्थोडाक्स क्रिश्चियन सम्प्रदाय—कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट—दोनों किसी प्रामाणिक अधिकारी सत्ता का सहारा लेते हैं। वह प्रामाणिक अधिकारी सत्ता चाहे पोप हो या परिषद् या धर्मग्रन्थ, उसे बहुत उच्च आसन पर प्रतिष्ठित किया जाता है। रोम के धर्माचार्यों ने गैलिलियो को अपने वैज्ञानिक सिद्धान्तों को बाइबिल के प्रतिकूल होने के कारण वापस लेने के लिए मजबूर किया। यदि वह कैलविन होता तो सम्भव था वहाँ उसे जला दिया जाता और टैनेसी में होता तो

में डाल दिया जाता।[1] धर्मग्रन्थों की प्रामाणिकता के पीछे स्वतन्त्र और निर्बाध जिज्ञासा का जो सिद्धान्त था, वह आज भी आदर्श ही बना हुआ है, उसकी पूर्ति नहीं हो सकी। ऐसी आध्यात्मिक प्रतिभा, जो किसी धर्म को स्वयं अपने लिए प्रतिष्ठित कर सके, लाखों में से किसी एक में होती है। अधिकतर लोग तो यही चाहते हैं कि उन्हें बना-बनाया मन्दिर मिल जाए जहाँ जाकर वे निश्चिन्तता में सिर झुका सकें और माथा टेक सकें। उनके लिए दो ही रास्ते हैं, या तो वे किसी प्रामाणिक आप्त सत्ता को स्वीकार कर लें अथवा धर्म के चक्कर में पड़ें ही नहीं। या तो वे कैथोलिक धर्म को स्वीकार कर लें अथवा धर्म के सम्बन्ध में उनके समस्त भ्रम समाप्त हो जाएँ। धार्मिक क्षेत्र के नेता लोग पूजा के सौन्दर्य और ऐश्वर्य पर लम्बे-चौड़े व्याख्यान देते हैं, परम्परा की प्राचीनता और सुव्यवस्थितता का बखान करते हैं और बताते हैं कि ऐतिहासिक ईसाई चर्च हमें अपने प्रभाव के विस्तार और सेवा के लिए कितने अवसर प्रदान करता है। यदि हमें आध्यात्मिक खानाबदोशों की भाँति दर-दर नहीं भटकना तो हमें एक आश्रय की जरूरत होगी। उस समय चर्च, जो विश्वास, कर्मकाण्ड, अनुशासन और भाषा के लिहाज से एक है, जो एक ऐसा संगठन है जहाँ जाति और राष्ट्र की बाधाएँ दूर हो जाती हैं, जो एक ऐसा राज्य है जिसकी कोई सीमाएँ नहीं हैं बहुसंख्यक जन-समुदाय को अपनी ओर आकृष्ट करता है।

1. यह सन्दिग्ध है कि एक अभ्रान्त चर्च वास्तविक धर्म के लिए अधिक अनुकूल है या एक अभ्रान्त ग्रन्थ। चर्च चाहे कितना ही दृढ़ क्यों न हो, किन्तु वह एक जीवित संगठन है जिस पर नये प्रभाव डाले जा सकते हैं। किन्तु एक धर्मग्रन्थ शायद चर्च की अपेक्षा अधिक नुकसानदेह है क्योंकि धर्मग्रन्थ में धर्म के जो रहस्य लिपिबद्ध होते हैं वे हमेशा के लिए निश्चित मान लिए जाते हैं जिनमें कोई भी आध्यात्मिक अनुभव किसी भी मूल्यवान् वस्तु को समाविष्ट नहीं कर सकता। यह सही है कि लूथर ने व्यक्ति को धर्मग्रन्थों का तर्क से परीक्षा करने की स्वतन्त्रता दे दी थी और यह भी स्वीकार किया था कि चर्च की महापरिषद् धार्मिक विषयों में अभ्रान्त नहीं है, किन्तु लूथर के तर्कों का अन्त यह हुआ कि सत्य को जिस रूप में वह स्वयं समझता था, उसी रूप में वह उसे स्वीकार करने लगा। इस मामले में कैथोलिक अथारिटी और प्रोटेस्टेंट आर्थोडाक्सी में कोई अन्तर नहीं है। हम यह बात भी निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि प्रोटेस्टेंट सुधारवाद का अर्थ तर्क पर आश्रित विश्वास की उन्नति और ज्ञानवृद्धि है। यह तर्क दिया जा सकता है कि लूथर और कैलविन के भावुकतापूर्ण वचनों की अपेक्षा मध्ययुग के तर्कों में अधिक बौद्धिक बल और ओज है।

आप्त वचन का महत्त्व और परम्परा का मूल्य बहुत बड़ा है। यदि हमें व्यक्तिवादी औचित्यनिर्णवाद में नहीं फँसना और अन्ततः धर्म के सर्वथा निषेध से बचना है, यदि हमें अपने-आपको अपनी भटकती हुई स्वैरवृत्ति से अपथगामी होने से बचाना है, यदि हमें समूची मानव-जाति की संचित बुद्धिमत्ता से अपने व्यक्तिगत अन्तर्ज्ञान का पथ-निर्देशन करना है, तो केवल पहले से चली आ रही परम्परा हमारी सहायता कर सकती है। जीवन की शताब्दियों से एक ज़रा-सा इतिहास बनता है और इतिहास की शताब्दियों से एक ज़रा-सी परम्परा का निर्माण होता है, इसलिए हम इसे यों हल्केपन से एक ओर उठाकर नहीं रख सकते। मानव-समाज हर व्यक्ति से बिलकुल नया प्रारम्भ नहीं करता। हममें से हर व्यक्ति को स्वतःसिद्ध मूल सत्यों को नये सिरे से सिद्ध नहीं करना पड़ता। स्वीकृत ज्ञान का एक भंडार, विश्वास का एक कोष हमारे पास है जिसमें हम सब अंश ग्रहण कर सकते हैं। यद्यपि धर्म एक अर्थ में हर व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है, तो भी वह अतीत की परम्पराओं पर आधृत है और उन्हीं से विकसित होता है। किन्तु परम्परा के प्रति निष्ठा एक चीज़ है और उसके प्रति दासता दूसरी। किसी भी वस्तु का पूरी तरह अनुगमन करना जीवन के प्रतिकूल है। केवल मुर्दे ही एक नियत ढाँचे में बँधे होते हैं। प्रगति जीवन का नियम है और परिवर्तन की शक्ति विनाश से रक्षा के लिए अनिवार्य है। कोई भी परम्परा अन्तिम, अपरिवर्तनीय या निरपेक्ष नहीं है। अतीत हमें और भी ऊँचाई तक उठने में सहायता देता है जहाँ से हम, युगों के बीतने के साथ-साथ ईश्वर और मानव के सम्बन्धों की अधिकाधिक स्पष्ट झाँकी पा सकेंगे।

आप्त प्रामाण्यवाद वैज्ञानिक ज्ञान के दावों के विरुद्ध चेतावनी के रूप में उपयोगी है। वास्तविक सत्ता के कुछ ऐसे पहलू भी हैं जहाँ ज्ञान अपर्याप्त और अक्षम सिद्ध होता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि विज्ञान और धर्म एक-दूसरे के विरुद्ध हैं और एक जो बात कहता है, दूसरा उसका खंडन करता है। गोएठे ने कहा था, 'यदि इस दुनिया की बुद्धिमत्ता ईश्वर की नज़रों में मूर्खता है तो सत्तर बरस की लम्बी ज़िन्दगी जीना बेकार है।'[१]

आप्त प्रामाण्यवाद के फलस्वरूप, जो कि तर्क पर विश्वास नहीं करता, अन्धविश्वास और भी प्रबल हो रहा है। भय और अज्ञान से उत्पन्न होने वाले

१. मैक्सिम्स एण्ड रिफ्लैक्शन्स, ६१८; स्टैवेल और डिकिन्सन द्वारा लिखित 'गोएठे एण्ड फाउस्ट' (१६२८), पृ० ६।

सभी प्रकार के तर्क-विरुद्ध विचार फैशन बनते जा रहे हैं। किस्मत को बदलने वाले गण्डे-तावीजों की बिक्री, फलित ज्योतिष में दिलचस्पी और परलोक-विद्या में विश्वास, ये सब सिद्ध करते हैं कि हम प्राचीन काल के मन्त्र-तन्त्रज्ञ ओझाओं और चिकित्सकों के कितना निकट हैं। कुछ क्षेत्रों में स्वयं धर्म को ही एक अन्धविश्वास में परिणत किया जा रहा है जिसके फलस्वरूप वास्तविक धर्म निष्ठा वाले व्यक्ति धर्म से परे हटते जा रहे हैं।[1] विचित्र और नव गुप्तसम्प्रदाय, जिनके प्रवर्तक केवल अपने-आपको ही दैवीय इलहाम और प्रेरणा प्राप्त करने वाला जीवित व्यक्ति मानते हैं, भोले-भाले लोगों को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं।[2]

हमारे सामने प्रश्न यह है कि हम अपने ऊपर विश्वास करते हैं या नहीं। यदि हमें अपने ऊपर विश्वास है तो हमें सत्य की खोज की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। इसमें शर्त सिर्फ यह होनी चाहिए कि इसी प्रकार की खोज में लगे दूसरे व्यक्तियों के काम में हम हस्तक्षेप न करें। यदि हमें यह निश्चय नहीं है कि व्यक्ति अपनी तर्क-बुद्धि और अन्तःकरण के उपयोग से सत्य को खोज लेगा तो हमारे विश्वास का कोई मूल्य नहीं है। इमर्सन का कहना था, 'ईश्वर हरेक व्यक्ति को यह मौका देता है कि वह सत्य और आराम में से किसी एक को चुन ले। तुम्हें जो पसन्द हो ले लो लेकिन यह नहीं हो सकता कि तुम्हें दोनों मिल जाएँ।' मनुष्य के लिए हमारे मन में जो आदर है वह हमें यह विश्वास करने की प्रेरणा देता है कि उसकी चिन्तन और आध्यात्मिक अनुसन्धान की शक्तियाँ उसके जीवन के अनुभवों के पथ प्रदर्शन में उसे गलती और व्यामोह की ओर नहीं ले जाएँगी। यह खतरा अवश्य है कि कहीं हम स्वतन्त्र चिन्तन करते हुए गलत रास्ते पर न भटक जाएँ, किन्तु जो विश्वास इस खतरे का सामना नहीं कर सकता वह सच्चा विश्वास नहीं है। राजनीति हो या धर्म, दोनों में से किसी में भी यह

१. तुलना कीजिए प्रोफेसर जे० एस० हाल्डेन 'विज्ञान के सामने धार्मिक विश्वास के कमजोर पड़ने और धार्मिक विश्वास और विज्ञान के परस्पर विमुख होने का कारण वह भौतिकवाद है जो पुराने सनातन धर्म में एक छोर से दूसरे छोर तक घुस गया है।' (द साइंसेज एण्ड फिलासफी (१९२८), पृष्ठ ३४६-३५०)। उदार धार्मिक सम्प्रदाय भी भौतिकवाद को, जो अतिप्राकृत स्फुरणाओं, अन्तर्दृष्टियों, चमत्कारों और इसी प्रकार के अन्य अन्धविश्वासों के रूप में धर्म के साथ जुड़ गया है, झाड़ फेंकने के अनिच्छुक हैं। जहाँ एक ओर वैज्ञानिक भौतिकवाद पीछे हट रहा है, वहाँ धार्मिक भौतिकवाद आगे बढ़ रहा है।

२. देखिए : रे स्ट्रैची : रिलिजस फैनेटिसिज़्म (१९२८)।

स्थिति नहीं है कि हमें निरंकुश निरपेक्ष शासन और अराजकता, एक अभ्रान्त प्रामाणिक अधिकारी सत्ता और विध्वंसक आत्मनिष्ठ ज्ञानवाद—इन दो विकल्पों में से ही किसी एक को चुनना होगा। ये दोनों विकल्प नहीं बल्कि एक ही तने की दो शाखाएँ हैं, अनुभव के दो सम्पूरक पार्श्व हैं, किन्तु जब उन्हें कट्टर विचारों का रूप देने की कोशिश की जाती है तो वे परस्पर विरोधी बन जाते हैं। मानवीय प्रकृति की पूर्णता के लिए दोनों में से कोई भी अकेला पर्याप्त नहीं है। नया आप्त प्रामाण्यवादी कोई ऐसा आधार प्रस्तुत नहीं करता जिसे लोग विश्वास और आनन्द के साथ ग्रहण कर सकें। मार्ग को खोजने वालों और दूसरों को मार्ग *दिखाने वालों ने हमेशा आप्त लोगों की उपेक्षा की और उसी बात का* प्रतिपादन किया जिसे उनके अन्तरतम ने सत्य समझा। हम सभी में दो आत्माएँ है—एक ऊपर की सतह पर और दूसरी गहरी तह के भीतर। एक गतिशील धर्म व्यक्ति को अनावृत करता है और हमारे भीतर की गहराइयों में प्रवेश करता है। उस दशा में हमारी अनुक्रियाएँ रोज की दैनन्दिन अनुक्रिया नहीं होतीं। आप्त प्रामाण्यवादी यह कहकर हमें किसी बात पर विश्वास करने के लिए प्रेरणा देते हैं कि बहुत अधिक लोग उस बात पर विश्वास करते रहे हैं। सच्चा धर्म हमें *हमारी लीक से हटाता है और हम पृथक् व्यक्ति के रूप में स्वीकार करता है,* भीड़ की इकाई के रूप में नहीं। जो लोग स्वतन्त्र और व्यक्तिगत धर्म को संशय की दृष्टि से देखते हैं और सभी पर यह कहकर कट्टर सिद्धान्तों को थोपना चाहते हैं कि वे ईश्वर के दिये हुए हैं, वे सत्य और स्थायित्व के हितों को, जिनकी रक्षा के लिए वे अपने-आपको प्रयत्नशील बताते हैं, खतरे में डालते हैं। इस प्रकार दो ध्रुवों का मिलन होता है। आप्त प्रामाण्यवाद का अर्थ प्रकारान्तर में एक प्रकार का वाद ही है आप्त प्रामाण्यवाद यह आग्रह करता है कि धर्म की मानवीय तर्क-बुद्धि से रक्षा की जानी चाहिए, ईश्वर को विश्वास के रंगीन चश्मे से देखना चाहिए और उसकी विचार-प्रणालियों की बहुत निकट से परीक्षा नहीं करनी चाहिए। *उसके इस आग्रह से यह प्रतीत होता है कि वह अपने मन में एक प्रकार* का सन्देह पाल रहा है। आज के युग में, जबकि सभी प्रकार के धर्मों और मतों की बारीकी से छानबीन की जाती है वह आग्रह प्रतीत नहीं होता।

सिर्फ वही लोग आप्त वचन को स्वीकार कर सकते हैं जिन्होंने सन्देह के अर्थ को ही नहीं समझा है। *बहुतेरे विचारशील व्यक्ति अब भी यह आशा* कर रहे हैं कि उन्हें अपने विश्वास के लिए वह आधार और प्रमाण मिल जाएगा

जो परम्परागत धार्मिक सिद्धान्तों के अलंकारों और व्याख्याओं को बहुत तोड़ने मोड़ने से भी प्राप्त नहीं हो सकता। वे लोग बाह्य आप्त प्रमाण से किसी भी तरह सन्तुष्ट नहीं हो सकेंगे। आप्त प्रामाण्यवादियों का वास्तविकता के साथ पूर्ण परिचय प्रतीत नहीं होता। जॉन वाइक्लिफ और उसके अनुयायियों ने सन् १३८२ के लगभग जब बाइबिल का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया तो धर्मग्रन्थों का अध्ययन केवल लेटिन जानने वालों तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि वे लोग भी उनका अध्ययन करने लगे जो अंग्रेज़ी जानते थे। उसके बाद की हर घटना ने इस बात पर बल दिया कि ईश्वर की दृष्टि में सब मनुष्य समान हैं और उन्हें पोप या पादरियों से निर्देश प्राप्त किये बिना अपनी इच्छा के अनुसार ईश्वर की सेवा करने का अधिकार है। भारत-जैसे पिछड़े देश में भी अब पुराना ज़माना नहीं रहा, जबकि पुरोहित ही आमतौर पर गाँव का एकमात्र शिक्षित व्यक्ति होता था। यहाँ अधिकाधिक संख्या में लोग अन्य धर्मों के सर्वोत्तम विचारों और विज्ञान की महान् उपलब्धियों से परिचित हो रहे हैं। बुद्धिजीवी-वर्ग आम तौर पर अधिक शिक्षित हो गए हैं और यदि पुरोहितों को उनके सम्मुख आध्यात्मिक जीवन के महत्त्वपूर्ण सत्यों की व्याख्या करनी ही है तो वह ऐसी होनी चाहिए कि उनके तर्कपूर्ण मस्तिष्क की समझ में आ सके और उनके सन्देह से आच्छन्न मन को यह समझा सके कि उन्हें जिन बातों पर विश्वास करने के लिए कहा जा रहा है वे तर्कसंगत हैं। हम सब मनुष्यों को मशीनें नहीं बना सकते, धर्म में भी नहीं। किसी बात को कट्टरता के साथ स्वीकार करना भी उसी तरह एक-पक्षीय है जैसे किसी बात को कट्टरता से अस्वीकार करना।

९. आध्यात्मिक स्वर का अभाव :

मैं पाठक को तरह-तरह के धार्मिक विश्वासों से उत्पन्न व्यामोह से निकलने के उन दूसरे बहुत से उपायों का वर्णन करके थकाना नहीं चाहता, जिन्हें हमारा आज का युग अपना रहा है, जैसे कि अतिमानव की कल्पना, नित जगन्माता की पूजा और परलोक-विद्या आदि।[1] ईश्वर का आधुनिक मानव के मन के साथ समजन करने के लिए किये जा रहे विभिन्न प्रयत्न अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुए हैं। पर उनसे एक शिक्षा मिलती है कि जीवन-पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन हो जाने, नैतिक मूल्यों के बदल जाने एवं आधुनिक युग के म

१. देखिए : फर्गूसन : दि कन्फ्यूज़न आफ़ टंग्स (१९२९)।

रामों में अत्यधिक व्यस्त रहने के बावजूद नित्य और शाश्वत के ज्ञान या आदि सत्य की चली आ रही आकांक्षा न अभी तक बुझी है और न बुझेगी। किसी भी प्रकार के विश्वास का सर्वथा अभाव आत्यन्तिक अनास्था असम्भव है। धर्म के नपे-तुले बँधे-बँधाए आचारों के सम्बन्ध में गहरे असन्तोष के बावजूद लोग उनके प्रति अधिकाधिक गम्भीर होते जा रहे हैं। धर्म में बँधे-बँधाए आचार विलीन हो रहे हैं किन्तु उनकी आवश्यकताएँ अभी तक कायम हैं। करोड़ों व्यक्ति, जिनमें न तो धर्म का अपनाने का साहस है और न उसे अस्वीकार करने का, पथ निर्देश के लिए इधर-उधर मारे मारे फिर रहे हैं। प्राकृतिक-वाद, नास्तिकवाद अज्ञेयवाद, सन्देहवाद, मानवीयवाद और आप्त प्रामाण्य-वाद की दार्शनिक पद्धतियाँ स्पष्ट और सरल हैं किन्तु उनमें यह प्रतीत नहीं होता कि उन्होंने मानवीय आत्मा की नैसर्गिक गहराई का अनुभव किया है। प्राच्य धर्मों में आत्मा की गहराई की ऊर्जस्विता एक ऐसी चीज है जिसके सामने बाह्य अस्तित्व महत्त्वहीन हो जाता है। आभ्यन्तर आत्मा पर बल देने और उसी को सब कुछ समझने एवं जीवन को एक उदासीन माया मानने की प्रवृत्ति अवश्य एकांगी है किन्तु आध्यात्मिक जीवन की उपेक्षा कर देना और भौतिक या प्राण-तत्त्व के साथ उसे गड़बड़ा देना भी उतना ही एकांगी है। यदि अपनी नैतिक संस्कृति और तर्कवादी आलोचना के बाद हम यह अनुभव करते हैं कि हमारा जीवन पथ निर्देशन नहीं पा रहा है तो उसका कारण सिर्फ यह है कि हमने अपने आपको अत्यधिक इहलौकिक बना लिया है। मानवीय प्रकृति का उसकी बौद्धिक क्रिया के पैमाने से नापा जाता है। हमने अपनी वास्तविक आत्मा को पाया नहीं है और इस बात को हम जानते भी हैं। आज जिस युग में हम रह रहे हैं वह आत्म-चेतना युग है। हैसरलिंग और स्पेंगलर के भारी भरकम ग्रन्थों और 'टुडे एण्ड टुमारो' माला की छोटी छोटी पुस्तिकाओं के रूप में दार्शनिक और दर्शन के अध्यापक हम बताते रहे हैं कि हममें क्या कमी है, क्या त्रुटि है। जीवन के साथ समझौता करने की जितनी जरूरत मानव को आज है उतनी पहले कभी नहीं रही। हो सकता है कि हम ऐश्वर्य, प्रभाव और शक्ति एवं जीवन का आनन्द और उत्तेजन प्राप्त करने के लिए निरन्तर व्यग्र हों, किन्तु हम यह निश्चय नहीं कर पाते कि क्या सचमुच ये चीजें ऐसी हैं कि इनके लिए मरा-खपा जाए। हमारे सामने कोई निश्चित उद्देश्य और लक्ष्य नहीं है। हमारा जीवन एक अखण्ड जीवन नहीं, बल्कि खण्ड मात्र है, निरर्थक और उद्देश्यहीन है। हमारे लिए किसी भी चीज

का अधिक अर्थ या अधिक महत्त्व नहीं है। जिज्ञासु और उत्त्पीड़ित मन सन्देह प्रकट कर रहे हैं और वादविवाद में रत हैं और जीवन के अधिक मूल्यवान अर्थ को और उसकी अधिक गहरी वास्तविकता को समझने एवं एक ऐसी संश्लिष्ट व्यापक दृष्टि को उपलब्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं जिसमें सन्देहवाद और सुनिश्चित सत्यों और समसामयिक जीवन के सत्यों और वास्तविकताओं का सामंजस्य हो। हमारा विघटन और विभाजन अत्यधिक गहरा हो गया है और कोई भी संगठित धर्म फिर से इसमें खोयी हुई एकता नहीं ला सकता। हम एक सप्राण धर्म का, एक सजीव दर्शन का इन्तजार कर रहे हैं जो हमारे विश्वास के आधारों का पुनर्निर्माण करेगा और एक ऐसी जीवन-पद्धति का विकास करेगा जिस पर लोग आत्मसम्मान और आनन्द के साथ चल सकें।[1] मुक्ति का अर्थ है अपने-आपको फिर से पाना और उच्चाटन से अपनी रक्षा करना। भगवद्गीता में कहा गया है कि व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है, वह बहुशाखा नहीं होती और उसके उद्देश्य भी बहुत से नहीं होते।[2] उसमें पूर्ण की, जीवन की समग्रता की प्रतीति होती है जो एक स्थायी लंगर का काम करती है और गम्भीरतम संकटों में भी हमारे जीवन-पोत की रक्षा करती है। दर्शन का काम है हमें एक संयोजक आध्यात्मिक केन्द्र प्रदान करना, जिसे प्लेटो ने एक संश्लिष्ट दृष्टि कहा है और हिन्दू दार्शनिक समन्वय का नाम देते हैं, अर्थात् एक ऐसी विचारधारा जो हमें एक आध्यात्मिक समझौते का काम दे सके, जो धर्म की भावना को सन्देहों के विघटन से बचा सके और विभिन्न धर्मों और मतों की लड़ाई को अतीत की वस्तु बना दे।

१. तुलना कीजिए, 'लोग समझते हैं कि उनका काम धर्म के बिना ही चल सकता है। वे नहीं जानते कि धर्म अविनश्वर है, और प्रश्न सिर्फ इतना ही है कि आप कौनसा धर्म ग्रहण करते हैं?' (एमर्सन)। बर्नार्ड शॉ ने भी 'बैक टु मैथ्यूसेलाह' (१९२१) में कहा है, 'मनुष्य को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो जीवन मरण का प्रश्न हो।'

२. अध्याय २, श्लोक ४१। तुलना कीजिए : 'यदि तेरा एक ही आंख हो तो सारा शरीर प्रकाश से भर जाएगा।'

३ धार्मिक अनुभव और उसका वर्णन

१ धर्म की दार्शनिक विचारधारा

धर्म के दर्शन का अर्थ है धर्म का आत्म अवबोध। धर्म का दर्शन एक ऐसी समस्या के समाधान का प्रयत्न करता है जो प्रत्यक्ष रूप से तो एक धार्मिक व्यक्ति की समस्या है जिसे धर्म का अन्तर्ज्ञान या अनुभव है परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से उन सबकी भी समस्या है जो प्रत्यक्ष रूप से तो इस अनुभव में साझेदार नहीं हैं किन्तु इस अनुभव के वास्तविक अस्तित्व पर पर्याप्त विश्वास करते हैं और उसे भ्रम या माया नहीं मानते। कुछ लोगों को ईश्वर का प्रत्यक्ष बोध उतना ही वास्तविक प्रतीत होता है जैसा वास्तविक दूसरों का व्यक्तित्व का अवबोध या बाह्य जगत् का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रतीत होता है। ईश्वर के साथ एकत्व का ज्ञान और उससे पैदा होने वाले सम्भ्रम और पूजा की भावनाएँ जो हम सिर्फ अन्तर्ज्ञान और अनुभव के कुछ क्षण मात्र प्रतीत होते हैं, सन्तों के लिए बिलकुल साधारण और सर्वव्यापी वस्तुएँ हैं। यदि धर्म के दर्शन को वैज्ञानिक बनना है तो उसे अनुभवाश्रित होना और धार्मिक अनुभव की बुनियाद पर खड़ा होना होगा।

चिन्तन प्रारम्भ होने से पूर्व कोई ऐसी वस्तु अवश्य होनी चाहिए जो चिन्तन का विषय हो। चिन्तन अपने विषय को स्वयं पैदा नहीं करता, बल्कि चिन्तन का विषय चिन्तन के पहले से ही होना चाहिए। यदि विचार अपने आपको पहले से विद्यमान विचारणीय तथ्य की अनिवार्यता से मुक्त कर लेता है तो उस हद तक वह विचार नहीं रहता कल्पना बन जाता है। जैसे दृश्य के प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना रेखागणित नहीं हो सकती, उसी प्रकार धर्म का दर्शन भी धर्म के तथ्यों के बिना नहीं हो सकता।

जैसा कि हमने देखा है, कभी-कभी धर्म का मनोविज्ञान यह दावा करता है कि वह दर्शन का स्थान ले सकता है और यह कहकर धार्मिक अन्तर्ज्ञानों की प्रामाणिकता का खंडन करता है कि उनका कारण अवचेतन कामना आदि

मनोवैज्ञानिक कारण है। किन्तु किसी विश्वास की मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों का पता लगाना उसकी प्रामाणिकता का निश्चय करना नहीं है। मनोविज्ञान का यह कहना कि वास्तविक सत्ता को हम केवल ऐन्द्रियक प्रत्यक्ष ज्ञान से ही जान सकते हैं, आध्यात्मिक अन्तर्ज्ञान से नहीं, एक तर्कहीन मान्यता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो हमें अपने सामने की दुनिया का, ब्रिटेन के संविधान का या कर्तव्य के निरुपाधिकत्व का जो अनुभव होता है, उसे उसी स्तर पर रखा जा सकता है जिस स्तर पर कि सन्त पॉल को दमिश्क की ओर जाने वाले मार्ग पर हुए अनुभवों या सन्त ऑगस्टाइन को इटली के बगीचे में हुए अनुभवों को रखा जा सकता है। अनुभव के दौरान में यह प्रश्न नहीं उठता कि जिस वस्तु का अनुभव किया गया है वह वास्तविक है या नहीं। प्रोफेसर अलेक्जेंडर का कहना है, 'पूजा करनेवाले को ईश्वर वैसा ही सत्य प्रतीत होता है, जैसा सत्य एक सामान्य भावुकताहीन दर्शक को हरा पत्ता या सूर्य प्रतीत होता है।'[1] यह देखना धर्म के दर्शन का काम है कि धार्मिक ऋषियों के विचार और प्रत्यय ब्रह्माण्ड के परीक्षित नियमों और सिद्धान्तों के साथ समंजस हैं या नहीं।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि विज्ञान द्वारा औचित्य-स्थापन किये गए मनोवैज्ञानिक अनुभव सभी प्रेक्षकों के लिए न्यूनाधिक एक-जैसे होते हैं, किन्तु धर्म के दर्शन के मूल तथ्य अलग-अलग व्यक्तियों के लिए अलग-अलग और परस्पर-विरोधी होते हैं। पत्थर सभी के लिए कठोर है और आकाश सभी के लिए नीला है, किन्तु ईश्वर कुछ की दृष्टि में बुद्ध है और कुछ की दृष्टि में ईसा। इस अन्तर का यह अर्थ है कि धर्म के तथ्य अधिक जटिल हैं और उनके और अधिक निकट अध्ययन की आवश्यकता है। जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों में हम अपने ऐन्द्रियक अनुभवों को निश्चित शब्दों में व्यक्त करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार धर्म का दर्शन हमारे धार्मिक अनुभवों द्वारा संकेतित विश्व को निश्चित आकार प्रदान करने का प्रयत्न करता है। इस बात का कोई कारण नहीं कि ठोस भावात्मक विज्ञानों के क्षेत्र में जो पद्धतियाँ और प्रणालियाँ इतनी सफलता के साथ आजमायी जा चुकी हैं, उनसे भिन्न प्रणालियों और भिन्न भावना से अन्तिम वास्तविक सत्ता के सम्बन्ध में मानवीय आत्मा के अन्तर्ज्ञानों की परीक्षा की जाए। जब हम भौतिक पदार्थ, जीवन या मन का ज़िक्र करते हैं तो हमारा

१. हिबर्ट जर्नल, जनवरी, १९२८, पृष्ठ २५१।

अभिप्राय कुछ खास किस्म के अनुभवों से होता है। भौतिक वस्तु का अर्थ है एक निश्चित लक्षण वाले कुछ अनुभव और उनकी व्याख्या हम वैद्युतिक ऊर्जा या अन्य प्रकार के प्रतिरोधों की प्राक्कल्पना से करते हैं। यही बात जीवन और मन के सम्बन्ध में भी है। धार्मिक अनुभवों की अपनी अलग विशेषता होती है और उनमें ऐसा प्रतीत होता है कि हम भौतिक पदार्थ, जीवन और मन से भिन्न किसी अन्य वास्तविक सत्ता के सम्पर्क में हैं। हम यह नहीं कह सकते कि हम भौतिक पदार्थ, जीवन और आत्मा को तो जानते हैं, किन्तु ईश्वर या अन्तिम सत्ता को नहीं जानते। वास्तविकता यह है कि हम यह ठीक ठीक नहीं जानते कि भौतिक पदार्थ या जीवन क्या है। हम सिर्फ यह जानते हैं कि वे अनुभव के विषय हैं, भले ही उनका ठीक ठीक स्वरूप हमसे छिपा हुआ है। इसी प्रकार यह हो सकता है कि हम यह न जान सकें कि ईश्वर का ठीक-ठीक अर्थ क्या है, फिर भी उसके बारे में कुछ जानते हों या यह जानते हों कि धार्मिक अनुभव के द्वारा ईश्वर ऐसा प्रतीत होता है। धर्म के सिद्धान्त भी विज्ञान के सिद्धान्तों के समान ही हैं। भौतिक विज्ञानवेत्ता इलेक्ट्रान की प्राक्कल्पना के द्वारा भौतिक सृष्टि की व्याख्या करने का यत्न करता है और यह अनुभव करता है कि उसके बारे में उसने अपने मन में जो चित्र बनाया हुआ है वह उसकी वास्तविकता-जैसा है, किन्तु वास्तव में अब हम यह अनुभव कर रहे हैं कि भौतिक जगत् की अन्तिम प्रकृति (मूल प्रकृति) का कोई भी चित्र बना सकना असम्भव है। इस सम्बन्ध में जितने भी सिद्धान्त हैं वे प्रतीकात्मक हैं और उन्हें इसलिए स्वीकार किया जाता है कि उनसे काम चल जाता है। इसी प्रकार हमारे पास कुछ अनुभव हैं जिनकी व्याख्या हम ईश्वर की मान्यता के आधार पर करते हैं। हमारी कल्पना का ईश्वर भी उतना ही वास्तविक हो सकता है जितना कि इलेक्ट्रान, भले ही हमारा अव्यवहित बोध जितना वास्तविक होता है, उतना वास्तविक वह न हो। ईश्वर का प्रत्यय तत्सम्बन्धी अनुभव की व्याख्या है।

विशुद्ध परिकल्पित (अनुमानाश्रित) धार्मिक दर्शनशास्त्र, जो धार्मिक परम्परा और अनुभव से अपने-आपको अलग कर लेता है और ऐसे आधार-वाक्यों (प्रेमिस) पर चलता है जिनकी प्रामाणिकता विश्वव्यापी है, धार्मिक दर्शन के रूप में पर्याप्त नहीं है। साधारण किस्म के आधार-वाक्यों से ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दिए गए प्रमाणों से धर्म का ईश्वर प्रमाणित नहीं होता, बल्कि एक ऐसा ईश्वर प्रमाणित होता है जो सृष्टि का प्रथम कारण (कर्ता) या

प्रथम सत्ता है और वह धार्मिक अनुभव का विषय तभी बन सकता है जब कि हम धार्मिक दर्शन से शुरुआत करें।[१] विचार का कोई ऐसा पदार्थ, जिसका तथ्य के रूप में कोई आधार नहीं है, अनुभूत निश्चित वस्तु नहीं हो सकता। केवल तर्क के आधार पर कोई स्थायी प्रत्यय नहीं बनाया जा सकता। परिकल्पित अनुमानाश्रित दर्शनशास्त्र ईश्वर की एक सम्भावना के रूप में कल्पना कर सकता है ईश्वर को वास्तविक तथ्य का रूप तो धर्म ही देता है।

दूसरी ओर कट्टर सैद्धान्तिक धार्मिक दर्शनशास्त्र में दार्शनिक अपने-आपको केवल परम्परागत सिद्धान्त का, जो अन्त प्रेरणा या अन्त:स्फुरण द्वारा सीधा ईश्वर से प्राप्त माना जाता है, प्रतिपादक मानता है और उसका काम सिर्फ इतना ही रह जाता है कि इस सिद्धान्त में यदि कहीं कोई विरोध नजर आए तो उसे दूर कर दे। वह कुछ तथ्यों के समूह पर अपने सब तर्कों को प्रतिष्ठित करता है और वास्तविकता के उन तत्त्वों की उपेक्षा कर देता है जिन्हें उसकी तर्क-प्रणाली स्वीकार नहीं करती। एक निश्चित सीमा के भीतर, कट्टर धार्मिक दर्शनशास्त्री को धार्मिक सिद्धान्तों की व्याख्या करने और उनके फलितार्थ को स्पष्ट करने के लिए स्वाधीनता दी जाती है किन्तु उसके निष्कर्ष हमेशा उन सिद्धान्तों के अनुकूल होने चाहिए। यद्यपि उसकी पद्धति और प्रणाली का चुनाव उसकी इच्छा पर निर्भर होता है, किन्तु उसके निष्कर्ष उसके यथेच्छ चयन पर निर्भर नहीं होते।

धार्मिक दर्शन, जो कट्टर धार्मिक दर्शनशास्त्र से भिन्न चीज है, किसी प्रकार का सीमित आधार मानने को तैयार नहीं है, बल्कि वह जिस अनुभव को अपना आधार बनाता है वह उतना ही व्यापक है जितनी कि मानव-प्रकृति। वह परिकल्पित (अनुमानाश्रित) धार्मिक दर्शनशास्त्र के प्रागनुभव के पथ और कट्टर सैद्धान्तिक दर्शनशास्त्र की आत्मरक्षात्मक प्रणाली, दोनों को अस्वीकार करता है और धार्मिक अनुभव के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को अपनाता है और सभी लोगों की, चाहे वे किसी धर्म को मानते हों या न मानते हों, आध्यात्मिक विरासत की पूर्ण निष्पक्षता में परीक्षा करता है। धार्मिक चेतना के दावों और उनकी अन्तः-

१. कांट कहता है, 'पूर्वतन उद्देश्यवाद भी अन्ततः क्या सिद्ध करता है? क्या वह यह सिद्ध करता है कि एक ऐसी बुद्धियुक्त सत्ता है? नहीं। वह सिर्फ यही सिद्ध करता है कि अपनी संज्ञानात्मक मनःशक्ति की रचना के अनुसार हम अपने इस संसार-जैसे किसी संसार की सम्भावना की कोई अवधारणा तब तक नहीं बना सकते जब तक कि हम यह न मान लें कि एक ऐसा सर्वोच्च प्रधान कारण (कर्ता) है जो सोच-समझकर निश्चित उद्देश्य के लिए कार्य करता है। (क्रिटिक आफ जजमेंट, बर्नार्ड्स का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ३११)।

वस्तु की इस प्रकार की परीक्षा में, जिसके पीछे मानव के समूचे आध्यात्मिक इतिहास की पृष्ठभूमि है, एक ऐसी आध्यात्मिक प्रत्यक्षवाद की सम्भावना निहित है, जो एक ओर वैज्ञानिक प्राकृतिकवाद की विघटनकारी शक्तियों का विरोधी है और दूसरी ओर धार्मिक कट्टरवाद का।

७. धर्म का सार :

भावना, नवग और भाव, नैसर्गिक वृत्ति, पूजा और कर्मकाण्ड, प्रत्यक्षानुभव और विश्वास, इन सबको धर्म कहा जाता रहा है और अपने भावात्मक अर्थ में ये सब विचार ठीक भी हैं, हालांकि अपने अभावात्मक या निषेधात्मक अर्थ में वे गलत हैं। ये विचार जहाँ किसी वस्तु को धर्म कहते हैं वहाँ तक वे सही हैं, किन्तु जहाँ ये अपने सिवाय बाकी सबको अधर्म कहते हैं वहाँ ये सही नहीं हैं। श्लाइएरमाखर का यह कथन गलत नहीं है कि धार्मिक चेतना में भावना का तत्व प्रधान रूप से होता है, किन्तु धार्मिक भावना किसी भी अन्य प्रकार की भावना से भिन्न होती है। पशुओं की तरह पर निर्भरता की अनुभूति को भी धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उस दशा में हेगल यह कह सकता था कि श्लाइएरमाखर का कुत्ता अपने मालिक से अधिक धार्मिक होगा। यदि हम काण्ट की भाँति धार्मिक अनुभव और नैतिक चेतना को एक बताने का यत्न करें तो उसका अर्थ यह होगा कि हम इन दोनों क्रियाओं के स्पष्टत भिन्न भिन्न लक्षणों की उपेक्षा करते हैं। धर्म केवल नैतिक मूल्यों की चेतना ही नहीं है। उसमें कुछ रहस्यात्मक तत्व है, वास्तविक सत्ता का एक निरपेक्ष बोध और उसका निरपेक्ष आनन्द है, जो नैतिक चेतना में नहीं होता। धर्म ज्ञान का ही एक आकार नहीं है, जैसा कि हेगल कभी-कभी कहा करता था। यद्यपि धर्म का अन्तर्निहित अर्थ ब्रह्माण्ड की एक दार्शनिक दृष्टि है, किन्तु इस तात्विक दृष्टि और दर्शनशास्त्र में भेद है।

जब प्रोफेसर व्हाइटहेड धर्म की यह परिभाषा करते हैं कि 'धर्म वह क्रिया है जो व्यक्ति अपनी एकान्तता के साथ करता है'[१] तो उनका अभिप्राय यह होता है कि मनुष्य केवल सामाजिक प्रपंच नहीं है। धर्म न तो मौजूदा सामाजिक व्यवस्था के लिए कोई रक्षात्मक तर्क है और न वह सामाजिक मुक्ति के लिए एक साधन है। वह मानव-जीवन की आदर्श सम्भावनाओं की खोज का एक प्रयत्न है, निरर्थक, अहंकारपूर्ण और क्षुद्र मनोभावनाओं के अव्यवहित दबाव से मुक्ति के

१. रिलिजन इन दि मेकिंग (१९२६), पृ० ६।

लिए एक साधना है। धर्म जब तक परम्परागत विचार का पल्ला छोड़कर व्यक्तिगत अनुभव नहीं बनता तब तक वह सच्चा धर्म नहीं है। वह मानवीय मन की एक स्वतन्त्र क्रिया है, जो सर्वथा पृथक् और असाधारण है और जिसका एक स्वतन्त्र रूप है। यह एक आभ्यन्तर और व्यक्तिगत चीज़ है जो सब मूल्यों का एकीकरण और सब अनुभवों का संघटन करती है।[१] यह समग्र यथार्थ सत्ता के प्रति समग्र मानव की प्रतिक्रिया है। हम धार्मिक विषय (वस्तु) को अपनी समग्र मनःशक्तियों और ऊर्जाओं से खोजते हैं। समग्र मानव की यह क्रिया आध्यात्मिक जीवन कही जा सकती है, जो मात्र बौद्धिक या नैतिक या सौन्दर्यबोधात्मक क्रिया या उन सबके सम्मिश्रण से एक सर्वथा भिन्न क्रिया है। आध्यात्मिक अनुभूति, वास्तविक सत्ता को पाने की नैसर्गिक वृत्ति तब तक सन्तुष्ट नहीं होती जब तक कि उसे पूर्ण और नित्य की प्राप्ति न हो जाए। अनित्य की अनित्यता और क्षणिक की क्षणिकता के प्रति उसमें एक दुर्निवार असन्तोष है। इस प्रकार के अखण्ड और अविकल अन्तर्ज्ञान ही धर्म के लिए हमारे आप्त प्रमाण हैं। वे एक ऐसी सत्ता को प्रकट करते हैं जो उनके द्वारा अपने-आपको हम पर अभिव्यक्त करती है और नित्य से कम किसी भी वस्तु के लिए हमारे भीतर असन्तोष पैदा करती है।

३. ईश्वर का व्यक्तिगत अनुभव :

सभी धर्मों के प्रेरणा-स्रोत उनके प्रवर्तक संस्थापकों की व्यक्तिगत अन्तर्दृष्टियाँ हैं। उदाहरण के लिए हिन्दू धर्म की विशेषता यह है कि वह तथ्यों पर निर्भर करता है। जो भी हो कम-से-कम अपने शुद्ध रूप में उसने आप्त प्रमाण पर उतना अधिक निर्भर नहीं किया जितना कि अन्य धर्म करते हैं। यह कोई 'संस्थापित' धर्म नहीं है और न वह किन्हीं ऐतिहासिक घटनाओं पर केन्द्रित है। इसकी विशेषता यह रही है कि इसने आत्मा के आन्तरिक जीवन पर बल दिया

१. जब क्रोचे धर्म को अनुभव का एक स्वतन्त्र रूप मानने से इन्कार करता है और उसे दर्शन का ही एक अपरिपक्व और गलत समझा गया रूप मानता है और जब जेन्टाइल उसे सिर्फ एक बीच की मंजिल मानता है, भले ही वह मंजिल हमारे आध्यात्मिक विकास में आवश्यक हो, तो वे ईश्वर की आत्मगत और प्रागनुभव कल्पनाओं का ही विरोध करते हैं। जिस ईश्वर की महानता के सामने हम अपने-आपको लघु समझते हैं या जिसके प्रेम के सम्मुख हम आत्मसमर्पण कर देते हैं, वह पूर्णतः नित्य और व्याप्त है और मनुष्य के भीतर अनुभवगम्य आत्मा के रूप में विद्यमान है।

है। हिन्दू धर्म का उद्देश्य हमेशा यह रहा है कि इस भौतिक देह के भीतर विद्यमान आत्मा को जाना जाए, धारण किया जाए और स्वयं आत्मस्वरूप हुआ जाए, एक अस्पष्ट और तमसावृत मन्द मनोवृत्ति को स्पष्ट आध्यात्मिक ज्योति में परिवर्तित किया जाए, सुखात्मक सुखों और दुःखों के बीच में रहते हुए उनमें मुक्त स्वतन्त्र मुक्ति प्राप्त की जाए और व्याधि एवं मृत्यु के अधीन शरीर के भीतर दैवीय जीवन की खोज और प्राप्ति की जाए। हिन्दू लोग वैदिक युग को अपने संस्थापकों का युग मानते हैं। वेद अर्थात् ज्ञान मानवीय मन द्वारा ज्ञेय उच्चतम आध्यात्मिक सत्य का सर्वस्वीकृत नाम है। यह ऋषियों की रचना है। ऋषियों के द्वारा दिए गए सत्य किसी तर्क या ऊहापोह के या किसी विधिवत् निर्धारित दार्शनिक विवेचन के परिणाम नहीं हैं, वे आध्यात्मिक दृष्टि के परिणाम हैं। ऋषि वेदों में उल्लिखित सत्यों के रचयिता नहीं हैं, बल्कि वे द्रष्टा हैं। उन्होंने अपनी अन्तरात्मा को विश्व आत्मा के स्तर तक ऊँचा उठाकर नित्य और शाश्वत सत्यों को उपलब्ध किया है। वे परमात्मा के क्षेत्र में सबसे पहले अनुसन्धानकर्ता हैं, जिन्होंने संसार में उससे अधिक वस्तु के दर्शन किए, जितने कि उनके साथियों ने किए थे। उनके वचन क्षणिक दृष्टि पर आधृत नहीं हैं बल्कि स्थायी जीवन और शक्ति के अनवरत अनुभव के परिणाम हैं। जब हम यह कहते हैं कि वेद ही सर्वोच्च प्रमाण हैं तो उसका अभिप्राय सिर्फ यह होता है कि तथ्यों का प्रामाण्य ही सब प्रमाणों का भी प्रमाण है।

यदि अनुभव धर्म की आत्मा है, तो उसकी शब्दों में अभिव्यक्ति उसका शरीर है, जिसके द्वारा वह अपने लक्ष्य को पूरा करता है। इस प्रकार हमारे पास तथ्य हैं और उनकी व्याख्याएँ भी हैं, जिनके द्वारा वे दूसरों तक पहुँचते हैं अर्थात् श्रुति और स्मृति। शङ्कर ने उन्हें क्रमशः प्रत्यक्ष और अनुमान की संज्ञा दी है। उन्हें क्रमशः अव्यवहित ज्ञान और विचार भी कहा जा सकता है। अन्तर्दृष्टि से जाने हुए तथ्य चिरस्थायी होते हैं और उनकी व्याख्याएँ बदलती रहती हैं। श्रुति और स्मृति में अन्तर यह है कि उनमें से एक तथ्य वचन है और दूसरी व्याख्या। सामान्यतः सिद्धान्त, परिकल्पना और धार्मिक सिद्धान्त, ये सभी तथ्यों की जानकारी बढ़ने के साथ साथ समय समय पर बदलते रहते हैं। उनका मूल्य इस बात पर निर्भर है कि क्या वे अनुभव की दृष्टि से पर्याप्त हैं। जब मूल आकार विलीन हो जाते हैं और उनकी व्याख्याओं पर सन्देह होने लगता है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि फिर से स्वयं अनुभव की ओर लौटा जाए और उसकी विषय वस्तु

को अधिक उपयुक्त भाषा में आबद्ध किया जाए। यद्यपि धर्म के अनुभवात्मक स्वरूप पर सबसे अधिक बल हिन्दू धर्म में दिया जाता है, तथापि हरएक धर्म ही अपनी उच्चतम स्थिति में अनुभव का आश्रय लेता है।

बौद्ध-धर्म की सारी प्रणाली बुद्ध के बोधोदय पर केन्द्रित है। मूसा ने भी जलती हुई झाड़ी में ईश्वर को देखा था और एलिजा ने दिव्य अनाहत नाद को सुना था। जेरेमिया में हम पढ़ते हैं, 'भगवान् कहते हैं कि उन दिनों की समाप्ति पर मैं इसराइल के घराने के साथ यह करार करूँगा। मैं उनके अन्तर्भागों में हाथ डालूंगा और उनके हृदय-पटल पर इसे लिख दूँगा।'[1] ईसा का ईश्वरानुभव ईसाई धर्म का बुनियादी तथ्य है। जब वह नदी से बाहर आया तो उसने अपने ऊपर आकाश को फटते और कबूतर की तरह परमात्मा को उसके भीतर से नीचे उतरते हुए देखा। और उसने एक आकाशवाणी सुनी—तू मेरा प्रिय पुत्र है। मैंने तुझे चुना है।' सन्त मार्क के अनुसार यर्दन में जॉन द्वारा बप्तिस्मा देना ईसा के लिए इस हद तक एक स्पष्ट और गहरे धार्मिक अनुभव का अवसर था कि उसने अनुभव किया कि उसे उस पर विचार करने के लिए कुछ समय के लिए एकान्त में जाना पड़ेगा।[2] यह ज़ाहिर है कि उस अनिर्वचनीय घटना को, उस आकस्मिक रहस्योद्घाटन को, उस नयी शान्ति और आनन्द को उसने उन शब्दों में व्यक्त किया जो बाइबिल के द्वारा हम तक पहुँचे है। उसने इस बात पर बल दिया कि उसकी आत्मा का नया पुनर्जन्म हुआ है और उस पुनर्जात आत्मा की नवीनता उसे उन सब लोगों से एकदम अलग कर देती है जो आत्मानुभव के बजाय परकीय अनुभव से धार्मिक बने है। 'मैं तुझसे सच कहता हूँ कि स्त्री की कोख से पैदा हुए मनुष्यों में बप्तिस्मा करने वाले जॉन से बड़ा कोई नहीं हुआ। किन्तु ईश्वर के राज्य में छोटे-से-छोटा आदमी भी उससे बड़ा है।'[3] दमिश्क के रास्ते पर सन्त पॉल ने ईश्वर का जो दर्शन किया और जिसने एक अत्याचारी को धर्मोपदेष्टा बना दिया,[4] वह इसका दूसरा उदाहरण है। सन्त जेम्स के धर्मोपदेश में धार्मिक विश्वास का अर्थ है धर्मग्रन्थ के वचनों को मानना। सन्त पॉल की दृष्टि में धार्मिक विश्वास का अर्थ है ईसा के सम्मुख हृदय और मन का समर्पण। किन्तु इबरानी

१. XXXI. ३७।
२. मार्क I. १०।
३. मैथ्यू XI. ११ भी देखिए।
४. ऐक्ट्स IX-१-६।

लोगों को लक्ष्य करके लिखे गए पत्र (बाइबिल का एक अंश—एपिसल टु हिब्रूज़) में धार्मिक विश्वास का लक्षण करते हुए उसे मन का ऐसा विस्तार बताया गया है जिसके द्वारा हमें अदृश्य जगत् का ज्ञान होता है।[१] मुहम्मद का जीवन रहस्यमय अनुभवों से भरा हुआ है। ईश्वर की व्यक्तिगत अनुभूति के साक्षी केवल पूर्व में ही नहीं हैं। सुकरात और प्लेटो, प्लोटिनस और पोर्फिरी, आगस्टाइन और दांते, बनियन और वेमिली तथा असंख्य अन्य व्यक्ति ईश्वर के अनुभव के साक्षी हैं। ईश्वर का अनुभव सृष्टि के आदि से ही लोगों को समय-समय पर होता रहा है और वह किसी देश या जाति तक सीमित नहीं है।

४. धार्मिक अनुभव का स्वरूप :

धार्मिक अनुभव के स्वरूप का अध्ययन करना एक अपेक्षाकृत कठिन काम है। मनुष्य अधिक-से-अधिक यही आशा कर सकता है कि वह कुछ सामान्य दृष्टिकोणों को लिपिबद्ध कर दे। यह एक ऐसा अनुभव है जिसमें कर्ता-कर्म का स्पष्ट भेद नहीं होता। यह एक अखण्ड, पूर्ण और अविकल चेतना है जिसमें मनुष्य की प्रकृति का यह या वह पक्ष नहीं, बल्कि उसकी समस्त सत्ता अपने को पाती है। *यह चेतना की एक ऐसी स्थिति है जिसमें भावनाएँ मिलकर एकाकार हो जाती हैं,* प्रत्यय परस्पर मिलकर अभिन्न हो जाते हैं, सीमाएँ टूट जाती हैं और सामान्य भेद समाप्त हो जाते हैं।[२] इस कालातीत सत्ता की अनुभूति में वर्तमान और अतीत का लोप हो जाता है। वहाँ चित् और सत् में कोई भेद नहीं है। समस्त सत्ता चेतना है और समस्त चेतना सत्ता है। विचार और वास्तविक सत्ता आपस में घुल-मिल जाते हैं और उसमें कर्ता और कर्म, आत्मा और वस्तु का सृजनात्मक

१. बाइबिल के इस प्रकरण को भी देखिए : १ कोरिन्थियन्स XIII १२ रोमन्स VIII १८-२५ रवेलेशन XXI, २२।

२. 'इस मेय जगत् में हर वस्तु पारदर्शी है। कोई भी छाया दृष्टि का सामना नहीं करता। सब तत्त्व एक दूसरे को देखते हैं और अपनी प्रकृति की अन्तरतम गहराई में एक दूसरे में अनुविद्ध हो जाते हैं। प्रकाश को सर्वत्र प्रकाश मिलता है। हर सत्ता अपने अन्दर समस्त मेय जगत् को धारण करती है और किसी भी सत्ता में उसे पूर्ण रूप में देखती है ... संसार में विशुद्ध गति विद्यमान है, क्योंकि जो ईश्वर गति को उत्पन्न करता है कि उसके साथ उसका वैराग्य नहीं है वह उसे उत्पन्न करते हुए विक्षुब्ध नहीं करता। शेष सब पूर्ण है, क्योंकि वह विरोध पैदा करने वाला किसी वस्तु में स्थित नहीं है। सुन्दर वहाँ अविकल रूप से सुन्दर है क्योंकि उसका असुन्दर में वास नहीं है।' (एनीड्स V ८, ४)

विलय हो जाता है। जीवन को अपनी अविश्वसनीय रूप से अतल गहराइयों का ज्ञान होता है। अनुभूत जीवन और स्वतन्त्रता की इस पूर्णता में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है।[1] एक विश्व-आत्मा की सत्ता व्यक्ति की आत्मा को भेदकर उसके भीतर प्रवेश करती है और व्यक्ति उसके साथ तादात्म्य अनुभव करता है।

अनुभव स्वयं उस समय पर्याप्त और पूर्ण होता है। वह अपूर्ण, खण्डित या अविकल नहीं होता कि उसे अपनी पूर्णता के लिए किसी बाह्य वस्तु की अपेक्षा हो। अनुभव को अपने अर्थ और प्रामाणिकता के लिए अपने से बाहर किसी की अपेक्षा नहीं होती। वह तर्कशास्त्र या दर्शनशास्त्र के बाह्य पैमानों से अपने-आपको नहीं नापता। वह अपना कारण और अपनी व्याख्या स्वयं ही है। वह स्वयं पूर्ण और स्वतःप्रमाण है। वह स्वतःसिद्ध, स्वसंवेद्य और स्वयंप्रकाश है। वह तर्क नहीं करता, व्याख्या नहीं करता, वह केवल चित्स्वरूप और सत्स्वरूप है, अर्थात् वह 'जानता है' और 'विद्यमान है'। वह प्रमाणापेक्ष नहीं है, इसलिए पूर्णत्व की सीमा को स्पर्श करता है। वह इतना प्रबल होता है कि उसका खण्डन नहीं किया जा सकता। वह विशुद्ध सम्बोध है, सम्पूर्ण अर्थ है और पूर्ण प्रमाण है। योगसूत्र के प्रणेता पतंजलि के अनुसार प्रज्ञा सत्य से भरी हुई या सत्य को धारण करने वाली है।[2]

ईश्वर के इस साक्षात्कार में सामान्य जीवन की अशान्ति लुप्त हो जाती है और एक आन्तरिक शान्ति, आन्तरिक बल और आन्तरिक आनन्द की उपलब्धि होती है। ग्रीक लोग इसे 'एटारैक्सी' कहते हैं, किन्तु यह शब्द हिन्दू दर्शन के 'शान्ति' शब्द की तुलना में अधिक अभावात्मक प्रतीत होता है। हिन्दुओं के 'शान्ति' शब्द का अर्थ बाह्य पीड़ा और निराशा, हानि और उद्वेग के बीच शान्ति और विश्वास, आनन्द और शक्ति की एक ठोस भावात्मक अनुभूति है।

१. 'उस मूर्ति का दर्शन कोई तर्क नहीं है। यह तर्क से अधिक है, वह तर्क से पहले है और तर्क के बाद भी है और वह दृश्य वस्तु भी है। और सम्भवतः हमें यहां उस दृश्य का उल्लेख नहीं करना चाहिए क्योंकि यदि हमें द्रष्टा और दृश्य को अभिन्न न मानकर उनमें भेद करना हो तो भी द्रष्टा दृश्य को ठीक ठीक विविक्त नहीं करता, वह उसे दूसरी वस्तु की भांति नहीं देखता। इसलिए यह दृश्य अनिर्वचनीय है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति किसी भी ऐसी वस्तु को, जिसे उसने परकीय रूप में न देखकर अपने साथ अभिन्न रूप में देखा है, अपने से अन्य के रूप में कैसे वर्णन कर सकता है?' (एनीड्स, VI, ६ और १०)।

२. ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा (योग सूत्र, १-४८)।

साक्षात्कार का यह अनुभव अत्यन्त सन्तोषप्रद होता है जिसमें अन्धकार प्रकाश में, दुःख आनन्द में और निराशा आशा में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार के अनुभव का अविच्छिन्न नैरन्तर्य ही वास्तव में स्वर्ग है। स्वर्ग कोई अलग ऐसा स्थान नहीं है जहाँ ईश्वर का वास है, स्वर्ग मनुष्य के अस्तित्व का एक ऐसा प्रकार है जो पूर्ण यथार्थ हो।

इस प्रकार के अनुभव के फलितार्थ के सम्बन्ध में हमारा कितना ही विवाद हो, हम उसकी वास्तविकता से इनकार नहीं कर सकते। यह ठीक है कि अधिक गहरी प्रज्ञा (अन्तर्ज्ञान) हरएक को नहीं होती, किन्तु हल्के रूप में इस प्रकार के अनुभव उन सबको होते रहते हैं जो गहरी भक्ति के समय प्रार्थना के उत्तर में किसी सत्ता की उपस्थिति को अनुभव करते हैं या महान् कलाकृतियों में मन पर पड़ने वाले मोहक प्रभाव को अनुभव करते हैं। जब हम अपने ऊपर किसी नये ज्ञान का प्रकाश या किसी कविता में उत्पन्न रोमांच महसूस करते हैं, किसी बड़े के प्रति, चाहे वह परिवार हो या राष्ट्र, आत्मोत्सर्ग करते हैं अथवा किसी के प्रेम में आत्मार्पण करते हैं तो हम उस रहस्यानुभूति की हलकी-सी झाँकी पाते हैं। मानवीय प्रेम हमें सम्भवतः उस अनुभूति के सबसे अधिक निकट ले जाता है। यह एक गहरा और गम्भीर अनुभव हो सकता है एक ऐसा सिंहद्वार हो सकता है जिसमें से होकर हम उदात्त सत्ता के राज्य में प्रवेश कर सकते हैं। सार्को ने फ्रिन्-निस के प्रति प्रेम की अनुभूति से उद्वेलित होकर उससे कहा था, 'मेरा जीवन, मेरा सर्वस्व और मेरा उससे भी अधिक।' अपने हृदय और मन को प्रेम में डुबा देना ब्रह्माण्ड के रहस्य को उद्घाटित कर देना प्रतीत होता है। उस पार की उस महान् सत्ता में खोकर हम बाह्य जगत् को बिलकुल भूल जाते हैं। धार्मिक रहस्यानुभूति इसीलिए प्रायः प्रेम की भाषा में व्यक्त की जाती है। उपनिषदों और 'सांग आफ सांग्स' के समय से यही परम्परा चली आ रही है।

अन्तर्ज्ञानात्मक अनुभव क्योंकि हमेशा नहीं होते, कभी-कभी ही होते हैं, इसलिए वे इलहाम के रूप में होते हैं। हम इन्हें अपनी इच्छा से आदेश देकर पैदा नहीं कर सकते और न जारी रख सकते हैं। हम नहीं जानते कि वे कैसे और क्यों पैदा होते हैं। कभी-कभी वे हमारी इच्छा के विरुद्ध भी पैदा होते हैं। उनके सम्बोध की विधि सामान्य के अवबोध से परे की वस्तु है और जो असामान्य है उसका मूल कारण अतिप्रकृत होता है। जिन्हें अन्तर्दृष्टि की देन प्राप्त होती है वे अपने-आपको प्रायः ईश्वर द्वारा विशेष रूप से चुने गए और विशेषाधिकार-

प्राप्त व्यक्ति मनमान है। उन्हें यह मालूम होता है कि उन्हें ऐसा प्रकाश मिला है जो दूसरों को नहीं मिला, इसलिए वे यह विश्वास करने लगते हैं कि यह प्रकाश उन्हें प्रकाशित करने के लिए ही उन पर डाला गया है और वे स्वयं ईश्वर के अनुसन्धान के कर्ता नहीं हैं, दूसरों के द्वारा अनुसन्धेय भी हैं अर्थात् जैसे वे ईश्वर को खोजते हैं, वैसे दूसरे उन्हें खोजें।' 'जिसे ईश्वर ने चुना है वही यह जान सकता है।'

यदि हमारे सब अनुभव स्वत.प्रमाण हैं तो सत्य-असत्य का सवाल ही नहीं उठेगा। उनकी सिद्धि के लिए कोई ऐसा तर्क या उपमान नहीं होगा जिसके साथ उनका सामंजस्य आवश्यक हो। उनके मूल्य की परीक्षा की न कोई आवश्यकता होगी, न इच्छा। हमारे सब अनुभव स्वत प्रमाण होंगे, अर्थात् समस्त वास्तविकता तत्काल अव्यवहित रूप से प्रामाणिक होगी। किन्तु महानतम मानवीय मनों को स्वत प्रमाण अनुभवों की सिर्फ कुछ झाँकियाँ ही मिलती हैं। इस अनुभव के क्षण बहुत अस्थायी और विरल होते हैं। इसलिए हमें ऐसे अन्तर्ज्ञान स्थायी और अविच्छिन्न रूप में नहीं होते जिनमें यथार्थता स्वयं अव्यवहित साक्षी के रूप में उपस्थित होती है। किन्तु हमें यह विश्वास है कि ऐसी आदर्श स्थिति, जिसमें स्थायी अन्तर्ज्ञान हो, असम्भव नहीं है।

जब तक अनुभव रहता है, तब तक व्यक्ति ध्यान में मग्न और अविचल रहता है, किन्तु कोई भी व्यक्ति सदा उस स्थिति में नहीं रह सकता। जीवन एक अविश्रान्त उफान है। अनुभव करने वाले द्रष्टा को अपने अनुभव की विलक्षणता का अनुभव भी मुश्किल से ही पाता है कि तत्काल उसकी वह मुद्रा टूट जाती है और वह फिर से कामना और प्रलोभन, विरोध और संघर्ष के भँवर में फँस जाता है। एक बार उस अनुभव का साक्षात्कार समाप्त हो जाने पर, अनुभव करने वाला उसे फिर से पकड़ने का प्रयत्न करता है, और जिसे वह अब फिर सचमुच नहीं पा सकता उसे स्मृति में रखने की कोशिश करता है। इस प्रकार चिन्तन और विमर्श की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। वह उन धन्य क्षणों को नहीं भूल सकता जो शेष जीवन-भर उसके लिए महान् क्षण बने रहते हैं और उसके विश्वासों को वह बल और स्पष्टता प्रदान करते हैं जिन्हें कोई भी वस्तु हिला नहीं सकती। व्यक्ति विश्वास की ऐसी अभिवृत्ति अपनाता है जो अतीन्द्रिय यथार्थता को स्वीकार करने की आवश्यकता से प्रेरित होती है। वह इस बात की पुष्टि करता है कि आत्मा का सत्ता के एक ऐसे स्तर के साथ सीधा, घनिष्ठ और भास्वर सम्बन्ध होता है

जिसके साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं होता। वह एक ऐसे जगत् के साथ सम्पर्क में आती है जो अधिक ज्योतिर्मय है और सामान्य जगत् से किसी भी कदर कम वास्तविक नहीं है। यह अनुभव वास्तविक सत्य के आविष्कार और अनावरण के रूप में होता है, मानो सत्य के ऊपर से माया का परदा उठ गया हो, वह केवल अनुमान या कल्पना की सृष्टि के रूप में नहीं होता। वास्तविक सत्य पहले से ही हमारे सम्मुख विद्यमान होता है, वह हमारे मन के उपादानों से एकाएक बनता नहीं है।[1] अनुभव करने वाला यह दावा करता है कि वास्तविक सत्य का उसका ज्ञान अव्यवहित है और उसमें अन्तर्ज्ञानात्मक सुनिश्चितता है, जो उन वस्तुओं से परे है, जो सिर्फ तर्क की सीमा में आती हैं। कोई भी दूसरा अनुभव या तार्किक आलोचना उसकी सुनिश्चितता की भावना को विक्षुब्ध नहीं कर सकती। सन्देह और अविश्वास सम्भव नहीं रहते। वह बिना किसी हिचक के और इस भावना से बोलता है कि उसके अनुभव में कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। उपनिषदों के ऋषि, बुद्ध, प्लेटो, ईसा, दांते, एकहार्ट, स्पिनोजा और ब्लेक—सभी के वचनों में हम यह सरलता और प्रामाणिकता पाते हैं। वे वास्तविक सत्ता का वर्णन लेखक की भाँति नहीं करते बल्कि ऐसे व्यक्तियों की भाँति करते हैं, जो उस सत्ता 'जो थी, है और होगी' (नित्य) के साथ अव्यवहित सम्पर्क में हों। सन्त टेरेसा ने कहा है, 'यदि तुम यह पूछो कि आत्मा यह कैसे देख और जान सकती है कि वह ईश्वर में लीन हो गई थी, क्योंकि इस तल्लीनता के समय न वह कुछ देखती है, और न समझती है, तो मैं यह उत्तर दूँगी कि उस समय वह इस सत्य को नहीं देखती किन्तु बाद में इस सत्य को स्पष्ट रूप में देखती है, जबकि वह अपने-आपमें फिर से लौट आती है, और उसे वह किसी कल्पना से नहीं, बल्कि एक ऐसी सुनिश्चितता से देखती है जो उसमें सदा विद्यमान रहती है और जो उसे केवल ईश्वर से ही प्राप्त हो सकती है।[2]

सुनिश्चितता की अनुभूति के साथ-साथ इस अनुभव में अनिर्वचनीयता की अनुभूति भी रहती है। वह अभिव्यक्ति को उत्तेजन देते हुए भी उससे ऊपर रहता है। वह अपने-आप में अनुपम और अद्वितीय होता है। कोई भी ऐसा दूसरा अनुभव नहीं जिससे हम उसे सीमा में बाँध सकें, कोई ऐसी कल्पना नहीं जिससे हम उसकी व्याख्या कर सकें। केन उपनिषद में कहा गया है, 'यह विदित और

१. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, १, १, १।
२. जेम्स: वैराइटीज आफ रिलिजस एक्सपीरिएंस (१९०६), पृ० ४०६।

अविदित दोनों से ऊपर है।'[1] लाओत्ज़े ने अपनी 'ताओ तेह किंग' के प्रारम्भ में इसका वर्णन इस प्रकार किया है, 'जिस ताओ का वर्णन किया जा सकता है वह अपरिवर्तनीय ताओ नहीं है। वह नाम जिसे दिया जा सकता है अपरिवर्तनीय नाम नहीं है।'

अनुभव की समयातीत अन्तर्वस्तु वह है जिसके बारे में और कुछ नहीं कहा जा सकता।[2] भारतीय धर्म-ग्रन्थों में ऐसे गुरुओं का उल्लेख है जिन्होंने इस प्रश्न पर मौन धारण कर ही अपने शिष्यों के सन्देह निवृत्त कर दिए।[3] जब हम अन्तिम परम सत्ता का उत्साहपूर्ण वर्णन सुनते हैं तो हमें लाओत्ज़े का यह कथन स्मरण रखना चाहिए कि जो ताओ को जानता है, उसकी पहचान यह है कि वह उसके बारे में कुछ भी कहने से इन्कार करेगा।

अनिर्वचनीय अनुभव का वर्णन कल्पनाओं द्वारा नहीं किया जा सकता। कल्पनाएँ भी तर्कपूर्ण और बुद्धियुक्त चिन्तन की उपज है। शंकर के अनुसार सभी आकारों और रूपों में कुछ-न-कुछ असत्य का तत्व रहता है और वह यथार्थ सभी रूपों और आकारों से ऊपर है। इस साक्षात्कार के अनुभव के वर्णन के हरेक प्रयत्न में कुछ-न-कुछ असत्य होता है। स्वयं इस अनुभव में आत्मा यथार्थ सत्ता के साथ पूर्णतः एकात्म हो जाती है, इसलिए वह ज्ञाता और ज्ञेय दोनों होती है, किन्तु उस अनुभव के किसी भी बुद्धियुक्त वर्णन में यह बात नहीं होती। मानसिक चित्रों अथवा तार्किक सपक्षों या उपमानों से मनुष्य की अन्तरतम सत्ता का बाह्य वर्णन नहीं किया जा सकता।[4] ईश्वर इतना महान् है कि शब्दों से उसका वर्णन

१. १. ३.

२. 'वह एक अनन्त समार है, हे मेरे भाई, और वहां एक नामहीन सत्ता है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता।
सिर्फ वही उसे जान सकता है जो उस क्षेत्र तक पहुंचा है, वह श्रुत और उक्त सबसे ऊपर है।
वहां रूप, देह, लम्बाई और चौडाई कुछ नहीं है. मैं तुम्हें कैसे बताऊँ कि वह कौनसा है?
(कबीर : रवीन्द्रनाथ टैगोर का अंग्रेजी अनुवाद, ७६)

३. तुलना कीजिए : लाओत्ज़े : 'ऐसे लोग बहुत कम हैं जो बिना मुँह से कुछ शिक्षा दे सकें और बिना किसी क्रिया के कुछ उपयोगी हो सकें।'

४. तुलना कीजिए : सन्त पॉल के २ कोरिन्थियन्स xii २-४ में दिये गए अपने अनुभव को व्यक्त करने वाले शब्द। मिडिलटन मरे की पुस्तक 'गॉड' (१९२९) के पृष्ठ ३६ का यह वर्णन भी देखिए : 'तब क्या हुआ? अगर मैं आपको यह बताऊँ तो वास्तव में मैं आपको एक रहस्य बता रहा होऊंगा। किन्तु एक ऐसा क्षण आया जब कि अन्धकार आलोक में परिणत हो गया, शैत्य उष्णता में बदल गया, जबकि वह एक विराट् लहर की भांति मेरे तट और सीमा के

कहा है, 'उनकी व्याख्या उनके प्रशस्त शाब्दिक अर्थ द्वारा नहीं, बल्कि उनके अन्तर्निहित गूढ़ अर्थ से की जाती है।' पवित्र धर्मग्रन्थों की तार्किक आलोचना और छान-बीन का बहुत-कुछ कारण प्रतीकात्मक वचनों और शाब्दिक अर्थों को आपस में गड़बड़ा देना है। यह सिद्ध करना आसान है कि संसार सात दिनों में नहीं बना था या हव्वा आदम की पसलियों से नहीं बनायी गई थी। जो कुछ धर्मग्रन्थों में कहा जाता है वह वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य नहीं होता, उनका अन्तर्निहित अर्थ भिन्न होता है।

५. अनुभव और विभिन्न अभिव्यक्तियाँ :

यदि हमारे सब अनुभव तत्काल पर्याप्त अन्तर्ज्ञानात्मक हों तो उन अव्यवहित अन्तर्ज्ञानों पर किसी भी परिस्थिति में सन्देह नहीं किया जा सकता, किन्तु क्योंकि हमें अपने अन्तर्ज्ञानात्मक अनुभवों का दूसरों के साथ सम्बन्ध जोड़ना होता है, इसलिए हमें सूत्रों और प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है। उन अनुभवों को ठोस रूप देने और उनका मूल्यांकन करने का प्रकाव्यात्मक कार्य करना अनिवार्य होता है। अपने अनुभवों को दूसरों तक पहुँचाने और अपने शेष जीवन के लिए उनके अन्तर्निहित अर्थ को स्पष्ट करने और विरोधी आलोचनाओं से उनकी प्रामाणिकता की रक्षा करने के लिए एकमात्र तर्क का ही आश्रय लेना पड़ता है। जब हम इस अनुभव की सचाई के दावे की परीक्षा करते हैं तो हम वास्तव में उन आकारों और प्रतीकों के दावे की परीक्षा करते हैं जिनमें कि वह अनुभव अभिव्यक्त होता है। ऋषियों के वचनों में हमें मूल कथनों और उनकी व्याख्याओं में भेद करना चाहिए। यह भी हो सकता है कि जिसे हम प्रत्यक्ष अव्यवहित अनुभव समझते हैं वह अनुमान का परिणाम हो। अव्यवहितता का अर्थ मानसिक व्यवधान का अभाव नहीं है, बल्कि उसका अर्थ सचेतन विचार के व्यवधान का अभाव है। जो सबल प्रत्यय किसी ज्ञात बौद्धिक प्रक्रिया के व्यवधान के बिना हमें प्राप्त होते हैं, वे प्रायः अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में हमें दिये गए प्रशिक्षण और अभ्यास के परिणाम होते हैं। हमारा अतीत अनुभव हमें मूल सामग्री उपलब्ध कराता है और नयी अन्तर्दृष्टि उसे नया अर्थ प्रदान करती है। जब हमसे यह कहा जाता है कि आत्माओं ने कृष्ण या बुद्ध, ईसा या मुहम्मद की मुक्तिदायक शक्ति अपने जीवनों में अनुभव की है तो हमें उन आत्माओं के अव्यवहित अनुभव या अन्तर्ज्ञान में जो अभ्रान्त हो सकता है, और उसके साथ मिली हुई उसकी व्याख्या में

भेद और विवेक करना चाहिए। सन्त टेरेसा का कहना है कि अपने अनुभव के बाद यह अंत (ट्रिनिटी) का ममभन लग गई। यदि उस अत के सम्बन्ध में पहले से कोई ज्ञान न हो ता तो अवश्य ही वह उस साक्षात्कार को अंत का साक्षात्कार कभी न समझ पाती।[१] इसी प्रकार यदि पाल को ईसा के बारे में कुछ ज्ञान न होता तो दमिश्क के मार्ग पर उसने जो वाणी सुनी उसे वह ईसा की वाणी कभी न समझ पाता। हम उन के सरल तथ्यों और उन वर्णनों में अवश्य भेद करना चाहिए जो धर्मशास्त्रों की पूर्व अवधारणाओं के द्वारा हम तक पहुँचते हैं। आत्मा का अपने निज के सामान्य स्व से भिन्न फिर भी अपने भीतर विद्यमान एक विराट आध्यात्मिक शक्ति के साथ सम्पर्क और उस सम्पर्क से एक नये स्व के जन्म का प्रारम्भ एक तथ्य है किन्तु इस शक्ति को बुद्ध या ईसा जैसे ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ तादात्म्य और अपने भीतर विद्यमान विश्व-आत्मा की सरल और सीधी-सादी अभिव्यक्ति को बाहर से होने वाली एक नाटकीय अभिव्यक्ति के साथ गड़बड़ा देना एक व्याख्या है, जो एक व्यक्तिगत स्वीकृति भले ही हो किन्तु उसका वस्तुनिष्ठ सत्य होना आवश्यक नहीं है। प्रज्ञाता को सीधा कुछ अनुभव होता है किन्तु वह उन परम्पराओं की भाषा में जिनका उसे प्रशिक्षण मिला होता है, उसकी व्याख्या करता है। हर व्यक्ति जिन चीज़ों के उल्लेख के द्वारा इस अनुभव की व्याख्या करता है वे इस बात पर निर्भर हैं कि किस समाज में उसका जन्म हुआ और किस संस्कृति में वह बढ़ा।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि विशुद्ध और निष्कलुष अनुभव जैसी कोई चीज़ नहीं है। अनुभव हमेशा व्याख्याओं की तह में मिला रहता है। जिसे हम अव्यवहित अन्तर्ज्ञान कहते हैं उसमें मन का व्यवधान रहता है। धार्मिक ग्रन्थों के वचन हमें ज्ञान या व्याख्यात अनुभव, एक 'तत् यत्' प्रदान करते हैं। इसमें 'तत्' सिर्फ एक तथ्य का, एक स्वतोभावी आध्यात्मिक अनुभव का कथन है, जिसमें सब भेद मिट जाते हैं और व्यक्ति समष्टि या समग्र पूर्ण में विलीन होकर तद्रूप हो जाता है। यह अनुभव अवर्णनीय होने पर भी वास्तविक होता है।

संसार के धार्मिक उपदेष्टाओं में बुद्ध ही एक ऐसा व्यक्ति था जिसने आध्यात्मिक अनुभव की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए भी किसी अनुभवातीत वस्तु से उसकी व्याख्या करने से इन्कार किया। उसकी दृष्टि में यह विचार, कि

१ एवलिन अण्डरहिल : मिस्टिसिज्म, पृष्ठ १३२, पाकेट संस्करण।

आध्यात्मिक अनुभव ईश्वर के साथ हमारा सीधा सम्पर्क स्थापित करता है, अपने-आपमें एक व्याख्या है, अव्यवहित अनुभव नहीं है। बुद्ध हमें अनुभव का विवरण देता है उसकी व्याख्या नहीं करता, हालांकि ठीक-ठीक देखा जाए तो ऐसा कोई भी अनुभव नहीं है जिसकी हम व्याख्या न करते हों। अन्तर केवल मात्रा का है। किन्तु बुद्ध अव्यवहित अनुभव के सबसे अधिक निकट है, वह सिर्फ इतना कहकर ही सन्तोष कर लेता है कि एक गहरा आध्यात्मिक जगत् दृश्य और स्पृश्य जगत् में अन्तःप्रविष्ट हो जाता है। इस प्रकार का आध्यात्मिक जगत्, जो पूर्ण अन्तर्ज्ञान के साक्ष्य से प्रमाणित है, बहुत्व और परिवर्तन के जगत् से, जिसे इन्द्रियाँ और अवबोध हमारे सामने प्रस्तुत करते है, परे बल्कि उसके भीतर ही विद्यमान है। मूल सत्ता एक ऐसी निरुपाधिक सत्ता है, जिसकी विचार के द्वारा पूर्णतः अभिव्यक्ति और प्रतीकों के द्वारा द्वारा पूर्णतः वर्णन नहीं किया जा सकता, जिसमें 'सत्ता' शब्द भी अर्थहीन हो जाता है, केवल 'निर्वाण' शब्द ही सार्थक रह जाता है। जब बुद्ध से यह प्रश्न किया गया कि वह उसे ठोस भावात्मक रूप में प्रस्तुत करें तो उसने उसे नित्य धर्म का नाम दिया जो ब्रह्माण्ड का मूल सिद्धान्त और समस्त व्यवहार का आधार है।[1] इस धर्म के कारण ही जीवन के महत्त्व पर हमारा विश्वास जमता है।

हिन्दू दार्शनिक इस अनुभव की अनिर्वचनीयता को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे उसकी व्याख्या करने हुए उसे मात्रा के अनुसार 'अत्यन्त अवैयक्तिक' से 'अत्यन्त वैयक्तिक' तक अनेक श्रेणियों मे बाँटते है। व्याख्या की पूर्ण स्वतन्त्रता ही हिन्दू धर्म की उदारता का मुख्य कारण है। हिन्दू-परम्परा की उदारता और व्यापकता के कारण ही ऐसा प्रतीत होता है कि उसमे विभिन्न प्रकार की धार्मिक अवधारणाओं को स्थान प्राप्त है।

हिन्दू विचारधारा यह स्वीकार करती है कि इस अनुभव की निर्विवाद अन्तर्वस्तु 'तत्' है जिसके बारे मे इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। आध्यात्मिक अनुभव जितना गहरा और जितना घनिष्ठ होगा उतना ही वह चिह्नों और प्रतीकों से मुक्त होगा। गहरा अन्तर्ज्ञान सर्वथा मौन होता है। मौन के द्वारा हम 'बिना स्वीकार किये स्वीकार करते हैं' कि आध्यात्मिक जीवन की महत्ता अवर्णनीय है, वह मन और वचन की पहुँच से बाहर है। वह एक अथाह गहरा रहस्य

१. लेखक की पुस्तक 'इंडियन फिलासफी', खंड १, द्वितीय संस्करण (१६२६) का परिशिष्ट देखिए।

हैं और शब्द उसका वर्णन करने में धोखा दे जाते हैं।[1]

अनुभवाश्रित अवधारणा अपने क्षेत्र में बिलकुल ठीक है, किन्तु उसे हम *अपनी बुनियाद को, जिसे मानव की अन्य शक्तियों के साथ वह स्वतःसिद्ध* स्वीकार करती है, आलोचना नहीं करने दे सकते। सर्वोच्च सत्ता ज्ञान की क्रिया का विषय या कर्म नहीं है, वह स्वयं ज्ञानमय है, उसके बिना ज्ञान नहीं हो सकता। यद्यपि बुद्ध की दृष्टि में, जिसका झुकाव नैतिकता की ओर था, नित्य आत्मा 'धर्म' है जिसकी शक्ति से हम जीते और संघर्ष करते हैं, किन्तु अनेक हिन्दू विचारकों की दृष्टि में वह ज्ञानमय है। वह नित्य प्रकाश है, जो दृश्य वस्तु नहीं, दर्शन-स्वरूप है। सत्ता की अन्तिम स्थिति, जिसमें सब भेद और द्वैत नष्ट हो जाते हैं, *जहां जीवन और मरण का कोई महत्त्व नहीं रह जाता, क्योंकि वे* उसमें उत्पन्न होते हैं, जहां आत्मा आत्मत्व के आनन्द का उपभोग करती है, जहां तर्क कोई विक्षोभ और चंचलता पैदा नहीं करता, अभावात्मक रूप में ही अभिव्यक्त की जा सकती है। उपनिषद् और शंकर परम सत्ता को अभावात्मक रूप में प्रकट करने का यत्न करते हैं। 'न वहां चक्षु पहुंचते हैं, न वाक् और न मन।'[2]

इन अभावात्मक वर्णनों में एक खतरा है। समस्त गुणों और सम्बन्धों

प्लूटार्क ने मिस्र के साइस नगर में आइसिस की एक मूर्ति पर लिखा हुआ यह लेख हमारे लिए सुरक्षित रखा है, जो इस प्रकार है : 'मैं समस्त भूत, वर्तमान और भविष्य हूं और कोई भी नश्वर मेरा घूंघट ऊपर से नहीं उठा सका है।' हूकर ने अपनी पुस्तक 'एक्लिसियास्टिकल पोलिटी' (१.२) में कहा है : 'मनुष्य के दुर्बल मस्तिष्क के लिए सर्वोच्च सत्ता के कामों में अधिक गहराई तक जाना खतरनाक है। यद्यपि उसे जानना ही जीवन है और उसका नाम लेना आनन्द है, तथापि सबसे उत्तम ज्ञान यह जानना है कि हम उसे ठीक ठीक नहीं जानते, न जान सकते हैं, और उसका सबसे सुरक्षित वर्णन मौन रहना ही है, क्योंकि तब हम बिना स्वीकार किये स्वीकार करते हैं कि उसकी महिमा अवर्णनीय है, उसकी महानता हमारी क्षमता और पहुंच से बाहर है। वह ऊपर है और हम पृथ्वी पर हैं। इसलिए यही अच्छा है कि हम बहुत कम शब्द उसके बारे में कहें और सोच समझ कर कहें।

[2] बृहदारण्यक उपनिषद्, ३.८.८। शंकर की दृष्टि में वह निर्गुण, निराकार, निर्विशेषण और निरुपाधिक है। वह तत्सत् है। ईसाइयों के ये शब्द ठीक ही हैं, 'सचमुच, तू ईश्वर है जो अपने आपको छिपा रहा है।' एरियोपेगस के राजदरबार के सदस्य डायोनाइसियस की दृष्टि में, ईश्वर एक नामहीन उच्च सत्ता है, जो स्वयं अच्छाई से भी ऊपर है। सन्त आगस्टाइन ने पूर्ण ब्रह्म को स्वयम्भू तत्सत् कहा है।

का प्रतिषेध करके हम अपने-आपको इस आरोप का पात्र बनाते हैं कि हम परम सत्ता को एक ऐसी सत्ता में परिणत कर दिया है जो पूर्ण शून्य या अभा मात्र है। अभावात्मक वर्णन का उद्देश्य वास्तव में आत्मा की इस अनुभूति प्रकट करना है कि ईश्वर सामान्य मानवीय ज्ञान से परे है, वह परात्पर है, ऐसी सत्ता है जिसके बारे में अभावात्मकता के सिवाय कुछ भी कहा नहीं सकता। उसका अर्थ ईश्वर को उसकी भावात्मक सत्ता से विरहित करना है। ईश्वर की अक्षय भावात्मकता ही समस्त अवधारणात्मक रूपों में प्रस्फुटित होती है। जब उसे हम अभाव के रूप में प्रकट करते हैं तो उसका अभिप्राय इतना ही होता है कि कोई भी उत्पन्न प्राणी उसकी सकल्पना नहीं कर सकता उसे नाम-रूप से अलकृत नहीं कर सकता, उसका यह अर्थ नहीं होता कि वह सर्वथा अभावात्मक है। धर्मग्रन्थ उसका प्रदर्शन या वर्णन नहीं करते, वे उस अस्तित्व का प्रतिपादन-मात्र करते हैं। आध्यात्मिक अनुभव की तीन उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं—सत्, चित् और आनन्द। यदि हमारे अनुभव के कुछ अश इ विशेषताओं से युक्त है तो उसका यह अर्थ है कि हमारे सभी अनुभव इसी प्रका के हो सकते है। ऐसी चेतना, जिसमे समस्त अनुभव अव्यवहितता, चिरस्वरूप और अपने से भिन्न हर वस्तु से पूर्ण मुक्ति के रूप में विद्यमान है, दिव्य ईश्वरी चेतना है, वही हमारा ध्येय है। हम उसे भास्वर ज्योति के रूप में, सदा दीप्ति मान और आत्मप्रकाश चेतना की विद्योतित ज्वाला के रूप में चित्रित करते हैं दिव्य स्थिति में सत् ही अपना अव्यवहित ज्ञाता है, वह स्वय ज्ञानस्वरूप है औ वह मुक्त और आनन्दमय है। उसकी सत्ता में कोई न्यूनता नहीं है, उसके ज्ञान मे कोई कमी नहीं है और उसमे कोई अनैक्य और भिन्नता नहीं है। वह पूर्ण सत्, चित् और आनन्द है। ईश्वर मे सत्, चित् और आनन्द पृथक्-पृथक् होते हु भी एक ही है। मानवीय सत्ता की सच्ची और अन्तिम अवस्था दैवीय सत्ता है। जीवन का सार है बाह्य सत्ता की गति, भाव का सार है सत्ता मे स्वतोभा आनन्द की लीला; विचार का सार है सर्वव्यापी सत्य की स्फुरणा; क्रिया क सार है विश्वव्यापी और अपने-आपको प्रभावित करने वाली अच्छाई। जि और उसके आकार, इच्छा और उसकी उपलब्धियाँ, प्रेम और उसके सौहार्द— ये सभी एक दिव्य आत्मा पर आधृत हैं। केवल मानवीय प्राणियो मे ही हैं तनाव और दबाव आदि हैं; इसीलिए वे ईश्वरीय पूर्णता को प्राप्त नहीं क सकते। सर्वोच्च सत्ता सत् है—सत्य नहीं, पूर्ण है—कल्याणमय नहीं। उस

मुक्तावस्था उसका जीवन है, उसका तात्त्विक स्वयम्भुत्व है।

६ ईश्वर और आत्मा

यद्यपि आध्यात्मिक सत्ता की पूर्णता हमारे पदार्थ भेद के ज्ञान से अर्थात् हमारे ज्ञेय पदार्थों की श्रेणियों से ऊपर है, तो भी हम यह निश्चय है कि वह उसी किस्म की सत्ता है जैसी सत्ता का हम अपने भीतर अनुभव करते हैं। यह यदि मेरा मनुष्य की आत्मा से सर्वथा अतीत और अज्ञेय होती तो हमारे लिए उसकी परिस्थिति को धुंधले रूप में अनुभव करना भी असम्भव होता। हम यह भी न *कह सकते कि वह 'सर्वथा भिन्न' है। मनुष्य के 'स्व' में, उसकी सत्ता के केन्द्र में* एक ऐसी वस्तु है जो बुद्धि से भी अधिक गहरी है जो उच्चतम सत्ता के सदृश है। ईश्वर की अभिव्यक्ति और मनुष्य की समाधि, दोनों एक ही तत्त्व के दो पार्श्व हैं। आध्यात्मिक भाकिया मानवीय मन की बोध की एक अविकसित शक्ति के और साथ ही एक अन्तर्निहित वास्तविक सत्ता के, जिसके साथ वह इस शक्ति के *पर्याप्त विकास के बिना स्थायी सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता भावी संकेत हैं।* मनुष्य के अन्तरतम में यथार्थ सत्ता के अनुभव के लिए एक वास्तविक आधार विद्यमान है। एक पिण्ड के रूप में मनुष्य का ब्रह्माण्ड की समस्त सत्ता के आकारों के साथ सम्बन्ध है। *यद्यपि आध्यात्मिक बोध हमारे साधारण जीवन में होता है,* किन्तु साधारण जीवन उसका कारण नहीं होता। यद्यपि यह अनुभव सामान्य चेतना के स्तर पर ही अपना बल प्रकट करता है, किन्तु उसका प्रेरणा-स्रोत कहीं अन्यत्र ही होता है। *यह आत्मा के उस अंश के कारण होता है जो नित्य सत्ता है।* सभी आध्यात्मिक ज्ञानों में मनुष्य की आत्मा और ईश्वर की समान द्रव्यता मानी गई है। यह केवल अनुमान का विषय नहीं है। स्वयं आध्यात्मिक अनुभव में भी आत्मा और परमात्मा के बीच की दीवार लुप्त हो जाती है। अपनी उच्चतम अन्तर्दृष्टि के क्षण में आत्मा का केवल अपनी सत्ता का ही नहीं, एक सर्वव्यापी आत्मा का भी भान होता है जिसका कि वह प्रतिबिम्ब है। हम एक सर्वव्यापी परम आत्मा के अंग हैं, वह हममें दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित होता है। उपनिषदों में इसी भाव को 'तत्त्वमसि', *अर्थात् वह तू है, कहा गया है। यह एक अनुभूत* तथ्य का सीधा सादा कथन है। बाइबिल में यह जो कहा गया है कि इस प्रकार ईश्वर ने मनुष्य को अपने प्रतिबिम्ब के रूप में बनाया, अपने प्रतिबिम्ब के रूप में

बनाया। उसने उसे,'[1] उसका अर्थ यही है कि मनुष्य की आत्मा में ईश्वर की सच्ची अभिव्यक्ति है। 'मनुष्य की आत्मा ईश्वर का दीपक है।'[2] प्लेटो के अनुसार मनुष्य में नित्य सत्ता में साझेदार होने की क्षमता है और संसार की अस्थिर छायाओं से अपने-आपको पृथक् और अनासक्त रखकर वह अपनी सत्ता को भी नित्य बना सकता है। 'थिएटिटस' में सुकरात ने कहा है कि हमें 'ईश्वर के समान बनने का प्रयत्न करना चाहिए।' 'मैं और मेरा पिता एक ही हैं' और 'पिता के पास जो-कुछ है वह मेरा है,' इन शब्दों में ईसा ने भी उसी गहन सत्य का आख्यान किया है। यह किसी एक व्यक्ति और ईश्वर के बीच का सम्बन्ध नहीं है, बल्कि यह अन्तिम और परम सम्बन्ध है जो सभी आत्माओं को ईश्वर के साथ सम्बद्ध करता है। ईसा की आकांक्षा थी कि वह सब लोगों को यह दिखा सके कि वह क्या है और उन्हें उस सबका ज्ञान दे सके जो वह जानता है। बाइबिल के सुसवाद (गौस्पल) में सन्त मैथ्यू के अनुसार ईसा ने विभिन्न नैतिक आचरणों को एक सामान्य उपदेश के रूप में सार रूप में प्रस्तुत किया है, 'इसलिए तू पूर्ण बनने का यत्न कर क्योंकि स्वर्ग में तेरा पिता भी पूर्ण है।' जैसा कि पॉल ने कहा है, 'वह बहुत से भाइयों में सर्वप्रथम पैदा हुआ था। ईसा ने यह स्वीकार कर कि हम सब ईश्वर की सन्तान हैं और उसी के बिम्ब के रूप में बने हैं, अपने उदाहरण से हमें यह दिखाया है कि ईश्वर और मनुष्य में भेद केवल मात्रा का है। सन्त जॉन ने आत्मा के बारे में कहा था कि 'वह एक प्रकाश है जो संसार में आने वाले हर मनुष्य को प्रकाशित करता है।' बाइबिल के प्रकरण '१ पीटर' में 'ईश्वर के आदेश से एक ऐसे बीज के जन्म' का उल्लेख किया गया है 'जो भ्रष्ट नहीं होता।' यह भी मनुष्य में दिव्यत्व का ही संकेत है। प्लोटिनस ने अपने चिकित्सक एरिस्टोकियस को ये अन्तिम शब्द कहे थे : 'मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा था ताकि इससे पूर्व कि मेरे भीतर जो दिव्य आत्मा है वह ब्रह्माण्ड की विराट् आत्मा में विलीन होने के लिए विदा हो, तुम आ जाओ।'[3] क्वेकर लोग दिव्य स्फुलिंग (चिनगारी)

१. जेनेसिस i. २७।
२. प्रोवर्ब्स XX. २७।
३. लैवेंडी की अन्तिम वसीयत को देखिए : 'मैं प्रसन्नता से अपनी आत्मा अपने ईश्वर को सौंपता हूँ, मानो मैं पानी की एक बूँद उसके स्रोत को लौटा रहा हूँ, और उस पर पूर्ण विश्वास कर उससे प्रार्थना करता हूँ, जो मेरा आदिस्रोत, मेरा महासागर है, कि वह मुझे अपने अन्तर में ले ले और सदा के लिए अपनी सत्ता के दिव्य क्रोड में रख ले।' (इंगे : फिलासफ़ी ऑफ़ प्लोटिनस (१९१८), खण्ड १, पृ० १२)।

या आत्मा के ऊर्ध्व शिखर में विश्वास रखते हैं। देकार्त ने प्रश्न किया है, 'यदि मुझे अपने भीतर एक ऐसी पूर्णतर सत्ता का प्रत्यय न होता, जिसके साथ तुलना कर मैं अपनी निज की प्रकृति की कमियों को देखता हूँ, तो मैं यह कैसे जान पाता कि मुझमें कुछ कमी है, मैं पूर्ण नहीं हूँ।'[1] एकहार्ट के अनुसार 'आत्मा में कुछ ऐसा तत्त्व है जो आत्मा से ऊपर है, दिव्य, सीधा सादा, एक पूर्ण 'न'' इस प्रकार की तृप्ति अति तात्त्विक तत्त्व से ही हो सकती है। वह उस सरल भूमि में, उस शान्त नीरव निर्जन में प्रवेश करने के लिए आतुर है, जहाँ कोई भेद नहीं है, जहाँ न पिता (फादर) है, न पुत्र (सन) और न पवित्र आत्मा (होली घोस्ट), जो एक ऐसा ऐक्य है जहाँ किसी मानव का वास नहीं है।' सन्त आगस्टाइन कहता है: 'यह आदेश मिलने पर कि मैं अपने-आपमें लौट आऊँ, मैं अपने और भी अन्तरतम में प्रविष्ट हो गया। तू मेरा पथ-प्रदर्शक था, इसलिए मैं प्रविष्ट हुआ और अपनी आत्मा की आँख से उस आँख के और मन के ऊपर मैंने एक अपरिवर्तनीय नित्य प्रकाश देखा।'[2] जेनोवा की सन्त कैथराइन ने कहा है 'ईश्वर मेरा अस्तित्व है मेरा जीवन है, मेरी शक्ति है, मेरी धन्यता है, मेरा लक्ष्य, मेरा आनन्द है।' वर्ड्सवर्थ ने कहा है, 'सब मन उस एक आदि मन में साझेदार हैं।'[3] ग्रीन के अनुसार व्यक्ति एक नित्य चेतना के प्रजनन हैं। विलियम जेम्स ने अपनी 'वैराइटीज आफ रिलिजस एक्सपीरियेन्स' में लिखा है 'व्यक्ति और पूर्ण के बीच की विभेद की समस्त दीवारों को तोड़ देना रहस्यपूर्ण योगसाधना की एक बड़ी उपलब्धि है। रहस्यमय अनुभव की अवस्था में हम पूर्ण के साथ एक हो जाते हैं और दोनों की एकता को अनुभव करते हैं। रहस्यवाद की यह सार्वकालिक और विजयी परम्परा है और सभी देशों तथा मत-मतान्तरों में पाई जाती है। हिन्दू धर्म, नियो-प्लेटोनिज़्म (नव-प्लेटोवाद), सूफी मत, ईसाई रहस्यवाद और व्हिटमैनवाद—सभी में हम एक ही बात की पुनरावृत्ति पाते हैं जिसमें रहस्यपूर्ण अनुभवों के वर्णनों में एक शाश्वत एकता पाई जाती है जो किसी भी आलोचक को सोचने के लिए मजबूर करती है और इस एकता के कारण ही यह कहा जाता है कि रहस्यवादी साहित्य का न कोई जन्म-स्थान है और न जन्म-दिन। मनुष्य और ईश्वर की एकता का हमेशा प्रतिपादन करती हुई उनकी वाणी भाषा के जन्म से भी

१. थर्ड मेडिटेशन।
२. कनफेशन्स, VII १०। देखिए VII ३२ भी।
३. द वैक्युअम सिस्टम, III, ६२।

विश्व की सृष्टि, स्थिति और लय का कारण है, तार्किक मन के लिए सबसे बड़ी सम्भावना है। ईश्वर को एक आत्मा के रूप में देखना या एक व्यक्ति के रूप में देखना, दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, केवल दृष्टिकोण का भेद है अर्थात् एक में हम उसे उस रूप में देखते है जिस रूप में वह है, और दूसरे में हम उसे उस रूप में देखते हैं जिस रूप में वह हमें प्रतीत होता है। जब हम उसके अमूर्त और अवैयक्तिक रूप पर विचार करते हैं तो हम उसे पूर्ण ब्रह्म कहते हैं और जब हम उसके ज्ञान-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप पर विचार करते है तो हम उसे ईश्वर कहते है। यथार्थ परम सत्ता व्यक्तित्व और अवैयक्तिकता की समस्त अवधारणाओं से परे है। हम उसे 'निरपेक्षपूर्ण' इसलिए कहते हैं कि हम उसकी किसी शब्द या परिभाषा में व्याख्या नहीं कर सकते और उसे 'ईश्वर' हम इसलिए कहते हैं क्योंकि हम उसे समस्त सत्ता का आधार और लक्ष्य समझते है। व्यक्तित्व एक प्रतीक है और यदि हम उसके प्रतीकात्मक स्वरूप की उपेक्षा कर दें तो यह हो सकता है कि हम सत्य से परे हो जाएँ। जो लोग व्यक्तित्व को विश्व का अन्तिम पदार्थ मानते हैं वे भी यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर विराट् है, रहस्यमय है, शक्तिशाली और अन्तिम सत्ता है।[1]

[1] कैल्विन ने कहा है : 'ईश्वर अपने तात्त्विक रूप को गुप्त रखता है। वास्तव में उसका तात्त्विक रूप हमारे लिए ज्ञेय नहीं है। इसलिए हमें स्वेच्छा से ही उसके अपने तात्त्विक रूप का ज्ञान उसी पर छोड़ देना चाहिए।' (इन्स्टीट्यूट्स ऑफ़ दि क्रिश्चियन रिलिजन)।

एक बंगाली कवि का गीत है :

'मैंने वेद और वेदान्त, तन्त्र और मन्त्र छाने हैं किन्तु कहीं भी तुझे पूर्ण नहीं पाया।

'राम के रूप में तू धनुष उठाता है, श्याम के रूप में तू खड्ग धारण करता है।

'हे माता, हे जगन्माता, तू नर है या नारी? कौन कह सकता है? कौन तेरे रूप को जानता है?

'नीलकण्ठ का मन तो हमेशा सबसे बड़े स्रष्टा के रूप में तुझे ध्याता है।' (ई० जे० थामसन और ए० एम० स्पेन्सर : 'बंगाली रिलिजस लीरिक्स,' ६.७८)।

एक आधुनिक कवि कहता है :

'कुछ लोग परमपिता को ऊपर आकाश में खोजते हैं।

कुछ मानव मूर्ति के रूप में उसे पूजते हैं।

कुछ उसे जीवन और प्रेम की तरह विराट् आत्मा के रूप में चाहते हैं;

मेरे घर में हमें सब-कुछ और उससे भी अधिक मिलता है।'—(डॉ० मैथेसन की कविता जो बुलकॉक ने अपनी पुस्तक 'रिलिजन एण्ड इट्स न्यू टैस्टामेंट एक्सप्लेनेशन' (१९२८) में पृष्ठ २७८ पर उद्धृत की है।

हमारी पौराणिक कथाएँ और आलंकारिक वर्णन 'उसके साथ अन्याय करते हैं, क्योंकि वह रहस्यपूर्ण है' और आध्यात्मिक ऋषि इसे जानते हैं। केवल उनके बुद्धिजीवी अनुयायी ही इसकी उपेक्षा करते हैं।

दार्शनिक विचार के इतिहास में हमें आध्यात्मिक अनुभव की विभिन्न व्याख्याएँ मिलती हैं। उदाहरण के लिए बुद्ध का कहना है कि वह एक यथार्थ सत्ता है जिसे हमें श्रद्धा के साथ स्वीकार करना चाहिए। अरस्तू का कहना है कि वह संसार को प्रथम गति देने वाला है किन्तु स्वयं उसे किसी ने गति नहीं दी है, उसकी सर्वोच्च पूर्णता ब्रह्माण्ड को उसी प्रकार अपनी ओर आकृष्ट करती है, जैसे प्रेमपात्र का सौन्दर्य प्रेमी को आकृष्ट करता है, [1] स्पिनोज़ा की दृष्टि में ईश्वर ऐसी सत्ता है जिससे अधिक सत् कोई नहीं है, जिससे हमें बदले में किसी फल की आकांक्षा किये बिना प्रेम करना है, यह एक वैयक्तिक ईश्वर है जिसमें आवेग और संवेग हैं, वह एक नैतिक ईश्वर है जो मनुष्यों का परम और उच्चतम लक्ष्य है, यह एक सामन्ती ढंग का ईश्वर है जो हमसे यह विनय करता है कि हम उसे उसके महान् लक्ष्य की पूर्ति में सहायता दें। एकेश्वरवादियों का विश्वास है कि अनेकेश्वरवादियों के देवता यदि सच्चे ईश्वर के पौराणिक कथात्मक रूप नहीं हैं तो प्रतीकात्मक रूप अवश्य हैं, किन्तु वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि उनका अपना ईश्वर भी मूल रूप में एक प्रतीक है। समस्त धर्म प्रतीकात्मक हैं और प्रतीकवाद धर्म से तभी निकलता है जबकि स्वयं धर्म ही नष्ट हो जाता है। ईश्वर एक प्रतीक है जिसके द्वारा धर्म परम सत्ता को मूर्त करता है। दार्शनिक लोग परम सत्ता और ईश्वर को लेकर झगड़ सकते हैं और यह कह सकते हैं कि जिस पवित्र ईश्वर की पूजा की जाती है वह तर्क द्वारा माध्यपूर्ण सत्ता से भिन्न है। किन्तु धार्मिक चेतना दोनों को एक ही समझती है।[2]

७. एक विश्व :

आध्यात्मिक सत्ता की यथार्थता, जिसकी विभिन्न रूपों में व्याख्या की जाती है, और मनुष्य की अन्तरतम आत्मा के साथ उसकी समरूपता के प्रत्ययों के साथ-साथ हमें समस्त ब्रह्माण्ड के एकत्व का भी प्रत्यय होता है। हम एक परम

१. मैटाफ़िज़िक्स, ए० ७।
२. तुलना कीजिए : टॉमस आ कैम्पिस : 'जिसे नित्य और शाश्वत वाणी सुनाई देती है, वह नाना विचारों और मतों की भिन्नता से मुक्त हो जाता है।'

आत्मा को अपने ऊपर एक छोर से दूसरे छोर तक व्याप्त देखते हैं। पृथ्वी और आकाश, ईश्वर और प्राणी सब सहसा हमारे लिए आश्चर्यजनक और विस्मयकारी हो उठते हैं, क्योंकि हमारी आंखें खुल जाती हैं और वे उस एक परम सत्ता की उपस्थिति को उद्घोषित करते हैं। विश्व आत्मा से सजीव, अग्नि से प्रदीप्त और प्रकाश से आलोकित दीख पड़ता है। उपनिषद में कहा गया है : 'जब सब-कुछ आत्मस्वरूप हो जाता है तब कौन ज्ञाता है और कौन ज्ञेय है? उस परम आत्मा से व्यतिरिक्त नहीं हुआ जा सकता। वह ऊपर-नीचे, आगे-पीछे और दाएं-बाएं हर तरफ है।'[1] एकहार्ट ने कहा है : 'उद्बुद्ध आत्मा एक नेत्र के समान है जिसे सूर्य को देखने के बाद हर जगह सूर्य-ही-सूर्य दीखता है।' जॉर्ज फॉक्स ने कहा है कि 'ब्रह्माण्ड की परम सत्ता में ही सब चीजों को देखना सीखो।' ईश्वर सर्वत्र है—मानवीय इतिहास के विक्षुब्ध सागर में भी, विश्व की महान् विपत्ति और अन्याय में भी और दुःख और कष्ट में भी। जब हम ऐक्य और साम्य अनुभव करते हैं तो वह अनैक्य और वैषम्य अवास्तविक प्रतीत होता है, जिससे हम परिचित हैं।

प्रश्न उठता है कि यदि ब्रह्माण्ड तत्त्वतः आत्मस्वरूप है तो वह हमें अनात्मस्वरूप क्यों भासता है? यदि आध्यात्मिक अनुभव हमें ब्रह्माण्ड के ऐक्य और ईश्वरता की आनन्दपूर्ण अनुभूति कराता है तो संसार में हमें यह विद्वेष, वैषम्य और फूट क्यों नज़र आती है? विज्ञान और सामान्य बुद्धि की दुनिया आत्मा की मुक्ति की भावना से बिलकुल जुदा चीज प्रतीत होती है। यह वास्तविकता है या भ्रम? जो लोग फलवाद और व्यावहारिकता की दृष्टि से सोचते हैं उनकी दृष्टि में यह व्यावहारिक जगत् वास्तविक है, वे आध्यात्मिक अनुभूति को स्वप्न मानते हैं, इस प्रकार उनकी दृष्टि में दोनों के बीच में बहुत चौड़ी खाई है। जो लोग उनसे कुछ अधिक सावधान हैं वे प्रतीयमान जगत् को अविद्या अर्थात् मानवीय ज्ञान की अपूर्णता का परिणाम समझते हैं। मानवीय मन स्वभावतः बौद्धिक दृष्टिकोण से विश्व को एक समग्र आंगिक अवयवी के रूप में कल्पित करने का प्रयत्न करता है। बुद्धि की दृष्टि में विश्व की एकता एक स्वतःसिद्ध सत्य है, विश्वास की चीज है। भावना की दृष्टि में वह एक अनुभूत वास्तविकता है। वह समझती है कि संसार की प्रकृति ही एकता की है और हमें उसका आंशिक और क्षणिक पूर्वाभास हो चुका है, और यदि हम यह याद रखें कि

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ८.२४।

सामान्य अनुभव का जगत् पूर्ण विश्व का एक दुर्बल प्रतिरूप है, प्रकाश और अन्धकार का एक मिश्रण है और विशुद्ध प्रत्यय का एक अपूर्ण भौतिक रूप में प्रतिबिम्ब है, तो हम एकता और सहस्वरता को और भी सुदृढ़ बना सकते हैं। जो तर्क यह सिद्ध करता है कि चूंकि 'एक' ही 'सत्' है, इसलिए 'अनेक' केवल 'माया' है, वह गलत और अपूर्ण है और इस गलत तर्क के अपाकरण के लिए सही दृष्टिकोण यह है कि 'एक' अपने-आपको 'अनेक' में व्यक्त करता है।

८. आत्मज्ञान और उसका मार्ग :

यदि आत्मा और ईश्वर के इस तादात्म्य और सम्बन्ध के बावजूद ईश्वर बहुत दूर प्रतीत होता है तो उसका कारण सिर्फ यह है कि आत्मा अनात्मा में डूबी रहती है और आत्मज्ञान की प्राप्ति में कठिनाई अनुभव करती है। लेथे (विस्मृति) के जलाशय का पानी पीकर मनुष्य यह भूल गया है कि उसका जन्म मूलतः स्वर्ग में हुआ था। वह स्वर्ग से निर्वासित है और देह-रूपी मलिन वस्त्र पहनकर पृथ्वी पर रह रहा है। जो कुछ हमारी प्रकृति के विरुद्ध और बाह्य है उसे हमें उतार फेंकना और अपने स्वरूप को पहचानना, अपने अन्तर में विद्यमान आत्मा को खोजना है। अपनी आत्मा को ब्रह्म की सत्ता से अलग समझना पतन है, मूल पाप है, अविद्या है। आत्मज्ञान में बड़ी बाधा व्यक्तिगत इच्छा से जन्य काम, क्रोध आदि शत्रु हैं और उन पर विजय अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छा को अवैयक्तिक विराट् ब्रह्माण्ड की इच्छा में विलीन कर प्राप्त की जा सकती है। धर्म का प्रयत्न मनुष्य और ईश्वर के, जीव और परमात्मा के बीच के विभेद को समाप्त कर एकता की विस्मृत भावना को पुनः पैदा करना है। यह प्रयत्न आत्म-ज्ञान की दिशा में क्रमिक प्रगति है, प्रत्यक्ष आनुभविक अहंकार को उठाकर अप्रत्यक्ष जगत् में पहुँचाना और मन का विराट् मन के साथ अव्यवहित सम्बन्ध कर पूर्णता की स्थिति में ले जाना है। इसके लिए कठोर नैतिक अनुशासन पर बल दिया जाता है। आध्यात्मिक सत्य का बोध द्रष्टा के आत्मा के गुण पर निर्भर है[1] और इस गुण को तभी समृद्ध बनाया जा सकता है जबकि प्रार्थना और ध्यान के द्वारा बुद्धि, भावना और इच्छा का संस्कार किया जाए। कोई भी व्यक्ति स्वयं सत्य हुए बिना सत्य को नहीं जान सकता। उसके लिए आन्तरिक

१. 'जब वह सूर्य के प्रकाश को अनावृत्त करता है तो वह उस इन्द्रिय पर निर्भर होता है जो उसे देखती है।' (प्लेटो)

पवित्रता की आवश्यकता है जो आत्मसयम और आत्मोत्सर्ग से ही प्राप्त की जा सकती है। 'जो दुश्चरित से अविरत नही हुआ, जिसका मन और इन्द्रियाँ अशान्त है, जिसका चित्त असमाहित है वह प्रज्ञान के द्वारा उसे प्राप्त नहीं कर सकता।'[1] आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाती है, यदि वह अपने-आपको ससार के घटनाचक्र का ही एक अग समझ ले और उसकी धाराओं और चक्रवातों मे फँस जाए। हिन्दू विचारक और दार्शनिक हमे यह शिक्षा देते है कि जीवन के समस्त निश्चित रूपो से, चाहे वे आन्तरिक हो या बाह्य, अपने ऐन्द्रियिक ज्ञान के इम्प्रेशनो और भावनाओ से, विचारों और कामनाओ से अपावृत होकर अपने आपको पवित्र शान्त आत्मा मे निमज्जित कर दो जिससे हमारे वर्तमान जीवन की विक्षुब्ध धारा निकलती है।[2] विश्वव्यापी जीवन के स्रोत के साथ आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित करने का यही उपाय है। बुद्ध ने इसके लिए अष्टाग मार्ग का उपदेश किया है और बताया है कि अपवित्र मन और अपवित्र बुद्धि वाले लोग आध्यात्मिक अनुभव के राज्य मे प्रवेश नही कर सकते। आभ्यन्तर जीवन का सस्कार केवल प्राच्य मन की एक सनक ही नही है। हर महान् धर्म हमे ससार से विरक्त होकर एकाकी होने का उपदेश करता है और आध्यात्मिक परिवेश के सजीव सम्पर्क मे आने के लिए सहायता देने को एक कठोर अनुशासन का विधान करता है। ऑरफियस और पैथागोरस के अनुयायियो ने शुद्धि के द्वारा मनुष्य की आत्मा को उसके मूल स्वरूप मे प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया। ध्यानमय जीवन को सामान्य व्यावहारिक जीवन से श्रेष्ठ बताकर ग्रीक लोग यही कहना चाहते है कि समस्त वस्तुओ से अधिक पूर्ण सत्ता को वही लोग पा सकते है जिनकी आध्यात्मिक शक्तियाँ पूर्णत. विकसित है।[3] ह्वाइटहैड के अनुसार 'धर्म उस हद तक मनुष्य के आभ्यन्तर जीवन की

१. कठोपनिषद्. १.२.२४।
२. तुलना कीजिए : कठोपनिषद : 'पराची खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्त चक्षुरमृतत्वमिच्छन्।' (४.१)। 'जो मन दिव्य आत्मा को देखता है वह दैहिक सवेदनाओं के साथ सम्बन्ध से पूर्णत: मुक्त होना चाहिए, चाहे वह मुक्ति मृत्यु के द्वारा हो, चाहे ध्यान और समाधि से।' (स्टीवर्ट की 'दि मिथ्स ऑफ प्लेटो' (१६०५), में पृष्ठ ४८१ पर नोरिस की पुस्तक 'रीजन एण्ड रिलिजन' (१६८६) से उद्धृत)।
३. बाइबिल के इस कथन की कि 'सूर्यास्त के लगभग अब्राहम को गहरी नींद आ गई' व्याख्या करते हुए फिलो ने कहा है : 'यह कथन इस बात का वर्णन करता है कि जो मनुष्य

कना और सिद्धान्त है, जिस हद तक कि वह स्वयं मनुष्य पर या उसकी प्रकृति के स्थायी तत्व पर निर्भर है।"[1] धार्मिक सिद्धान्तों पर विश्वास, भक्ति और पूजा से हमारा जीवन अज्ञात सत्ता के प्रति उद्बुद्ध हो जाता है। मुक्ति ईश्वर की आराधना से उतनी नहीं मिलती जितनी अपने-आपका कायापलट करने और शरीर आत्मसंयम में एक विशेष गुण और आवेगों की सहस्वरता प्राप्त करने से मिलती है। इसका प्रयत्न बहुत कठिन है और महंगा पड़ता है। प्रायश्चित्त और दान-दक्षिणा के द्वारा पापों से मुक्ति पाने की चतुराइयों से, यज्ञ-याग के ऋजु पथ से या अपने-आपको बाहरी दुनिया की नज़र से अलग रखने से काम नहीं चल सकता। यदि सत्य को प्राप्त करना है तो आत्मा को उघाड़कर रख देना होगा।

ध्यान आत्मज्ञान का उपाय है। इससे हम हम अपने मन को अन्तर्मुख करते हैं और अपने सृजन-केन्द्र के साथ सम्पर्क साधते हैं। सत्य को जानने के लिए हमें केवल अपनी सतह को चौड़ा ही नहीं बनाना, उसे गहरा भी करना है। अपनी आत्माओं का गहन रूपान्तरण करने के लिए मौन और शान्ति आवश्यक हैं और

समाधिलीन हो जाना है, जो ईश्वर के साथ सम्पर्क साध लेता है, उसकी मानसिक दशा क्या होती है। पवित्र धर्म-ग्रन्थ इस बात की पुष्टि करता है कि ईश्वरीय आदेश हर धर्मात्मा और पुण्यात्मा व्यक्ति को प्राप्त हो सकते हैं, क्योंकि ईश्वरीय आदेश पाने वाला पैगम्बर अपनी कोई बात नहीं कहता, उसके हर शब्द में दूसरे की आवाज होती है। किसी अधार्मिक व्यक्ति का ईश्वर के विधान की व्याख्या करना न्यायसंगत नहीं हो सकता, इसीलिए किसी पापी व्यक्ति को ईश्वरीय ज्ञान और इलहाम नहीं होता। ऐसी चीज़ों का सम्बन्ध केवल मनीषी लोगों से ही होता है, क्योंकि मनीषी व्यक्ति ही ईश्वर का वाद्य है जिसे वह अदृश्य और अश्रव्य रूप में बजाता है।' (एडविन बेवन की पुस्तक 'सिबिल्स एण्ड सीयर्स' (१६२८) में पृष्ठ १८८ पर उद्धृत)। प्लोटिनस का एक प्रसिद्ध अंश इस प्रकार है : 'अक्सर जब मैं शरीर की निद्रा से जागता हूँ और अपने-आपको जानने की स्थिति में होता हूँ और बाह्य संसार से व्यावृत्त होकर अन्तर्मुख हो जाता हूँ तब मैं एक विस्मयकारी सौन्दर्य के दर्शन करता हूँ। तब मैं यह समझता हूँ कि मेरा सम्बन्ध एक अधिक ऊँचे और अधिक बेहतर जगत् से है और मैं अपने अन्तर में एक अधिक भव्य जीवन को विकसित करने और ईश्वर के साथ एकाकार होने का प्रयत्न करता हूँ। और इससे मुझे इतनी जीवन की ऊर्जा प्राप्त होती है कि मैं भौतिक संसार से ऊपर उठ जाता हूँ।' (रूफस जोन्स का पुस्तक 'न्यू स्टडीज इन मिस्टिकल रिलिजन' में पृष्ठ ४३-४४ पर उद्धृत)

१. रिलिजन इन दि मेकिंग (१६२६), पृष्ठ ६।

इस युग में वे बहुत आसान नही है। अनुशासन और दमन से हमे अपनी चेतना का सर्वोच्च सत्ता के साथ सम्पर्क साधने मे सहायता मिलेगी। तप का अर्थ है निरन्तर ईश्वर मे वास करना और एक नया रूपान्तरित जीवन प्राप्त करना। इसका अर्थ समस्त बिखरी हुई ऊर्जाओ को, बौद्धिक शक्तियों को, हृदय की भावनाओ को, प्राण की कामनाओं को, बल्कि स्वय अपनी भौतिक सत्ता को समेटना और उन सबको सर्वोच्च लक्ष्य पर केन्द्रित करना है।[1] यह प्रक्रिया कितनी द्रुत गति से होती है, यह ईश्वर के लिए आकाक्षा की उत्कटता और मन के उत्साह पर निर्भर है।

ससार में कोई भी आदमी कभी भी जीवन-भर आध्यात्मिक सन्तुलन और साम्यावस्था नही रख सका। जिस ईसा ने यह कहा था कि यदि लोगो को उस ईश्वर के पुत्र बनना है, जो अच्छे और बुरे सभी मनुष्यों पर अपने सूर्य को चमकाता है, जो न्यायी और अन्यायी सभी पर वर्षा करता है, उसी ईसा ने एक दिन अजीर के पेड को शाप दिया था और व्यापारियो को मन्दिर से खदेडा था। हम सभी के जीवन मे ऐसे क्षण आते है, जैसा कि ईसा के जीवन में गेथ्समेन में आया था, जब हम अपने सामने उपस्थित कठिन अग्नि-परीक्षाओं से घबरा उठते हैं और उनसे बचने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते है, और फिर से उस अनासक्त स्थिति मे लौटने के लिए, जब हम यह कह सके कि 'ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो' बडी साधना की आवश्यकता होती है। असहिष्णु और शत्रुतापूर्ण ससार के सम्मुख मानसिक सन्तुलन कायम रख सकना कोई आसान काम नही है। यह तभी सम्भव है जब हम निरन्तर अपनी आन्तरिक गहराइयो मे लौटते रह सकें और मन को इतना निष्काम और अनासक्त बना लें कि न कोई सुख उसे लुभा सके और न दु ख उसे अभिभूत कर सके।

रहस्यवादी लोग 'होने' पर अधिक बल देते है 'करने' पर नही। उनके जीवन मे क्षुद्रता, तु-छता और असहिष्णुता नही होती, इसलिए यह सम्भव है कि वे एक निषेधात्मक आत्मानुभूति और निष्क्रियता को अधिक बढा-चढाकर बताते हो। अपने अधिकारो के लिए लडने के बजाय उनका झुकाव उन्हे छोड देने की ओर अधिक होता है, किन्तु उनकी यह नम्रता, भय या कायरता का परिणाम नही होती, बल्कि साहस और शक्ति का परिणाम होती है। किन्तु तपस्या के अन्तर

१. एक सच्ची धार्मिक संस्कृति शरीर को भी इस ढंग से परिष्कृत कर देगी कि उससे शरीर में एक गति आएगी, सन्तुलन पैदा होगा और सौन्दर्य और बल उत्पन्न होगा।

मे आध्यात्मिक आनन्दानुभूति की एक ज्वाला होती है, जो धर्म का सार है। वैराग्य या कर्म-सन्यास ही एकमात्र धार्मिक परम्परा नही है, वल्कि कर्मयोग, जीवन मे भाग लेना और उसमे आनन्द का, उपभोग भी धर्म के अग हैं। ईश उपनिषद् मे कहा गया कि त्यागकर भोग करो। यह त्याग द्वारा भोग विश्व को गहराई मे किन्तु निष्काम होकर स्वीकार करना है और यह आनन्दपूर्ण अनुभूति है कि ससार के किसी भी अश का पूर्णतः त्याग नही किया जा सकता। हम ससार का परित्याग इसलिए करते हैं ताकि उसके एकत्व के ज्ञान के साथ फिर उसमे लौट सकें और यह ज्ञान हमारा सम्बल हो।

६. प्रवुद्ध व्यक्ति का जीवन :

जिस क्षण मनुष्य को अन्तर्ज्ञान होता है, उसका जीवन दूसरा ही हो जाता है। एकत्व का अनुभव परिवर्तन की प्रक्रिया का प्रारम्भ होता है। आत्मा ने उसे (परम को) देख लिया है इसलिए मन को हमारे सारे अस्तित्व का नियन्त्रण करना चाहिए, जिस शब्द को हमने सत्य समझा है वह हमारी देह मे हमारे अपने भीतर बिंध जाना चाहिए। अन्तर्ज्ञान के क्षण मे हमने जिस नये एकत्व की झाँकी ली है, उसे यदि पाना है तो पुरानी आदतों का परित्याग करना होगा। उदाहरण के लिए सुकरात के जीवन मे परिवर्तन उस समय प्रारम्भ होता है जब उसे पोटिडा (४३१ ई० पू०) मे परम सत्ता का आध्यात्मिक अनुभव होता है और जबकि कहा जाता है वह चौबीस घटे तक समाधिलीन रहता है। उसके बाद उसने अपने साथी नागरिकों को उपदेश देने मे ही अपना सारा जीवन अर्पित कर दिया। 'एपोलोजी' मे प्लेटो सुकरात से कहलाता है कि यह कार्य ईश्वर ने ही उसे सौंपा है और वह उसकी उपेक्षा नही कर सकता चाहे उसे प्राण भी त्यागने पड़े, और उसने त्यागे भी। ईश्वर की पुकार को ऐसा व्यक्ति स्वीकार नही कर सकता जिसकी आत्मा अपने ठिकाने पर नही पहुँच गई, जिसके संघर्ष, भेद और वैषम्य दूर नही हो गए। देह, मन और आत्मा मे कोई सघर्ष नही हो सकता। हमारी प्रकृति की विभिन्न दिशाओं मे साम्य शान्ति के लिए आवश्यक है और उनका परस्पर सामजस्य पूर्णता के लिए। किसी भी एक दिशा का दमन आत्म-पूर्णता मे व्याघात पैदा कर देता है। जो लोग यथार्थ सत्ता के अप्रत्यक्ष पहलू पर उचित से अधिक वल देते हैं उनमे वैराग्य सीमा का अतिक्रमण कर जाता है। यदि यथार्थ सत्ता उस पार है, दूसरे लोक मे है और यह ससार केवल आभास-मात्र

है, माया-भर है तो उस यथार्थ सत्ता को वहो पा सकते हैं जो देश और काल की सीमा में बँधे इहलोक से मुँह मोड ले। रहस्यवादी को ऐहिक और पारलौकिक मे कोई विरोध स्वीकार्य नही है। उसका कहना है कि किसी भी वस्तु को ठुकराया नही जा सकता, हर वस्तु को ग्रहण कर ऊंचा उठाना है। जो पूर्णता हमारा लक्ष्य है वह शून्य की पूर्णता नही है, ऐसी प्रकृति की पूर्णता नही है जिसका मस्तिष्क अनुर्वर और हृदय-स्रोत शुष्क है। आध्यात्मिक तत्त्व कोई ऐसी पृथक् वस्तु नही है जिसकी शेष जीवन से अलग कर रक्षा करती है, बल्कि वह एक ऐसा तत्त्व है जो मनुष्य के सारे जीवन में व्याप्त है और उसे परिष्कृत करता है। वह हमारी आन्तरिक सत्ता के सभी भागों को शुद्ध करता है और आत्मा का एक नया जन्म होता है, हमारी निष्ठाओं की पूर्ति होती है और हमारे व्यक्तित्व का पुनर्निर्माण होता है। जीवन मे अमरता आती है और मनुष्य का सारा व्यक्तित्व अधिक गहन हो जाता है। अपने और ब्रह्माण्ड के बीच एकत्व अनुभव कर, आत्मा मे लीन रहने वाला व्यक्ति एक पृथक् और आत्मकेन्द्रित व्यक्ति नही रहता, बल्कि वह विश्व-व्यापी आत्मा का वाहन बन जाता है। वह ससार मे विद्यमान बुराई की ओर से, जो बिलकुल स्पष्ट नज़र आती है, आँखे नही मूंदता, हालाँकि उसका यह विश्वास अचल रहता है कि मनुष्य की अन्तरात्मा प्रकृत्या अच्छी ही है। जीवन के प्रति उसकी दृष्टि इतनी स्पष्ट और पूर्ण होती है कि वह आत्मा की आँख से पूर्ण को निहारता हुआ अन्धकार-भरे दिन व्यतीत कर देता है। अपनी अन्तर की आत्मा से वह जो मूर्ति देखता है उसे जीवन के कपडे मे बुन देने के लिए वह सघर्ष करता है। वह अपने-आपको ससार पर छोड देता है और इस विश्वास के साथ उसके उद्धार का प्रयत्न करता है कि वह उसके स्वप्न का समर्थन करेगा। उसका जीवन दु.ख और कष्ट की आग मे जलता रहता है। वह ऐसे मन से, जो शान्ति और आनन्द से भरा है, ऐसे आनन्द से जो कर्म की समुचित पूर्ति का चिन्ह है, जो प्रकृति की इस बात की मुहर है कि जीवन की दिशा सही और सुरक्षित है, जीवन के सकटो का सामना करता है।[1] ईश्वर विश्वासी आत्माओं के लिए त्याग आसान

१. वैजली का कहना है : 'इस विश्वास से हम मन की समस्त बेचैनी से, क्षत आत्मा की पीडा से, असन्तोष और हृदय के भय और दुःख से, ससार की और हमारी अपनी दोनों की अवर्णनीय उदासी और थकान से, जिसमें हम इतने वर्षों तक पीडित रहे हैं, मुक्त हो जाते हैं, 'खासकर उस समय जबकि हम विश्व की दौड़ भाग से, अलग शान्त चिन्तन में डूबे रहते हैं। (अर्नेस्ट अपील टु मैन ऑफ रीज़न एण्ड रिलिजन)

और स्वाभाविक हो जाता है। वे कांटों पर भी ऐसे आराम से चलते हैं जैसे हवा पर चल रहे हों और उनके मन में आत्म-विश्वास की शान्ति बनी रहती है। वे महान् आशावादी होते हैं और आत्मा की शक्तियों में उनका विश्वास अगाध होता है। निराशावादिता उनकी दृष्टि में हद दर्जे की बेवकूफी होती है, उनके अन्दर विद्यमान प्रकाश के साथ धोखा होती है।

ये आत्माएँ बहुत विरली और अमूल्य होती हैं, पूर्ण आत्मा की भावना से भरी होती है और यह कहा जा सकता है कि वे विश्व की चेतना से युक्त होती है। उन्हें समस्त सत्-पदार्थों में अपनी आत्मा के और अपनी आत्मा में समस्त विश्व के दर्शन होते हैं। एक हिन्दू सन्त का कहना है, 'तीनों लोक मेरा घर है।' मार्कस औरेलियस ने एक स्थान पर कहा है, 'कवि का कहना है "प्यारा एथेन्स नगर" किन्तु हे मेरी आत्मा क्या तू उसे "प्यारा ईश्वर का नगर" नहीं कहेगी?' जो लोग दृष्टि की यह व्यापक अवैयक्तिकता विकसित कर लेते हैं, वे ब्रह्माण्ड की योजना को आगे बढ़ाने में, परमपिता की इच्छा पूर्ण करने में आनन्द अनुभव करते हैं। उनके मन में समस्त मानवता के प्रति प्रेम और मैत्री की भावना भरी रहती है। अहिंसा या प्रेम उनका मुख्य धर्म हो जाता है। संस्कृत के एक कवि ने कहा है,'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारहृदयानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्', अर्थात् यह अपना है और यह पराया, यह दृष्टि संकीर्ण-हृदय व्यक्तियों में रहती है, उदार हृदय वाले व्यक्तियों के लिए तो सारी पृथ्वी ही अपना कुटुम्ब होती है। आध्यात्मिक राज्य में अपनी विशिष्ट अस्तित्व-पद्धति के कारण हरेक की एक निश्चित जगह है। किसी भी व्यक्ति का, चाहे वह कितना ही गुणी हो, दूसरों से आगे और पहले जगह का दावा नहीं हो सकता। मूल्य और महत्त्व का निर्णय इस बात से होता है कि किसी वस्तु के अर्थ और शब्द में कितना सामंजस्य है। यहाँ तक कि हमारे शत्रु भी घृणा और नफरत के पात्र नहीं हैं, क्योंकि वे नैतिक व्यक्ति हैं। हमें अपने शत्रुओं से भी अपनी ही भाँति प्यार करने के लिए उपदेश दिया जाता है, किन्तु इस नियम का जितना सम्मान हम मौखिक करते हैं उतना व्यवहार में नहीं करते। लेकिन जो लोग ईश्वर की आत्मा में वास करते हैं, उनके अस्तित्व का यह स्थायी नियम हो जाता है। उन्हें अपनी आत्मा के भीतर एक निगूढ़ एकता का स्थायी भान होता है जो विश्व-प्रेम का आधार है, वह प्रेम जिसमें धैर्य होता है और सभी वस्तुओं को सहन करने की शक्ति होती है, जो अहंकार और निष्ठुरता को निर्मूल करता है, जो

बुरों को बुराई से रोकता और पापियों का हृदय-परिवर्तन करता है। वह उस समय भी बना रहता है जब रात अँधियारी हो जाती है, जब तारे छिप जाते हैं और जब मनुष्य सब ओर से परित्यक्त हो जाता है। यह ऐसा प्रेम है, जो फल की, बदले की चाह नहीं करता, जो स्वयं अपना कारण है। सन्त लोग इसलिए प्रेम करते हैं क्योंकि वे उसके बिना रह नहीं सकते। उनके लिए प्रेम न करना अजीब होगा। बुद्ध का विश्व-प्रेम इतना व्यापक है कि वह छोटे-से-छोटे प्राणी को भी अपने अंक में भर लेता है। प्लेटो ने 'क्रिटो' में कहा है: 'जब कोई हमें चोट पहुँचाए तो हमें उसे बदले में चोट नहीं पहुँचानी चाहिए, जैसा कि बहुत से लोग सोचते हैं, क्योंकि हमें किसी को भी चोट नहीं पहुँचानी चाहिए।' ईसा की दृष्टि में सहिष्णुता और क्षमा ही पुण्य और धर्म के मार्ग हैं। 'गॉस्पल ऑफ नजरीन्स' में ईसा का यह वचन आता है, 'तब तक प्रसन्न मत होओ जब तक तुम अपने भाई को प्रेम की नजर से न देखो।'[१] जो लोग ईश्वर में मगन रहते हैं वे बड़े-से-बड़े पापी के लिए भी द्वार बन्द नहीं करते और कभी यह विश्वास नहीं करते कि विश्व में कहीं भी ऐसा कोई द्वार है, जिस पर यह लिखा हो, 'जो इस द्वार के भीतर प्रवेश करता है, वह सब आशाओं को पीछे छोड़ आए।' यदि परम आत्मा ही समस्त सत्ता का केन्द्र है तो किसी के भी साथ धोखा नहीं किया जा सकता।[२] बड़ा पाप मानवीय आत्मा की अन्तर्निहित शक्तियों में अविश्वास का

१. मार्कस ओरेलियस का कहना है: 'जब क्रोध आये तब इस बात का हमेशा ध्यान रखो कि क्रोध साहस का दूसरा रूप नहीं है, बल्कि नम्रता व भद्रता न केवल अधिक मानवीय गुण हैं, वरन् अधिक साहसपूर्ण भी हैं और जिसमें ये गुण हैं वही अधिक बलवान, साहसी और शक्तिशाली होता है, न कि क्रोधी और असन्तुष्ट व्यक्ति। कारण, सहिष्णुता निष्पक्षता के उतना ही निकट है जितना कि शक्ति, और जैसे व्यथा कमजोरी की निशानी है वैसे ही क्रोध भी। क्योंकि उनके शिकार व्यक्तियों को चोट पहुँचती है और उनकी मौत हो जाती है।' (जान जॅक्सन द्वारा किया गया 'मैडिटेशन्स' का अंग्रेजी अनुवाद (१९०६) XI. १८; पृष्ठ ९-११, ७७८)। इसी पुस्तक में यह भी कहा गया है: 'देवताओं को, जो अमर होते हैं, इस बात का अफसोस नहीं होता कि उन्हें अनन्त काल तक दुष्टों को सहन करना पड़ेगा, जिनकी दुष्टता बहुत बड़ी है और जिनकी संख्या भी बहुत बड़ी है। नहीं, बल्कि वे उन्हें हजारों तरह से सहायता देते हैं। तब क्या तू, जिसका जीवन इस जन्म तक ही सीमित है, पापियों से परेशान हो जाएगा? और वह भी तब जब कि तू स्वयं भी उन्हीं में से एक है!'

२. आगस्टाइन कहता है: 'मैंने अपनी अन्तरतम आत्मा में प्रवेश किया और अपने प्रकाश और अपनी आत्मा से भी परे मैंने एक अपरिवर्तनीय नित्य प्रकाश देखा। जो सत्य को

पाप है। अच्छे जीवन का सार है अपने-आपको जानना और अपने प्रति झूठा न होना। इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने विचार अपने पड़ोसियों पर थोपे जाएँ। प्रेम का अर्थ है प्रतिरोध न करना। हमें सघर्षों पर शक्ति से नहीं प्रेम से विजय पानी है। आदर्श के नाम पर बुराई का निरन्तर प्रतिरोध करते रहने के बजाय, हमें उसके अत्याचार को प्रेम से सहना होगा। पड़ोसी के प्रति प्रेम का अर्थ है बुराई के प्रति सहिष्णुता।

जिन लोगों ने उस परम सत्ता की झाँकी पाई है वे यह अनुभव करते हैं कि जब तक उसका दिग्दर्शन उन्हें प्राप्त होता रहेगा तब तक वे कोई भूल नहीं कर सकते। वे स्वराट है, अपने निज के राजा और स्वामी हैं। उनका जीवन एक स्वतः स्फूर्त विकास है, वह रोजमर्रा के जीवन की लीक पर नहीं चलता। वह सप्राण होता है, यन्त्रवत् नहीं। नैतिक भावना उनके लिए बाह्य नहीं होती, उनकी आत्मा की गहराइयों में बद्धमूल होती है। इसलिए वे ऐसे काम भी करते हैं जिनसे दूसरे इज्जतदार लोग शरमाते या घबराते हैं। वे व्यवहार के नपे-तुले पैमानों की चिन्ता नहीं करते। जिस तरह ऐसे विश्वासों को चुपचाप स्वीकार कर लेने से, जिन्हें हम वास्तव में नहीं मानते, बौद्धिक ईमानदारी का हनन होता है, उसी तरह यदि हम समाज के ऐसे आदेशों को, जिन्हें हमारी आत्मा स्वीकार नहीं करती, लीक पर चलते रहें तो हमारी आत्मा का हनन होता है। बुद्ध ने कट्टर परम्पराओं के मुकाबले व्यक्तिगत सत्य को, वर्ग-विभाजन के मुकाबले में सामाजिक भावना को, बाह्य आचार के मुकाबले आन्तरिक भावना को प्रतिष्ठित किया था। यही बात सुकरात, ईसा और अन्य ऐसे महापुरुषों के बारे में है, जिन्होंने गतिशील और सक्रिय दृष्टि पाई है।

स्वभावतः ऋषि लोग कट्टर सकीर्णता से मुक्त होते है और उदार सहिष्णुता की भावना में साँस लेते हैं। वे उन सबका स्वागत करते हैं जो ऐसे ईश्वर की पूजा करते है जो किसी एक जगह प्रकट नहीं हुआ, बल्कि घट-घटवासी है और जो विश्व की विविधता को सौहार्द और सहानुभूति से ग्रहण करते हैं। हुतात्मा जस्टिन ने अशोक के इस वचन का समर्थन किया है 'सभी

जानता है वह जानता है कि वह प्रकाश क्या है और जो उसे जानता है वह नित्य सत्य को जानता है। तू प्रेम है। और मैंने देखा है कि तू हर चीज को अच्छा बनाता है और मेरे लिए कोई चीज बुरी नहीं है।' (कन्फैशन्स, VII. १०)।

उपदेष्टाओं द्वारा कही गई सभी सत्य बात हमारे लिए स्वीकार्य हैं।'[1] ये सभी आत्मा के उस सर्व-समन्वयी धर्म के सदस्य हैं, जिसमें उन सबका समावेश है जिनका कोई भी धर्म है, जिसमें वे सब लोग आ जाते हैं जो यह मानते हैं कि संसार में एक ऐसा सत्य है जिसके पक्ष में और एक ऐसी बुराई है जिसके विरोध में संघर्ष किया जाना चाहिए। धार्मिक कट्टरता या असहिष्णुता यह प्रयत्न करती है कि संसार में सबके लिए एक ही धर्म का विधान कर दिया जाए और वह यह समझती है कि उसके धर्म-विशेष में अतिप्रकृत ईश्वर की जो झाँकी है वही सही है और उसको मानने से ही मुक्ति मिल सकती है, अन्यथा नहीं। वह धमकी देती है कि जो उसे स्वीकार नहीं करेंगे उन्हें मृत्यु के बाद नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी, क्योंकि आधुनिक लोकतन्त्रीय प्रणाली में इहलोक में तो खुले आम अत्याचार का निषेध है। यह एक द्वैतवादी विचारधारा है जो कट्टरता की भावना को जन्म देती है। यदि ईश्वर सचमुच ही संसार से भिन्न और पृथक् है तो मनुष्य को मुक्ति उसके विशेष कृपा-भाजन व्यक्तियों के द्वारा ही मिल सकती है। किन्तु जो लोग समस्त सत्ता के केन्द्र उस परम सत्ता पर विश्वास करते हैं, वे जानते हैं कि हरेक धर्म दैवीय कृपा की अनुक्रिया है जिसने हमें ऊँचा उठाया है। विभिन्न परम्पराएँ तो उन भाषाओं के समान हैं जिनमें धर्म के सीधे-सादे तथ्य अभिव्यक्त होते हैं। भाषा भले ही बदल जाए, भावना वही रहती है। पूजा के सभी स्वरूपों में, चाहे वे हमें कितने ही भद्दे और मूर्खतापूर्ण लगें, एक सार्थकता है। आखिरकार, हमारी अवधारणात्मक या काल्पनिक अभिव्यक्तियों की अपूर्णता या अस्थायित्व का कारण यह नहीं है कि संसार में कोई भी चीज पूर्ण नहीं है, बल्कि उसका कारण यह है कि संसार में

१. 'हमें यह शिक्षा दी गई है और हमने यह घोषणा भी की है कि ईसा ईश्वर का प्रथम पुत्र है, वह शब्द और बुद्धिस्वरूप है और उसके ज्ञान में मनुष्यों की सभी जातियाँ हिस्सा बँटाती हैं। और जो लोग बुद्धि का अनुसरण करते हुए जीये हैं वे सभी ईसाई हैं, भले ही वे नास्तिक समझे जाते रहे हों, जैसे कि ग्रीक लोगों में सुकरात और हेराक्लिटस और उनके-जैसे दूसरे आदमी'' यही नहीं कि प्लेटो के सिद्धान्त ईसा के सिद्धान्तों के विरोधी हैं, बल्कि वे उनके उससे अधिक सदृश नहीं हैं, जितने कि अन्य उपदेष्टाओं—स्टोइकों, कवियों और इतिहासज्ञों के सिद्धान्त हैं। क्योंकि हरेक ने ऐसी वस्तु को अंशतः देखा जो दिव्य तत्त्व बुद्धि के अनुकूल है और उसे ठीक ढंग से वर्णित किया। उन सबमें जो कुछ बातें अच्छी कही गई हैं वे सब हम ईसाइयों को स्वीकार्य हैं' (एपोलोजी, II, XIII. २-४)।

एक चीज पूर्ण भी है जो इनसे भिन्न है। हमारी बौद्धिक व्याख्याएँ या वर्णन हमारी भावी अन्तर्दृष्टियों में बाधक तब बनते हैं जबकि हम उन पर सकीर्ण कट्टरता से विश्वास करने लगते हैं और यह भूल जाते हैं कि ये हमारे अनुभवों को जोड़-तोडकर बनाये गए सिद्धान्त-मात्र हैं। सबसे बडी मूर्ति पूजा अक्षर की पूजा है। इसके अतिरिक्त हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि अधिकतर नर-नारी एक खास धर्म को भी एक खास भाषा की भांति इसलिए ग्रहण करते है कि वह एक खास स्थान मे और एक खास समय पर पैदा हुए हैं। उनकी इस बात के लिए आलोचना नही की जा सकती कि उन्होंने अमुक माता-पिता के घर में ही जन्म क्यों लिया, उनका ठीक चुनाव क्यों नहीं किया। इसमे व्यक्ति का लाभ ही है कि उसे एक पका-पकाया धर्म और एक सुप्रतिष्ठित धार्मिक परम्परा मिले, जो युगो मे और विचार तथा क्रिया की प्रतिष्ठा के विकास मे परिपक्व हो गए हो। परम्परा तभी तक उचित और मूल्यवान है जब तक कि वह हमारे भीतर भावना को जगाती है। यद्यपि कोई भी परम्परा अनुभव के अनुसार नही होती, तथापि हर परम्परा मे अपनी एक विशिष्टता और मूल्य होता है। यद्यपि सभी परम्पराएँ मूल्यवान होती हैं, तथापि कोई भी परम्परा अन्तिम और अपरिवर्तनीय नही होता। हर परम्परा तब तक बढ़ती और विकसित होती है जब तक उसके अनुयायी आध्यात्मिक दृष्टि से उद्बुद्ध होते हैं। यह तो एक ऐसी चिह्न-प्रणाली है जो हर युग मे बदलती रहती है। आत्मा किसी नश्वर और अस्थायी आकार या रीति से बँधी हुई नही है। जो लोग आकारों और रीतियों को लेकर झगड़ते है वे ईश्वर के शब्दों को नही देखते, उनकी छायाओं को देखते हैं, उसके स्वर को नहीं सुनते, उसकी प्रतिध्वनियों को सुनते हैं। अज्ञान के जगल मे लोग परम्पराओं को पगडंडियों की तरह मानकर उन पर चलते हैं। किन्तु ऋषि शब्दों के भी पीछे जाते हैं और अपने अनुभव के प्रकाश में उन्हें नया अर्थ प्रदान करते हैं। वे जिस सत्य की ओर सकेत करते हैं, वह सिर्फ इसलिए नहीं बदल जाता कि हम पुराने प्रतीकों और चिह्नों के स्थान पर नये प्रतीक और चिह्न रख देते हैं। विभिन्न धर्म विभिन्न चिह्न और प्रतीक इस्तेमाल करते हैं और किसी एक धर्म के इतिहास मे भी एक प्रतीक दूसरे प्रतीक का स्थान ले लेता है क्योंकि वह पहले प्रतीक की अपेक्षा अधिक सत्य होता है। ऋषियों में अन्य धर्मों के प्रति जो सहिष्णुता दिखायी देती है वह केवल उनकी बौद्धिक उदारता का प्रदर्शन-मात्र नहीं है, बल्कि वह

आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि से उत्पन्न निश्चय है।

ऋषि व्यक्तिवादी धर्म मे विश्वास रखते हैं और स्वतन्त्रता और स्वतःस्फूर्त प्रवृत्ति पर बल देते है। विज्ञान मे यह सम्भव है कि सबके लिए समान स्तर और पैमाने निर्धारित किये जा सके, किन्तु कला और साहित्य तथा दर्शन और धर्म मे व्यक्तिवाद अधिक सही है। मनुष्य की असीम की खोज किसी एक मार्ग या दिशा तक ही सीमित नही है। दिव्य-शक्ति की अपनी सन्तानों को विविध दिशाओ से जो पुकार होती है उसका तकाजा है कि मन को खुला और लचकीला रखा जाए। यह हो सकता है कि धार्मिक प्रयत्न, जो सैद्धान्तिक मान्यता को अनुभव मे परिणत करने और ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया मे विलग हुए जीव का उसके अपने सच्चे स्वरूप से मिलन करने की चेष्टा करता है, भावपूर्ण हृदय, सक्रिय इच्छा या प्रबुद्ध मन मे प्रारम्भ हो, किन्तु उसका प्रारम्भ चाहे जहाँ हो, उसका परिणाम मनुष्य की समूची प्रकृति पर होता है और वह बदल जाती है। मन का एक विचार, इच्छा की एक उमग और हृदय की एक आवश्यकता मनुष्य की सारी सत्ता को ही सक्रिय कर सकती है। स्वतन्त्रता आध्यात्मिक जीवन का सर्वोच्च नियम है। उपनिषद् मे कहा गया है : 'जैसे आकाश मे पक्षी और समुद्र मे मछलियाँ अपने पीछे कोई चिह्न छोडे बिना विचरण करती है, वैसे ही अध्यात्म-[illegible] ईश्वर की ओर जाने के मार्ग पर बिना कोई चिह्न छोडे विचरण करते हैं।' हर व्यक्ति ने अपने हृदय के रक्त से अपनी पूर्णता का मार्ग अंकित किया है। बुद्ध से जब दार्शनिक समस्याओं के उत्तर पूछे गए तो उन्होने उनके स्पष्ट उत्तर देने से इसलिए इनकार नही किया कि वह स्वय अनिश्चय की दशा मे थे या निश्चित उत्तर देने से घबराते थे। बुद्ध अपने मन को किसी से भी कम निश्चित रूप मे नही जानते थे, वह अप्रिय सत्य को कहने मे किसी से कम निर्भीक नही थे, फिर भी उन्होंने हमेशा अपने अनुयायियो के लिए कोई एक नियत धर्म या मत स्थिर करने से इनकार किया। उन्होने इस बात पर बल दिया कि हर व्यक्ति स्वय अपनी शिक्षा ग्रहण करे। गुरु का काम तो केवल जिज्ञासा पैदा करना है, सत्य की निधि को खोजना शिष्य का अपना काम है। 'इस विषय पर मैंने कुछ नही लिखा और न मैं लिखूंगा। वह ज्ञान की अन्य शाखाओं मे विद्यमान अभिव्यक्ति के साधनो से परे है। बल्कि स्वय उस वस्तु (सत्ता) पर दीर्घकाल तक चिन्तन करने और उसके साथ रहने से एकाएक उड़ते हुए स्फुलिंग की भाँति सहसा एक ज्योति जल उठती

है, जो एक बार आत्मा में पहुँचने के बाद स्वयं प्रज्ज्वलित होती रहती है।'[1] ईसा ने किसी मत, संहिता या संविधान की घोषणा नहीं की, किन्तु वह अपने जीवन और अपने उपदेशों के रूप में धार्मिक जीवन का एक उदाहरण हमारे लिए छोड़ गया। हममें से हरएक को अपने लिए विश्व के अनुसन्धान का अधिकार है। हरएक को अज्ञात के रहस्यों में प्रवेश के लिए अपना मार्ग स्वयं बनाना है, और दूसरे लोग चाहे कितनी भी सहायता करें, किन्तु सफलता और उपलब्धि व्यक्तिगत होती है। प्रत्येक व्यक्ति को पहाड़ की खड़ी और थका देने वाली चढ़ाई स्वयं चढ़नी है और केवल उसके शिखर से ही वह दिव्य दृश्य और उसका सौन्दर्य देखा जा सकता है। गुरु हमें रास्ते पर डाल सकता है, वह हमें उसकी कठिनाइयों और खतरों से सचेत कर सकता है, किन्तु अन्तिम रहस्य हमें स्वयं व्यक्तिगत रूप में पाना होगा।[2]

धार्मिक प्रयत्न क्योंकि हर व्यक्ति का निजी होता है, इसलिए ईश्वर तक पहुँचने के लिए उसे पूरी स्वतन्त्रता दी गई है। कोई भी नाम, कोई भी आकार और कोई भी प्रतीक समूचे व्यक्तित्व को गतिशील बना सकता है और जिज्ञासु और साधक के मन में बसी दिव्य सत्ता उसे ऊपर उठाकर उसकी पूजा ग्रहण कर सकती है। ईश्वर को कभी-कभी व्यक्तिगत मित्र और प्रेमी के रूप में देखा जाता है। बहुत से लोगों को ईश्वर तक पहुँचने के लिए एक मानवीय बिचौलिये की, उदाहरण की या अवतार की आवश्यकता अनुभव होती है। कुछ लोग किसी ऐसे व्यक्ति में दिव्य आत्मा को अनुभव करना चाहते हैं जो मानवता के बिलकुल निकट हो, जैसे कृष्ण, बुद्ध या ईसा-जैसे अवतार। कुछ लोगों के लिए यह भी काफी नहीं होता और उन्हें मुहम्मद-जैसे पैगम्बर की जरूरत होती है। और कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिन्हें गुरु को पाए बिना चैन नहीं पड़ता, जो उन्हें ज्ञान इतना नहीं देता, जितना अपने प्राण और प्रेरणा को शिष्य में संक्रान्त करता है।

१. जे० मिडिल्टन मरे की 'कीट्स एण्ड शेक्सपीयर' पुस्तक (१९२५) में पृ० २२३ पर कार्नफोर्ड द्वारा किये गए प्लेटो के अंग्रेजी अनुवाद से उद्धृत अंश।

२. जैसा कि दान्ते ने कहा है : घण्टा तब बजता है, जब वर्जिल रास्ता दिखाना बन्द कर देता है :

> 'तर्क और बुद्धि जो कुछ बता सकते हैं, उन्हें तुम्हें दिखाने की शक्ति मुझमें है; किन्तु जो उसके परे है, उसे तू बीट्रिस से पाने की आशा कर, वह विश्वास का काम है, बुद्धि का काम नहीं।'
>
> (परगेटरी, १८, ४०-४८)।

१०. बोध :

परम सत्ता को पाने के मार्ग का सफर बहुत धीमा है। हिन्दू और बौ विचारधाराओं, ऑरफियस के रहस्यवाद, प्लेटो के दर्शन और ईसाई मत के पु प्रारम्भिक रूपों मे यह माना गया है कि खोये हुए स्वर्ग की पवित्र चाह के पू होने मे बहुत समय लगता है। स्वर्ग से भ्रष्ट आत्माएँ, जो इस समय कारागा की तरह पृथ्वी पर रह रही है, कभी ऊपर और कभी नीचे घूमती रहती हैं औ उनके पूर्व जीवन या जन्म के कर्म उनके उत्तर-जीवन या जन्म को प्रभावित कर है। हिन्दुओ का मत है कि आध्यात्मिक पूर्णता का लक्ष्य एक सुदीर्घ और धैर्य पूर्ण अध्यवसाय के बाद प्राप्त होता है। प्रत्येक जीवन, प्रत्येक कार्य एक ऐसा कदम है जिसे हम आगे की ओर उठा सकते है या पीछे की ओर। अपने विचार और कर्म से हर व्यक्ति यह निश्चित करता है कि उसे अभी क्या बनना है। प्लेटो के अनुसार बुद्धिमान व्यक्ति प्रत्यक्ष जगत् से हटकर अपनी आभ्यन्तर और और आध्यात्मिक आँख हमेशा नित्य आदर्श की ओर लगाए रखता है और यदि वह अपना यह अध्यवसाय जारी रखे तो व्यक्ति स्थूल ऐन्द्रियिक देह के बन्धनो से मुक्त हो जाता है और मृत्यु के बाद वह तब तक ऊपर-ही-ऊपर चढ़ता जाता है जब तक कि अन्ततः वह फिर से अपने नित्य प्रकाश के आवास में न लौट जाए।[1] हमारे पाँव उच्चतर जीवन की राह पर रखे हुए है, हालांकि वे अनिश्चय की दशा मे भटकते रहते है और राह भी बिलकुल स्पष्ट नज़र नही आती। उच्च आदर्श का आकर्षण हो सकता है, किन्तु मनुष्य की समूची प्रकृति उसकी ओर ऊपर नहीं उठती। पूर्ण आत्मसमर्पण ही उसे प्राप्त करने का उपाय है, किन्तु वह आसान नही है। लेकिन मनुष्य का कोई भी प्रयत्न व्यर्थ नही होता। व्यक्तिगत और सामाजिक व्यवहार के मामलो में मनुष्य की आध्यात्मिक प्रतिष्ठा के फलितार्थों को हम अभी तक पूर्णतः प्राप्त नही कर सके। उसके लिए युगों तक प्रयत्न करना

१. डीन इंगे ने लिखा है : 'आत्मा के पूर्व अस्तित्व में अविश्वास अधिक महत्वपूर्ण है और उसका एक आंशिक कारण यहूदियों का प्रभाव हो सकता है। ग्रीक लोगों की दृष्टि में आत्मा के पूर्व-अस्तित्व का सिद्धान्त मृत्यु के बाद भी आत्मा के रहने या नष्ट होने के विश्वास के साथ टिकता या गिरता है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि आत्मा के पूर्वास्तित्व पर अधिकतर ग्रीक लोगों का विश्वास नहीं था, और प्लेटो और नव-प्लेटोवादियों के परवर्ती काल में तो यह एक तरह से लुप्त ही हो गया था। यह सम्भव है कि पैथागोरस और प्लेटो के सिद्धान्त का अब भी भविष्य में कुछ मूल्य हो।' (दि लिगेसी आफ ग्रीस (१९२१ लिविंगस्टन द्वारा सम्पादित, पृ० ४४)।

पड़ता है और जन्म-जन्मान्तर तथा अनेक स्तरों तक यह प्रक्रिया जारी रहती है।

११. मुक्ति :

धर्म का उद्देश्य हमें अपनी क्षणिक और अर्थहीन एकदेशीयता से ऊपर उठाकर नित्य की सार्थकता और उच्च स्थिति तक पहुँचाना और जीवन की अराजकता और व्यामोह को विशुद्ध और अमर तत्त्व में, जो उसकी आदर्श सम्भावना है, रूपान्तरित करना है। यदि मानवीय मन अपने-आपको इतना बदल ले कि हमेशा दिव्य प्रकाश की भव्यता को अनुभव करे, यदि मानवीय भाव अपने-आपको दिव्य आनन्द के परिमाण और गति में परिणत कर ले, यदि मानवीय कर्म दिव्य जीवन की सृजनात्मकता में हिस्सा बँटाएँ, यदि मानवीय जीवन दिव्य तत्त्व की पवित्रता में साझेदार हो जाए, और यदि इस समग्र उच्च जीवन को हम कायम रख सकें तो इस ब्रह्माण्ड प्रक्रिया का यह सुदीर्घ श्रम सफल होगा और शताब्दियों की विकास-परम्परा सार्थक सिद्ध होगी। व्यक्ति और समस्त मानव-जाति में मानवीय जीवन की दिव्यता प्रदान करना महान् धर्मों का स्वप्न है। इसीको हिन्दू मोक्ष कहते हैं, बौद्ध निर्वाण[1] और ईसाई स्वर्ग का राज्य कहते हैं। प्लेटो की दृष्टि में यह विशुद्ध प्रत्यय के निर्मल और निष्प्रत्यूह प्रत्यक्ष ज्ञान से युक्त जीवन है। वह मनुष्य का अपने स्वरूप को पहचानना, अपनी सत्ता को पुनः पूर्ण रूप में अवस्थित करना है। योग सूत्र के शब्दों में वह 'तदा द्रष्टु स्वरूपे अवस्थानम्' है। स्वर्ग कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ ईश्वर रहता है, बल्कि वह सत्ता की एक ऐसी व्यवस्था है, आत्मा का एक ऐसा जगत् है, जिसमें ज्ञान, प्रेम, और सौन्दर्य की उच्चतम स्थिति हमेशा विद्यमान रहती है, वह एक ऐसा जगत् है जिसमें हम सभी आत्मिक रूप में तत्काल प्रवेश कर सकते हैं, जिसे हम अपने

१. उदान ने बुद्ध का दृष्टिकोण इस प्रकार स्पष्ट किया है : 'एक ऐसी स्थिति (आयतन) है, जिसमें न पृथ्वी है, न जल; न अग्नि है न वायु; न अनन्त आकाश है, न अनन्त चेतना; न अभाव है, न चेतन-अचेतन स्थिति। न वहाँ यह लोक है, न परलोक; न सूर्य है न चन्द्रमा। उसे न मैं आगमन कहता हूँ, न गमन; न स्थिति कहता हूँ, न मृत्यु और न उत्थान; वह आश्रयहीन है, निराधार है और निर्गतिक है। वह वेदना का अन्त है, वह अनुत्पन्न, अनवस्थित, अकृत और अमिश्रित स्थिति है, यदि वह ऐसी न होती तो उत्पन्न, अवस्थित, कृत और मिश्रित से किसी भी तरह मुक्ति नहीं हो सकती।' (८ - १-४)। बौद्धों के निर्वाण सम्बन्धी दृष्टिकोण को विस्तार से जानने के लिए लेखक की पुस्तक 'इंडियन फिलासफी', भाग १, द्वितीय संस्करण (१९२९) देखिए।

भीतर और समाज के भीतर पूर्णत. साक्षात्कार कर सकते हैं, भले ही हमे उसके लि
धैर्य से कठोर परिश्रम करना पड़े। ईसा के पुनर्जन्म की आशा आत्मा के इस दृ
विश्वास की अभिव्यक्ति है कि एक आध्यात्मिक सत्ता वास्तविक रूप मे विद्यमा
है। विश्व की प्रक्रिया अपनी उच्चतम चरम अवस्था मे तब पहुँचती है जब हे
आदमी अपने-आपको अमृत आत्मा के रूप मे, ईश्वर के पुत्र के रूप मे जानता,
और वैसा हो भी जाता है। जब तक इस लक्ष्य की प्राप्ति नही होती तब तक
प्रत्येक व्यक्ति विश्वव्यापी चेतना का केन्द्र रहता है। वह अहकार की भावना से
बिना काम करता रहता है। मुक्ति का अर्थ ससार से बाहर चले जाना नही है।
मुक्ति का अर्थ जीवन से पलायन नही है। व्यक्ति इस विश्व ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया
मे अज्ञात और सीमित अस्मिता के रूप मे नही रहता, बल्कि वह एक ऐसी दिव्य
या विश्वव्यापी चेतना का केन्द्र बनकर रहता है जो समस्त व्यक्तिगत अभि-
व्यक्तियो को अपने आलिंगन मे लेकर उनमे ऐक्य और सहस्वरता पैदा करती है।
मुक्ति का अर्थ है अपनी आन्तरिक सत्ता मे गम्भीर परिवर्तन करके ससार के
मध्य रहना। आत्मा अपने-आप पर पूर्ण अधिकार रखती है और ससार के
प्रलोभनो और आक्रमणो से अपनी शान्ति को भग नही होने देती। आन्तरिक
आध्यात्मिक ज्योति व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन को असम्भव नही बना देती। यदि
मुक्त आत्माएँ ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया से सचमुच ही अलग हो जाएँ तो ससार का
कभी भी मोक्ष नही हो सकेगा। वह हमेशा अनन्त झगड़ों और विग्रहो एव अज्ञान
और अन्धकार का आवास बना रहेगा। हिन्दू लोग मुक्ति की अनेक अवस्थाएँ
मानते है किन्तु पूर्ण मुक्ति ही अन्तिम मुक्ति है। महायान बौद्ध सम्प्रदाय की
मान्यता है कि बुद्ध ने निर्वाण की देहरी पर खड़े होकर यह प्रण किया था कि वह
इस निर्वाण मे तब तक ससारी प्राणियो के उद्धार के लिए लौटता रहेगा जब तक
कि पृथ्वी पर एक भी व्यक्ति ऐसा है जो मुक्त नही हुआ। भागवत पुराण मे यह
प्रार्थना दी गई है: 'न मैं आठों सिद्धियो से परिपूर्ण जीवन चाहता हूँ, न पुनर्जन्म
से मुक्ति, मैं तो समस्त पीडित प्राणियो के दु खो का वहन करना और उनमे
प्रविष्ट होकर उन्हें दु ख से मुक्त कराना चाहता हूँ।' महान् आत्माएँ जो आत्म-
पूर्णता चाहती है वह तब तक पूर्ण नही होती जब तक अन्य आत्माएँ भी वह पूर्णता
प्राप्त न कर लें। जहाँ तक धार्मिक क्षेत्र का सम्बन्ध है, व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का
यह आदर आधुनिक लोकतन्त्र की कोई नयी खोज नही है। जब इस विश्व ब्रह्माण्ड
प्रक्रिया से इस सत्य की प्रतीति होती है कि सभी प्राणी एक ही ईश्वर की सन्तानें

जब भगवान् के सभी अपने आदमी पैगम्बर, उसके सन्देशवाहक बन जाते हैं, यह विश्वव्यापी पुनर्जन्म होता है, तब उस महान् विश्व-पुनर्जन्म की अन्तिम परिणति होती है जिसमें प्रकृति मुक्ति पाने का प्रयत्न करती है।

इस स्थिति में हम धार्मिक अनुभव के विभिन्न वर्णनों को एक-दूसरे के निकट ला सकते हैं।

एक चेतना ऐसी भी होती है जो प्रत्यक्षीय, काल्पनिक या बौद्धिक चेतना से भिन्न होती है और यही चेतना स्वत-प्रमाण और पूर्ण होती है। वास्तविक सत्ता के सम्बोध की प्राप्ति के इस सीधे स्वत प्रमाण उपाय से ही सब युगों के धार्मिक पुरुषों ने ईश्वर को दृढ निश्चय और विश्वास के साथ जाना है।

व्यापक और बृहत्तर परिवेश व्यक्ति के अपने स्वरूप के अनुसार होता है और उसके साथ व्यक्ति अवसर सम्पर्क में आता रहता है। इस आध्यात्मिक परिवेश की व्याख्या में भेद और अन्तर हो सकते हैं, किन्तु यह सही है कि सत्य की खोज और अच्छाई को पाने के लिए उद्यमी जीवन का एकमात्र औचित्य और सार्थकता इसी में है।

आत्मा और विश्व के बीच सर्वव्यापी ऐक्य के अन्तर्ज्ञान पर कभी-कभी इतना अधिक बल दिया जाता है कि हम एक ऐसे ईश्वर को भी, जो हमारे प्रेम का प्रत्युत्तर दे सकता है, या अपनी ऐसी आत्मा को भी जो वास्तव में पूर्णतः स्वतन्त्र और व्यतिरिक्त हो, मानने से इनकार कर देते हैं।

जिन लोगों में यह चेतना है कि वे सन्त आत्माएँ हैं, उनके जीवन में आत्मा की सर्वोच्चता की भावना, अजेय आशावादिता, अन्ततः सभी प्राणियों की मुक्ति की नैतिक भावना और धार्मिक सहिष्णुता घर कर जाती है।

स्थायी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि धार्मिक प्रयत्न का उद्देश्य है और नैतिक जीवन और ईश्वर का ध्यान उसके उपाय हैं।

धार्मिक अनुभवों के ये सब वचन जिन प्रश्नों को उठाते हैं, उन पर विस्तार में विचार करना सम्भव नहीं है, सिर्फ उन पर कुछ सामान्य विचार ही किया जा सकता है जो इन वचनों की प्रामाणिकता की कसौटी उपस्थित कर सकता है।

४. बुद्धि और अन्तर्ज्ञान

यदि समस्त ज्ञान वैज्ञानिक ढग का हो तो आज धर्म को जो चुनौती दी जा रही है वह अन्तिम और निर्णायक प्रतीत होगी। इस प्रकार समस्या हमारे सामने यह रह जाती है कि क्या अन्तर्ज्ञानात्मक सहज ज्ञान-जैसी कोई चीज वास्तव में है और यदि है तो वह किन परिस्थितियों में प्रामाणिक और स्वीकरणीय होती है। क्या ऐसा कोई ज्ञान हो सकता है जो तर्क-वाक्यों में प्रकट न किया जा सके और फिर भी विश्वसनीय हो ?

१. पूर्वी विचारधारा में सृजनात्मक अन्तर्ज्ञान पर बल :

सुकरात और भारतीय दार्शनिक का कथित सवाद यह सूचित करता है कि पश्चिम की समूची विचार-परम्परा में मनुष्य तत्त्वत बौद्धिक और तार्किक प्राणी है, वह केवल तार्किक ढग से सोच सकता और उपयोगिता की दृष्टि से कार्य कर सकता है। पश्चिमी मन विज्ञान, तर्क और मानवीयवाद पर बहुत बल देता है। इसके विपरीत हिन्दू विचारकों का मत आम तौर पर यह है कि हममें एक ऐसी शक्ति भी है जो तर्क-बुद्धि से अधिक अन्तरगलवर्ती है और जिसके द्वारा हम यथार्थ सत्ता को उसकी अधिक घनिष्ठ और आन्तरिक वैयक्तिकता के साथ अनुभव करते हैं, केवल उसके ऊपरी, सतही और बाह्य पहलुओं को ही नहीं। हिन्दू विचारक फिलॉसफी को 'दर्शन' यानी अन्तर्दृष्टि कहते हैं। उनकी दृष्टि में यह सत्य का ऐसा दर्शन है जो तर्क और युक्ति-प्रतियुक्ति और प्रमाण का विषय नहीं है। उनका विश्वास है कि मन को धीरे-धीरे साधना से आनुमानिक या परिकल्पित बुद्धि और मन पर पड़ी हुई अतीत की छापों से मुक्त किया जा सकता है और वह अपने ज्ञान के विषय के साथ ऐक्य स्थापित कर सकता है और तभी उस विषय के स्वरूप की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है।[1] उनका मत है कि हम सत्य की शक्ति

१. वैशेषिक सूत्र, ९.२ १३। ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष से प्राप्त न होने वाले इस ज्ञान को अनेक नाम दिये गए हैं, यथा प्रज्ञा, प्रतिभा, आर्षज्ञान, सिद्धदर्शन और योगिप्रत्यक्ष (जयन्त की 'न्याय

मे अपनी नियति को नियन्त्रित कर सकते हैं। ज्ञान का अर्थ है शक्ति। ज्ञान का अभाव ही समस्त दुःखों का मूल है। 'विद्या मोक्ष है और अविद्या ससार।' अन्तर्ज्ञान मे आत्मा को जानना ही मुक्ति का साधन है। जो जानता है वह उस ज्ञान के द्वारा ही मुक्त हो जाता है। अन्तर्ज्ञान और अन्तर्दृष्टि ही मोक्ष हैं। 'जो यह जानता है कि मैं ब्रह्म हूँ वह ब्रह्म हो जाता है।'[1] 'जो उस परम ब्रह्म को जानता है वह स्वय ब्रह्म हो जाता है।'[2] हम ब्रह्म को तब तक पूर्ण और सत्य रूप मे नहीं जान सकते, जब तक कि हम उसके स्वरूप के अग न बन जाएँ, उसके साथ तादात्म्य स्थापित न कर लें। ईश्वर को जानने का अर्थ है स्वयं दिव्य स्वरूप हो जाना, भय या दुःख पैदा करने वाले किसी भी बाह्य प्रभाव से मुक्त हो जाना। ब्रह्म पूर्ण सत्ता तो है ही, शुद्ध ज्ञान और अन्तर्ज्ञान भी है। अन्तर्ज्ञान ससार के मूल तत्त्व के रूप में मूर्त होना है। हिन्दू दर्शन और धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों मे वेद को प्रमाण मानने का अर्थ यह स्वीकार करना है कि अन्तर्ज्ञान और अन्तर्दृष्टि दर्शन के गहन और दुर्बोध प्रश्नों के समाधान के लिए तार्किक सम्बोध की अपेक्षा अधिक बड़ा ज्ञान और आलोक हैं।[3] उदाहरण के लिए शकर ने अनुभव को सबसे बड़ा ज्ञान माना है। यह अनुभव बिलकुल स्पष्ट और निर्विकल्पक न भी हो तो भी वह सुनिश्चित और सजीव होता है। बुद्ध ने बोधि अर्थात् ज्ञान के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। यह सब जानते हैं कि दार्शनिक बारीकियों और सूक्ष्मताओं को उसने कभी पसन्द नहीं किया। बुद्ध के अनुसार दार्शनिक बारीकियों मे होने वाली दिमाग की कसरत उच्च जीवन में बाधा डालती है। वास्तविक सत्ता का ज्ञान आध्यात्मिक प्रयत्न से ही प्राप्त किया जा सकता है। चिन्तन और विचार के द्वारा यथार्थ सत्ता तक नहीं पहुँचा जा सकता। उस तक पहुँचने का उपाय है उसी मे वास करना। प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में प्रज्ञा अथवा अन्तर्ज्ञान को मानवीय मन की उच्चतम क्रिया कहा गया है।[4] हिन्दू और बौद्ध दोनों विचारधाराओं मे मानवीय आत्मा की उच्च जीवन की आकांक्षा को ही ब्रह्माण्ड की व्याख्या की आधारभूत कुञ्जी मानने की प्रवृत्ति

मञ्जरी', पृष्ठ १६८; 'भाषापरिच्छेद', ६६)।

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, १.४.१० और १५।
२. मुण्डकोपनिषद्, ३.२.६।
३. मनुस्मृति, ७।
४. 'बोधि का अर्थ है आत्मा और जीवन दोनों में सत्ता का आधारभूत ऐक्य स्थापित करना, समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त आत्मिक ऐक्य स्थापित करना।' अनेसाकी : 'हिस्ट्री ऑफ जापानीज रिलिजन' (१९३०), पृष्ठ ५३। बुद्ध घोष ने प्रज्ञा (अन्तर्ज्ञान) को विज्ञान (तार्किक ज्ञान) और संज्ञा (प्रत्यक्ष ज्ञान) से ऊँचा माना है।

प्लोटिनस[1] और नव-प्लेटोवादी दोनों ही इस सम्बन्ध में सुनिश्चित थे कि अकेला तार्किक ज्ञान अपर्याप्त है। नव-प्लेटोवाद ने, जिसका जन्म सिकन्दरिया में हुआ, जहाँ पूर्वी विचार-पद्धति सर्वथा अज्ञात नहीं थी, अधिक समन्वित और समवेत दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जिसमें तर्क की प्रक्रियाओं का आधार 'अव्यवहित अनुभव की सुनिश्चितता' को बनाया गया था। किन्तु तार्किकोत्तर दार्शनिकों[2] ने फिर से 'सुनिश्चितता' की समस्या के समाधान के लिए विशुद्ध तार्किक मार्ग का आश्रय लिया और जैसे-जैसे प्राकृतिक विज्ञानों की अभिवृद्धि होने लगी और वे प्रेक्षण और परीक्षणों के द्वारा सिद्धि से ज्ञान की सीमाओं का विस्तार करने लगे, वैसे-वैसे दर्शन को भी विज्ञान के आधार पर प्रतिष्ठित करने की प्रवृत्ति लोकप्रिय होने लगी। यद्यपि विज्ञानों की अध्ययन-प्रणाली इस प्रकार की थी कि उसमें उन प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता था जिनसे विश्वास सुदृढ होते थे और विचार विकसित होते थे, तो भी उसकी असल दिलचस्पी अनुसन्धान के शाब्दिक पक्ष में जितनी थी, उतनी उसके याथार्थिक पक्ष में नहीं थी। अनुसन्धान के यथार्थ रूप में यदि दिलचस्पी ली जाए तो वह स्वभावत तार्किक व्याख्याओं को एक नियत सीमा से आगे नहीं बढने देगा।

देकार्त की दृष्टि में, जिससे आधुनिक यूरोपीय दर्शनशास्त्र ने एक नयी दिशा ग्रहण की है, सत्य का अर्थ है स्पष्टता और विविक्तता। जो चीज गणित के आकार में अभिव्यक्त की जा सकती है वह स्पष्ट और विविक्त होती है। देकार्त ने तर्क की विश्वव्यापी अवधारणाओं की एक प्रणाली स्थापित की। ये अवधारणाएँ कुछ आधारभूत, तार्किक और गणितीय सम्बन्धों पर विचार करके बनायी गई हैं। अपने एक प्रसिद्ध वाक्य में उसने कहा है, 'गणितशास्त्र के नियमों से मुझे बहुत खुशी हुई। और यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि इतनी सुदृढ और ठोस नींव पर भी कोई अधिक ऊँची इमारत खडी नहीं की गई।'[3]

१. प्लोटिनस भारतीय और ईरानी दर्शनशास्त्रों के अध्ययन का अवसर पाने के लिए ही गोर्डियन की सेना के साथ गया था। यद्यपि मेसोपोटामिया में गोर्डियन की मृत्यु हो जाने से उसे मार्ग में ही रुक जाना पडा, तो भी इस बारे में उसका उत्साह स्पष्ट है।

२. मध्ययुग की निविद्याओं के इस अध्ययन क्रम को देखिए : (१) व्याकरण, (२) अलंकार-शास्त्र और (३) तर्कशास्त्र।

३. 'फिलॉसफिकल वर्क्स ऑफ देकार्त' हाल्डेन और रॉस द्वारा अंग्रेजी में अनूदित (१९११) भाग १, पृष्ठ ८५। साथ ही तुलना कीजिए : 'सत्य की ओर जाने के लिए सीधे मार्ग की अपनी खोज में, हमें किसी ऐसी वस्तु में अपने-आपको नहीं उलझाना चाहिए जो अंक-

उसकी विश्वव्यापी गणित की कल्पना और उसके इस विश्वास का, कि सभी वस्तुएँ रेखागणित की वस्तुओं की भाँति परस्पर-सम्बद्ध हैं,[1] अर्थ यह है कि यह सारा संसार विशुद्ध यान्त्रिक ममार है। स्पिनोज़ा का तो कहना है कि आचार-शास्त्र में भी रेखागणित की विधि ही इस्तेमाल की जानी चाहिए। लाइबनित्ज की दृष्टि में मोनैड या प्रत्यक्ष अनुभव करने वाले मन प्रत्यक्ष ज्ञान के आकार से भिन्न वस्तु नहीं हैं, क्योंकि हर मोनैड, जहाँ तक कि उसके प्रत्यक्ष ज्ञान की अन्तर्वस्तु का सम्बन्ध है, एक-दूसरे से मिलता-जुलता है। हर मोनैड अपने-अपने विशेष कोण से पूर्ण विश्व को ही प्रतिबिम्बित करता है। किन्तु निम्नतम कोटि के मोनैडों, पौधे और प्राणी दोनों, को धुँधला और अस्पष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। और उच्चतम मन (ईश्वरीय मन) का संज्ञान पूर्णतः स्पष्ट, विविक्त और पूर्ण होता है। हम मानव-प्राणी इन दोनों के बीच में हैं। ऐन्द्रियिक ज्ञानजन्य गुणों के हमारे प्रत्यय अस्पष्ट हैं और तर्क और गणित-शास्त्र-सम्बन्धी प्रत्यय स्पष्ट और विविक्त हैं। हम अपने ऐन्द्रियिक प्रत्ययों को तर्क और गणित-शास्त्र पर आधृत प्रत्ययों में, और तथ्यात्मक विचारों को तर्क द्वारा कल्पित विचारों में परिवर्तित करने का प्रयत्न करते हैं। लाइबनित्ज की दृष्टि में इस उद्देश्य की पूर्ति का अर्थ है विचार के विभिन्न सम्भावित रूपों की एक नियमबद्ध प्रणाली निर्धारित करना और साथ ही इस प्रणाली के अन्तर्गत नियम जिन विश्वव्यापी शाश्वत नियमों का पालन करते हैं, उन्हें निश्चित करना। इस तरह की प्रणाली की एक योजना लाइबनित्ज ने तैयार की और एक तरह से वह प्रतीकात्मक तर्कशास्त्र का आधार बन गई। बाद में बूल और पीनो, फ्रेगे, रसेल तथा अन्य व्यक्तियों की रचनाओं में इस तर्कशास्त्र का भारी विकास हुआ।

काण्ट का मूल उद्देश्य दर्शनशास्त्र को विज्ञान के सुरक्षित मार्ग पर ले जाना था और उसने इस सम्भावना पर विचार भी किया कि क्या दर्शनशास्त्र विज्ञान का रूप ले सकता है ताकि उसकी शर्तें निर्धारित की जा सकें। विज्ञान और दैनिक जीवन में जिस 'प्रकृति' से हमारा वास्ता पड़ता है वह उस

गणित और रेखागणित में पाई जाने वाली सुनिश्चितता के बराबर सुनिश्चित न हो।' (डिस्कोर्स ऑफ़ मैथड)।

१. 'फ़िलॉसॉफ़िकल वर्क्स ऑफ़ देकार्त', हाल्डेन और रॉस द्वारा अंग्रेज़ी में अनूदित (१९११) भाग १, पृष्ठ ९२।

अवबोध का परिणाम है, जो विविध प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञानों को एक ऐसे तर्क द्वारा नियमबद्ध ससार मे व्यवस्थित कर देता है, जिसे काण्ट ने परम्परागत आकारी या विश्लेषणात्मक तर्क से भिन्न सश्लेषणात्मक तर्क का नाम दिया है। उसके उत्तरवर्ती दार्शनिको ने इस सश्लेषणात्मक तर्क को लेकर काण्ट की प्रणाली की अपूर्णताओ को दूर करने के लिए उसका उपयोग किया। काण्ट मे एक बुद्धिगम्य ससार को नैतिक आचार का आधार मानकर चलने की जो प्रवृत्ति दीख पडती है, उसे उसके उत्तरवर्ती दार्शनिको ने असगत कहकर अस्वीकार कर दिया। उन्होने प्रत्यक्ष जगत् को भी कवि-कल्पना कहकर उपेक्षित कर दिया। हेगल की विचारधारा मे तर्क महज विचार का एक सिद्धान्त ही नही रह जाता, बल्कि वह वास्तविकता और यथार्थता का वर्णन बन जाता है। वह एक वास्तविक प्रक्रिया का, जिसके द्वारा पूर्ण आत्मा मानवीय चेतना, प्रकृति, इतिहास, समाज, कला और धर्म मे ब्रह्माण्ड द्वारा धारण किये गए विभिन्न आकारों से बने विश्व के रूप मे अपने-आपको अभिव्यक्त करती है, अमूर्त प्रतिपादन है। 'जो तर्कसगत है वह यथार्थ है और जो यथार्थ है वह तर्कसगत है।'[1] हेगल ने इतिहास को स्थापना (थीसिस), प्रतिस्थापना (ऐण्टीथीसिस) और सस्थापना (सिन्थेसिस),—इस त्रिविध क्रमिक प्रक्रिया के रूप मे आत्मा की अभिव्यक्ति माना है। उसका यह सिद्धान्त एक ऐसी बौद्धिक सयोजना है जो मोटे तौर पर तथ्यो को एक प्रागनुभव (पहले से ही मान लिये गए) सूत्र (ए प्रायोराई फार्मूला) मे जबरदस्ती बाँधने का प्रयत्न करती है। हेगेल का प्रभाव बाद के प्रत्ययवादियों मे भी दृष्टिगोचर होता है। एडवर्ड केयर्ड ने कहा है, 'कोई भी तथ्य, जिसकी व्याख्या न की जा सके या जिसे किसी नियम मे न बाँधा जा सके, बुद्धिगम्य ससार मे विद्यमान नही माना जा सकता।'[2] हेगेल के अनुयायियों की दृष्टि मे यथार्थ सत्ता का ज्ञान तत्त्वतः तार्किक ढग से ही हो सकता है। बोसांके का दृष्टिकोण अधिक हेगेलवादी और ब्रैडले का अधिक काण्टवादी है। ब्रैडले के मत मे विचार सापेक्ष सम्बन्धों के जगत् मे ही गति करता है, वह अन्तिम यथार्थ सत्ता को कभी ग्रहण या ठोस रूप मे निर्धारित नही कर सकता।

१. हेगेल : दि फिलॉसफी ऑफ राइट (डाइड का अंग्रेजी अनुवाद) (१८९६), पृष्ठ २७।
२. हेगेल, पृष्ठ १४१; इसके अतिरिक्त देखिये; रिची : फिलॉसॉफिकल स्टडीज, पृष्ठ २२६; वाट्सन : दि इंटरप्रिटेशन ऑफ रिलिजस एक्सपीरियेन्स (१९१२), भाग १, पृष्ठ ७४ और २९४।

यथार्थवादी लोग तर्कशास्त्र और वैज्ञानिक पद्धति के पुजारी हैं। यथार्थवादी विचारकों का विश्वास है कि ज्ञान का सर्वोच्च साधन तर्क-बुद्धि है और अपने इस विश्वास के कारण ही उन्होंने विशिष्ट समस्याओं के सूक्ष्म निर्धारण में अपनी अधिकतर शक्ति लगायी है। व्यवहारवादियों का कहना है कि सोचने और बात-चीत करने में बहुत गहरा सम्बन्ध है और वे चिन्तन को भाषा या अभिव्यक्ति से सम्बद्ध विषय मानते हैं। मैक्समुलर के शब्दों में, 'सोचने का अर्थ है मन्द आवाज में बोलना और बोलने का अर्थ है ऊँची आवाज में सोचना।'

मुकरात के संकल्पना पर बल से आरम्भ कर रसेल के गणितीय तर्क तक, पश्चिमी दार्शनिक विचारधारा का समूचा इतिहास तर्क की प्रधानता का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण रहा है। तर्कवाद हमारे हाड़-मांस में बिंधा हुआ है और यही कारण है कि हम वैज्ञानिक ज्ञान पर विश्वास करते हैं और धार्मिक विश्वास को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। यदि सामान्य ज्ञान से ऊँची कोई शक्ति नहीं है', यदि 'धर्म की सत्यता' यानी धार्मिक अनुभव की प्रामाणिकता को हमें 'संसार, मानवीय इतिहास, आत्मा और उसकी शक्तियों और क्षमताओं-सम्बन्धी विवाद और ऊहापोह में तर्कसंगत अनुमान के द्वारा, अथवा ज्ञान की इन वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्धों के ज्ञान से,'[1] ही सिद्ध करना है, तो हमारे लिए ईश्वर की सत्ता पर सुनिश्चित विश्वास कर सकना कठिन हो जाएगा। किन्तु धार्मिक जगत् में सदा यह मान्यता चली आती रही है कि जिन्होंने ईश्वर को जनश्रुति से नहीं, प्रत्युत स्वयं परिचय से जाना है, उन्होंने उसे तर्क और ऊहा-पोह के निष्कर्षों से नहीं बल्कि अनुभव से जाना है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या अनुभव की प्रामाणिकता वैध और स्वीकरणीय है?

३. ज्ञान-प्राप्ति के विभिन्न मार्ग

यद्यपि सभी प्रकार के संज्ञानात्मक अनुभवों से यथार्थ वस्तु का ज्ञान होता है, तथापि वह ज्ञान तीन प्रकार से होता है—ऐन्द्रियिक ज्ञान (प्रत्यक्ष), बौद्धिक तर्क (अनुमान) और अन्तर्ज्ञानात्मक बोध। प्रत्यक्ष ज्ञान हमें बाह्य संसार के बाहरी स्वरूप को जानने में सहायता देता है। इसके द्वारा हम वस्तुओं के इन्द्रियों द्वारा ज्ञेय गुणों को जान पाते हैं। इस ज्ञान की प्रदत्त सामग्री (डेटा) प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन का विषय होती है, जो उसका वर्णन करने के लिए

१. टेनेंट : फिलॉसफिकल थ्योलोजी, भाग १ (१९२८), अध्याय १२, पृष्ठ ३२५।

एक सकल्पनात्मक सरचना तैयार करता है।

तर्कजन्य ज्ञान विश्लेषण और सश्लेषण की प्रक्रियाओ से प्राप्त किया जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान से हमे जो ज्ञान-सामग्री प्राप्त होती है उसका हम विश्लेषण करते है और उस विश्लेषण के परिणाम उस प्रत्यक्षगम्य वस्तु का अधिक विधिवत् ज्ञान प्रदान करते है। यह तर्कजन्य या सकल्पनात्मक ज्ञान अप्रत्यक्ष और प्रतीकात्मक होता है, वह हमे उस वस्तु को और उसकी कार्य-प्रणाली को सँभालने और नियन्त्रित करने मे सहायता देता है। जैसे-जैसे अनुभव और विश्लेषण मे वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे सकल्पनात्मक व्याख्याएँ बदलती रहती है। वे हमारे ज्ञान, हमारी दिलचस्पी और हमारी क्षमताओ पर निर्भर है। प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुभवजन्य ज्ञान दोनों ही ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा हम व्यवहार मे अपने परिवेश और परिस्थितियों पर नियन्त्रण प्राप्त करते है।

ये दोनो प्रकार के ज्ञान यथार्थ की प्राप्ति के लिए, जिसे वे उपलब्ध करने का प्रयत्न करते है, अपर्याप्त है। प्लेटो ने नित्य आकारो के ससार और ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष ज्ञान के अस्थायी आकारों मे भेद पर बल दिया है। इनमे से प्रथम यथार्थ है और दूसरा अयथार्थ। प्रथम ज्ञान का विषय है और दूसरा सम्मति का। किन्तु यह स्पष्ट है कि तर्कजन्य ज्ञान से जानी गई वस्तुएँ उन वस्तुओ से भिन्न होती है जिन्हें हम प्रत्यक्ष के द्वारा जानते है। इसी आधार पर कभी-कभी यह तर्क भी दिया जाता है कि प्रत्यक्ष द्वारा जानी गई वस्तु अनुमान द्वारा सकल्पित वस्तु से अधिक यथार्थ होती है। किन्तु जब वस्तुतः बौद्धिक क्रिया हमारी ज्ञान की प्रक्रिया मे आ घुसती है तो प्रत्यक्ष ज्ञान मे होने वाली अव्यवहितता नष्ट हो जाती है। सकल्पनात्मक सश्लेषण कितना भी किया जाए वह प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत वस्तु की मूल पूर्णता और अव्यवहितता को फिर से लौटा नहीं सकता। ब्रैडले और बेर्गसा ने तर्कजन्य ज्ञान की प्रतीकात्मकता पर बल दिया है। भौतिक या अभौतिक कोई भी वस्तु हो, हमारी बुद्धि उसके बाहर-ही-बाहर रहती है, वह हमे उसके अन्तरतम तक नही ले जाती। जो व्यक्ति निद्रा के सम्बन्ध मे बात करता है और उसके स्वरूप और उसकी परिस्थितियो के बारे मे चर्चा करता है वह निद्रा के बारे मे और सब-कुछ जानता है, सिर्फ निद्रा को ही नही जानता है। ब्रैडले की दृष्टि में समस्त बौद्धिक विश्लेषण यथार्थ का अपलाप है, उसका मिथ्याकरण है, क्योकि वह उसकी एकता को विभिन्न शब्दो, परिसत्ताओ और सम्बन्धो मे विभक्त कर देता है।

विचार 'वह' (तत्) के यथार्थ रूप और 'जो' (यत्) के अमूर्त रूप के भेद में घूमता रहता है। किन्तु यह 'जो' (यत्) चाहे कितना भी व्यापक हो उसमें समस्त वर्तमान यथार्थ सत्ता का समावेश नहीं हो सकता।[1] बौद्धिक प्रतीक प्रत्यक्ष द्वारा अनुभूत यथार्थ का स्थान कभी नहीं ले सकते। इसके अतिरिक्त अनुभूति और भावों का समस्त जीवन, 'मांसल देह के हर्ष और व्यथाएँ तथा आत्मा की पीड़ाएँ और आनन्द' विचार के क्षेत्र से बाहर रहते हैं। यदि विचार को जीवन के इन पक्षों के बोध के योग्य और सक्षम बनना है तो वह 'तर्क और ऊहापोह के विचार से भिन्न विचार हो जाएगा। तब वह अधिक पूर्ण अनुभव में निमग्न होगा।'[2] ब्रेडले ने विवेक और निर्धारण में सत्ता को स्वरूप से पृथक् करने का जो आग्रह किया है और दोनों के पृथक्करण के आधार के रूप में उनकी एकता पर जो बल दिया है, उनमें सिद्ध होता है कि ऊहापोहमय तर्क में भी एक बड़ा बोध अयथार्थ नहीं है। यथार्थ वस्तु की एकीकृत संरचना का ज्ञान हमें विचार में नहीं, अनुभूति में होता है, जिसे ब्रेडले ने उच्चतर एकता की संज्ञा दी है, 'जिसमें विचार अनुभूति और इच्छा एक समवेत रूप में उपस्थित रहते हैं।' यह समग्र मानव का सृजनात्मक प्रयत्न है जो मात्र बौद्धिक प्रयत्न से भिन्न है, और यथार्थता को पूर्ण रूपेण जान सकता है। ब्रेडले का कहना है, 'हम एक पूर्ण अनुभव का सामान्य प्रत्यय बना सकते हैं जिसमें समस्त प्रपंचात्मक भेद विलीन हो जाते है, और एक पूर्ण समग्र का एक उच्चतर स्तर पर अव्यवहित ज्ञान होता है जिसकी अविकलता और परिपूर्णता में कोई कमी नहीं होती।'[3]

४. संकल्पनात्मक ज्ञान पर बेर्गसां के विचार :

बेर्गसां के अनुसार संकल्पनात्मक विश्लेषण में वस्तु के घटक अवयव प्राप्त नहीं होते, बल्कि उसकी विभिन्न अभिव्यक्तियाँ प्राप्त होती है। जब हम सूर्यास्त का विश्लेषण करते हैं तो उसमें हमें सूर्य के घटकों का अस्त अर्थात् खण्ड सूर्यास्त नहीं मिलता जिसका एक अपना सौन्दर्य है, बल्कि उसमें हमे एक संकल्पनात्मक प्रतीक प्राप्त होता है जिसमें सोना और प्रकाश आदि के गुण हैं। कुछ गुणों का

१. देखिए, 'एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी', आठवीं आवृत्ति (१९२५), अध्याय १५।
२. देखिए, 'एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी,' आठवीं आवृत्ति (१९२५), पृ० ७०-७१।
३. देखिए, 'एपीयरेन्स एण्ड रियलिटी', आठवीं आवृत्ति (१९२५), पृ० १६०।

समूह सूर्यास्त नही है।[1] आंशिक प्रतीकों का अर्थ यथार्थ अंश नही है। यदि संकल्पनात्मक विश्लेषण से हमें यथार्थ वस्तु के यथार्थ भाग प्राप्त होते तो यह सम्भव था कि हम उन्हें परस्पर जोडकर उनसे मूल वस्तु प्राप्त कर सकते, किन्तु केवल संकेतों से यह सम्भव नही है। बुद्धि किसी वस्तु का विश्लेषण और पृथक्करण तो आसानी से कर सकती है किन्तु जब वह उसका संश्लेषण करती है तो उसकी सारी प्रक्रिया कृत्रिम होती है और उसके परिणाम भी कृत्रिम होते हैं। यह परिणाम एक गठजोड होता है, एक समवेत समग्र वस्तु नही होता। बेर्गसा के अनुसार

१. बेर्गसा का कहना है : 'वास्तव में हम अपने-आपको यह समझाते हैं कि हम एक संकल्पना के साथ दूसरी संकल्पना को रखकर एक तरह से सम्पूर्ण वस्तु का उसके अलग-अलग हिस्से जोडकर पुनर्निर्माण करते हैं और इस प्रकार उस वस्तु का 'बौद्धिक समानार्थक' (इण्टलैक्चुअल इक्विवेलेंट) प्राप्त करते हैं। इस प्रकार हम यह विश्वास कर लेते हैं कि हम एकता, बहुत्व, नैरन्तर्य, सान्तता या अनन्त और विभाज्यता आदि की संकल्पनाओं को परस्पर जोडकर उस अवधि का ठीक-ठीक प्रतिरूप बना सकते हैं। किन्तु यह सर्वथा भ्रम है और यही खतरे की बात है। यह ठीक है कि अमूर्त प्रत्यय विश्लेषण में अर्थात् एक वस्तु के अन्य वस्तुओं के साथ सम्बन्धों के वैज्ञानिक अध्ययन में सहायता देते हैं, किन्तु उस हद तक वे अन्तर्ज्ञान का स्थान नहीं ले सकते अर्थात् दार्शनिक दृष्टि से यह अध्ययन करने में सहायक नहीं हो सकते कि उस वस्तु का तात्त्विक और अपना विशिष्ट रूप क्या है। क्योंकि एक बात तो यह है कि यदि इन संकल्पनाओं को हम एक साथ अगल बगल रख भी लें तो उनको मिलाकर जो कुछ हमें प्राप्त होता है वह वस्तु की कृत्रिम पुनर्रचना ही होता है, वे संकल्पनाएँ उस वस्तु के कुछ सामान्य, और एक तरह से अवैयक्तिक पहलुओं के ही प्रतीक हो सकती हैं। इसलिए यह विश्वास करना निरर्थक है कि इन संकल्पनाओं से हम यथार्थ वस्तु को ग्रहण कर सकते हैं, वास्तव में उनसे हमें उसकी छायामात्र प्राप्त होती है। दूसरी बात यह है कि इसमें भ्रम के अलावा एक गम्भीर खतरा भी है, क्योंकि संकल्पना अमूर्त्तीकरण के साथ-साथ सामान्यीकरण भी करती है। संकल्पनाएँ किसी एक विशिष्ट गुण का अनन्त वस्तुओं के साथ सामान्यीकरण करके उसका प्रतीक मात्र बनती हैं। इस प्रकार वे उस गुण को अनन्त वस्तुओं में व्याप्त करके न्यूनाधिक विकृत कर देती हैं। किन्तु जब वह गुण मानसिक दृष्टि से उस वस्तु में फिर स्थापित किया जाता है तो वह उस वस्तु के साथ समरूप हो जाता है, या कम-से-कम अपने-आपको तदनुरूप ढाल लेता है और उसकी बाह्य रूपरेखा वही हो जाती है जो उस वस्तु की है। वही गुण जब उस मानसिक वस्तु से अलग कर लिया जाता है और एक संकल्पना के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो वह असीमित रूप से व्यापक होकर उस वस्तु के भी बहुत परे चला जाता है, क्योंकि अब उसे और भी बहुत-सी वस्तुओं को अपने साथ लेना होता है।' (एन इण्ट्रोडक्शन टु मैटाफिजिक्स (१९१३) अंग्रेजी अनुवाद, पृ० १५-१७)।

विज्ञान तत्त्वतः उपयोगितावाद के आधार पर चलता है, इसलिए उसकी विधि और पद्धति दोषपूर्ण होती हैं। विज्ञान क्रियात्मक और क्रियाभिमुख होने के कारण अपनी गतिशीलता में परिवर्तन को ग्रहण नहीं कर पाता। हम जड़ और गतिहीन वस्तुओं को मिलाकर गति का निर्माण नहीं कर सकते। यथार्थ सत्ता जीवन, गति, कालावधि और मूर्त्त नैरन्तर्य है, जबकि तर्कबुद्धि से प्राप्त होने वाली संकल्पनाएँ कालहीन, गतिहीन और मृत होती हैं। यदि समस्त ज्ञान संकल्पनात्मक ही होता तो सत्य न केवल मानवीय मन की पकड़ से बाहर होता, बल्कि स्वयं सर्वज्ञ की पकड़ से भी अतीत होता। बेर्गसा का कहना है कि पूर्ण निरपेक्ष ज्ञान का सही साधन बुद्धि नहीं, अन्तर्ज्ञान है।

५. क्रोचे :

क्रोचे की सम्मति यह है कि तर्काश्रित ज्ञान हमें व्यक्ति और यथार्थ से दूर हटाकर अमूर्त जगत् में ले जाता है, जबकि अन्तर्ज्ञान हमें व्यक्ति का ज्ञान प्रदान करता है। उसका कहना है, 'ज्ञान के दो रूप हैं . वह या तो अन्तर्ज्ञानात्मक होता है या तर्कात्मक; कल्पना से प्राप्त ज्ञान या बुद्धि से प्राप्त ज्ञान, व्यक्ति का ज्ञान या निखिल विश्वव्यापी ज्ञान; संक्षेप में ज्ञान या तो बिम्बों की उपज होता है या संकल्पनाओं की।'[१] कल्पना में हम व्यक्तिगत वस्तुओं को आकृति प्रदान करते हैं और विचार के द्वारा हम उन बिम्बों (आकृतियों) को विश्वव्यापी संकल्पनाओं के रूप में सम्बद्ध करते हैं। कला-सम्बन्धी क्रिया से सजीव और सप्राण यथार्थ वस्तु को ग्रहण किया जाता है, भले ही कलाकार यह न जानता हो कि वह यथार्थ वस्तु को ग्रहण कर रहा है। कला गलती नहीं कर सकती, परन्तु वह यह नहीं जान सकती कि वह गलती नहीं कर सकती। कोई भी बौद्धिक उच्चाटन उसे विचलित नहीं कर सकता। ब्रैडले, बेर्गसां और क्रोचे तीनों अलग-अलग ढंग से यही बात कहते हैं कि बुद्धि जीवन को जड़ कर देती है और उसे संकल्पनाओं में बाँध देती है।

६. अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान :

इस प्रकार एक ऐसा ज्ञान भी है, जो संकल्पनात्मक ज्ञान से भिन्न है, जिसके द्वारा हम वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देखते हैं, उन्हें किसी वर्ग के

१. विल्डन कार: 'दि फिलासफी आफ क्रोचे' (१९१७), पृ० ५६।

सदस्य या समूह की इकाई के रूप मे न जानकर उनके अपने विशिष्ट और सर्वथा पृथक् रूप मे जानते है। यह अप्रत्यक्ष अव्यवहित ज्ञान है। केवल प्रत्यक्ष ज्ञान ही अव्यवहित ज्ञान नही होता। हिन्दू दार्शनिक प्रत्यक्ष ज्ञान के मुकाबले एक परोक्ष ज्ञान मानते हैं जो प्रत्यक्ष की भाँति ही अव्यवहित होता है। यह परोक्ष अन्तर्ज्ञान मन और यथार्थ वस्तु के बीच घनिष्ठ ऐक्य से पैदा होता है। यह ज्ञान तत्सत्ताक हो जाने से, तन्मय हो जाने से प्राप्त होता है, वह इन्द्रियों या प्रतीकों से प्राप्त नहीं होता। यह वस्तुओ के साथ तादात्म्य के द्वारा सत्य का ज्ञान है। हम सत्य के साथ, ज्ञेय वस्तु के साथ, एकत्व स्थापित करते है। ज्ञात वस्तु ज्ञाता के 'स्व' से बाहर की वस्तु के रूप मे नही, बल्कि 'स्व' के अग के रूप मे ही ज्ञात होती है। अन्तर्ज्ञान जो कुछ प्रकट करता है वह एक सिद्धान्त उतना नही होता, जितना कि चेतना होता है। वह मन की एक स्थिति होता है न कि ज्ञेय वस्तु का लक्षण। भाषा और तर्क निम्न कोटि की वस्तुएँ हैं, इस प्रकार के ज्ञान का घटिया रूप हैं। इस बृहत्तर स्वतः सत् ज्ञान मे जो कुछ छिपा हुआ है, विचार उसे आशिक रूप मे प्रकट और प्रस्तुत करने का साधन है। ज्ञान वास्तव मे ज्ञाता और ज्ञेय के बीच साधन और सन्निकट ऐक्य है।[१] तार्किक ज्ञान मे हमेशा द्वैत होता है, वस्तु के ज्ञान और अस्तित्व मे भेद होता है। विचार यथार्थ सत्ता को प्रकट करने मे समर्थ है, क्योकि तत्त्वत. वे दोनो एक ही हैं, किन्तु आनुभविक स्तर पर दोनो की सत्ता अलग-अलग है। किसी वस्तु को जानना और वह वस्तु हो-जाना अलग-अलग बातें हैं। इसलिए विचार की बाद मे पुष्टि आवश्यक हो जाती है।

यथार्थ वस्तु के कुछ ऐसे पहलू भी है जिनमे इसी प्रकार का ज्ञान ही उपयुक्त और सक्षम होता है। उदाहरण के लिए क्रोध के भाव को लीजिए। इसके बाह्य सतही रूप के सम्बन्ध मे प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव नही है। इसका बौद्धिक या तार्किक ज्ञान भी तब तक सम्भव नही है, जब तक कि कही बाहर से उसकी आधारभूत दत्तसामग्री उपलब्ध न हो और इन्द्रियाँ उसे उपलब्ध नहीं करा सकती। इससे पूर्व कि तर्कबुद्धि क्रोध की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करे, उसे उस तक पहुँचना चाहिए, और वह स्वय उस तक पहुँच नही सकती। क्रुद्ध होने

१. 'मनुष्य उसी वस्तु पर तर्क के द्वारा विचार करता है, जिसे वह स्वयं धारण नहीं किये होता पूर्ण तर्क प्रमाण को खोजता नहीं, वह उस वस्तु के प्रमाण पर निर्भर करता है जिससे कि वह स्वय भरा हुआ होता है।' (एनीडस, ८. २—५)।

का अर्थ क्या है, यह हम स्वय शुद्ध होकर ही जान सकते है। कोई भी व्यक्ति मानवीय प्रेम या पितृवात्सल्य की प्रबलता को तब तक नही जान सकता, जब तक कि वह स्वयं उन भावो मे मे न गुजरे। काल्पनिक भाव वस्तुत: अनुभूत भावों मे सर्वथा भिन्न होते हैं।

हिन्दू विचारकअन्तर्ज्ञान के सबसे बडे उदाहरण के रूप मे आत्मा के ज्ञान का प्रस्तुत करते हैं। हम अपनी आत्मा को अपने साथ एक होकर जानते हैं, उसी प्रकार जैसे कि हम प्रेम या क्रोध के भावो को उनके साथ एकात्म होकर जानते हैं। आत्मज्ञान को आत्म-सत्ता मे अलग नही किया जा सकता। वही एक-मात्र सच्चा और सीधा प्राप्त ज्ञान प्रतीत होता है, शेष सब ज्ञान आनुमानिक होता है। शकर का कहना है कि आत्म-ज्ञान, जो न तर्काश्रित ज्ञान है और न प्रत्यक्ष, किसी भी अन्य प्रकार के ज्ञान की पूर्वकल्पना है। एकमात्र वही सन्देहातीत है, 'क्योंकि यह उसी के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान है, जो उसमे इन्कार करता है।'[1] यह अपने ज्ञान का विषय (आत्मप्रत्यय विषय) है और उसकी सत्ता का ज्ञान हमें इसलिए होता है कि वह अव्यवहित रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित होता है।[2] उसे सिद्ध नही किया जा सकता क्योंकि वह स्वय सब प्रमाणों का आधार है।[3] यह एक ऐसा प्रकाश है जो न प्रकृति है और न पुरुष है, बल्कि जिसने दोनों की रचना की है। समस्त अनुभव—चाहे वह सज्ञान हो, प्रेम हो या उद्यम (कोनेशन)—हमेशा एक 'मैं' (अहम्) को होने वाला अनुभव है। समस्त ज्ञान मे एक 'मैं' अन्तर्निहित रहता है। यह 'मैं' शरीर नही है, भले ही शरीर का इस 'मैं' के साथ कितना ही घनिष्ठ सम्बन्ध क्यों न हो। शरीर तो एक ऐसी वस्तु है जिसे इन्द्रियों द्वारा जाना जा सकता है। हम यह कभी नहीं कहते कि 'मैं शरीर हूँ', हम सिर्फ यह कहते हैं कि 'मेरा एक शरीर है।' आनुभविक चेतना के अग के रूप में, शरीर की यथार्थता आनुभविक जगत् की यथार्थता है। हम कहते हैं 'मैं देखता हूँ या मैं सुनता हूँ,' हम यह कभी नहीं कहते कि 'आँख देखती है या कान सुनता है।' समस्त ज्ञान मे यह जो 'मैं' अन्तर्निहित है, वह अनुमान द्वारा नही जाना जाता, बल्कि स्वय ज्ञान द्वारा तत्सत्ताक होकर जाना जाता है। यह बुनियादी तौर पर सीधे-सादे सत् के रूप में अनुभव

१. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, २. ३. ७ और १. १. ४।
२. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, १. १. १।
३. इण्डियन फिलॉसफी, भाग २, द्वितीय संस्करण (१९३१), पृष्ठ ४७६।

किया जाता है, वह सकल्पना और तर्क के द्वारा सोची गई 'आत्मा' से भिन्न होता है। अव्यवहित रूप से अनुभव की गई वस्तु सकल्पना द्वारा ससृष्ट वस्तु से भिन्न होती है। अनुभव मे अव्यवहित रूप से जानी गई आत्मा 'जो' (यत्) के रूप मे नही 'वह' (तत्) के रूप मे जानी जाती है। इस अव्यवहित बोध मे हमे सत्ता के साथ परिचय का ज्ञान होता है, न कि उसके स्वरूप या प्रकृति का ज्ञान। जिस वस्तु का अव्यवहित बोध होता है, वह एक विशिष्ट अद्वितीय वस्तु के रूप मे ज्ञात होती है, अर्थात् उस समय वही समस्त अनुभव का विषय होती है, शेष सब अविषय। जिस समय आत्मा का वास्तविक यथार्थ सत्ता के रूप में अव्यवहित अन्तर्ज्ञानात्मक बोध होता है, उस समय ज्ञान की क्रिया के कर्ता और कर्म का भेद वास्तविक नही होता, सिर्फ तर्काश्रित ही होता है। 'जो जानता है और जो जाना जाता है (बुद्धि और बुद्धि का विषय) वस्तुत. एक ही वस्तु है।'[1]

अनेक पश्चिमी विचारको ने शकर के इस विचार का समर्थन किया है। देकार्त का सन्देहवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचकर अन्त मे आत्मचेतना की अन्तर्ज्ञानात्मक सुनिश्चितता से टूट जाता है। 'क्योकि मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ' (कोजिटो एरगो सुम)। दुर्भाग्य से देकार्त का यह कथन भ्रामक है। आत्मज्ञान तो इतनी आदिम और इतनी सीधी-सादी चीज है कि उसके लिए किसी 'क्योकि और इसलिए' यानी हेतु की गु जायश नही है। यदि 'मैं हूँ' इस बात पर निर्भर है कि 'मैं सोचता हूँ' तो 'मैं सोचता हूँ' भी किसी अन्य 'क्योकि और इसलिए' पर निर्भर होगा और इस प्रकार कार्य-कारण की एक ऐसी शृ खला चल पडेगी, जिसका कही अन्त नही होगा। हेगेल का कहना है कि 'जो व्यक्ति इसे हेत्वनुमान कहता है उसे हेत्वनुमान के सम्बन्ध मे इससे कुछ अधिक जानना चाहिए कि उसमे एक 'क्योकि और इसलिए' होता है। हम यह 'हेतु' कहाँ तलाश करेगे? 'कोजिटो एरगो सुम' यह उक्ति, जिस पर आधुनिक दर्शन के समूचे इतिहास का भवन खडा है, उसके रचयिता द्वारा एक स्वतः सिद्ध सत्य के रूप मे प्रारम्भ की गई थी, न कि हेत्वनुमान के रूप मे।'[2] यह अनुमान नही है, बल्कि एक अद्वितीय तथ्य का कथन है। आत्मचेतना मे विचार और सत्ता अविभाज्य रूप मे मिले हुए है। आत्मा प्रथम निरपेक्ष सुनिश्चित ज्ञान है, समस्त तार्किक प्रमाणों

१. परिस्टोटल : डी ऐन, ३. ४-१२।
२. लॉजिक ऑफ हेगेल, वैलेस का अग्रेजी अनुवाद, (१८७४), खण्ड ६४।

का आधार है। देकार्त का 'मैं हूँ' उस 'मैं हूँ' के समान ही है जिसके द्वारा प्राचीन यहूदी ऋषि ने अपने शिष्यों और अनुयायियों के सामने अपने यह्वा (ईश्वर) के अन्तिम स्वतः प्रामाण्य का उद्घोष किया था। लॉक ने भी, जो मनुष्य के सहज अन्तर्ज्ञान प्रत्ययों का बहुत जबरदस्त विरोधी रहा है, अन्तर्ज्ञान की यथार्थता को स्वीकार किया है। उसका कहना है, 'जहाँ तक हमारे अपने अस्तित्व का ताल्लुक है, हम इसे इतने स्पष्ट रूप में जानते है कि उसके लिए न तो प्रमाण की आवश्यकता है और न वह प्रमाण के योग्य है।'[1] काण्ट के अनुसार 'मैं सोचता हूँ' हर ज्ञान के साथ जुड़ा हुआ है। वह सामान्यतः सभी संकल्पनाओं का वाहक है। समस्त ज्ञान और तर्क आत्म-सुनिश्चितता की इस *स्वतः-सिद्ध भावना के साथ प्रारम्भ होते हैं। फिश्टे की दृष्टि* में आत्मा के ज्ञान का कारण अन्तर्ज्ञान है। शोपनहॉर का मत है कि हमें अपने आन्तरिक अनुभव में एक ऐसी वस्तु का भान होता है जो प्रपचात्मक वस्तु से कुछ अधिक है। यह वस्तु इच्छा है और समस्त प्रपच उसी का अभिव्यक्त रूप है। हमें अपनी इच्छा का ज्ञान तर्क और बुद्धि से नहीं, बल्कि अव्यवहित चेतना के द्वारा होता है, उसी के द्वारा हमें *यथार्थ* की प्रतीति होती है। बेर्गसा का भी कुछ-कुछ ऐसा ही विचार है। उसकी दृष्टि मे सच्ची आत्मा वर्तमान आत्मा नही है, जो स्मृति

१. ऐस्से ऑन दि ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग। पास्काल ने लिखा है: 'हम जानते हैं कि हम जागे हुए हैं। यह हो सकता है कि हम इस बात को तर्क से सिद्ध न कर सकें, किन्तु हमारी यह असमर्थता केवल हमारे तर्क की कमजोरी को सिद्ध करती है, न कि (जैसा कि सन्देहवादी कहते हैं) हमारे समस्त ज्ञान की अनिश्चितता को। कारण यह कि देश, काल, गति और संख्या आदि का अस्तित्व आदि स्वतःसिद्ध वस्तुओं का ज्ञान वैसा ही सुरक्षित है जैसा कि तर्क द्वारा प्राप्त कोई भी ज्ञान। और तर्क हृदय और अन्तर्ज्ञान के द्वारा प्राप्त इस ज्ञान पर ही निर्भर करता है और उसी को अपने समस्त प्रयत्न अनुमानों के आधार के रूप में ग्रहण करता है।' (देखिए वेब: पास्काल्स फिलॉसफी ऑफ रिलिजन (१९२९), पृष्ठ ४५)।

तुलना कीजिए: न्यूमैन: 'मैं ईश्वर में विश्वास करने के कारण ही कैथोलिक हूँ। किन्तु यदि मुझसे पूछा जाए कि मैं ईश्वर में विश्वास क्यों करता हूँ तो मैं उत्तर दूँगा कि मैं उसमें इसलिए विश्वास करता हूँ क्योंकि मैं अपने-आपमें (अपने अस्तित्व में) विश्वास करता हूँ और क्योंकि मुझे अपने अस्तित्व में विश्वास करना तब तक असम्भव लगता है (और इस तथ्य का मुझे पूर्ण निश्चय है) जब तक कि मैं उस पर विश्वास न करूँ जो मेरे अन्तःकरण में एक स्वावेशगत सर्वदर्शी, सर्वनिर्णायक सत्ता के रूप में विराज रहा है।' (एपोलोजिया)।

के द्वारा अपने अतीत अनुभव को संचित करती हुई अपने भावी उद्देश्य की ओर बढ़ती जाती है, बल्कि वह विशुद्ध सत् मात्र है जिसका न कोई अतीत इतिहास है और न भविष्य का लक्ष्य। वह अविभाज्य वर्तमान है जिसमे काल का विभाजन असगत है।[1] हम वह विशुद्ध सत् तब बनते हैं या उसके निकट तब पहुँचते हैं, जब हम वास्तविक आनन्द के विरले क्षणों मे होते हैं। हमे विशुद्ध निरुपाधिक सत्ता का अन्तर्ज्ञान तब तक नही हो सकता जब तक कि जो कुछ हम देखते हैं उसे बुद्धि द्वारा विभाजित की जानेवाली विभिन्न श्रेणियो मे बाँटकर गलत प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति से हम छुटकारा न पा ले। दूसरे शब्दों मे, यह कहा जा सकता है कि हम विशुद्ध सत् का अन्तर्ज्ञानात्मक अनुभव तभी कर सकते है जबकि हम तन्मय हो जाएँ। साधारणतः हमारा जीवन विशुद्ध 'सत्' मात्र नही है, क्योंकि वह अशतः यान्त्रिक है। इस तरीके से बेर्गसाँ ने इस सत्य का प्रतिपादन किया है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के भेद के साथ कार्य करने वाली बुद्धि आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकती क्योकि आत्मज्ञान मे इन तीनो मे भेद नही होता। बुद्धि गति की आधारभूत एकता की उपेक्षा कर देती है, गति अविभाज्य है और विभिन्न आकारो मे बँटी हुई नही है। अन्तर्ज्ञानात्मक आत्मज्ञान अपने-आपको ज्ञान की एक और अखण्ड क्रिया के रूप मे जानता है—एक ऐसी क्रिया के रूप मे जो अपनी आत्मसत्ता के साथ एक है। अन्य मनो को हम अन्तर्ज्ञानात्मक अवबोध या सहानुभूतिशील व्याख्या के द्वारा ही जानते हैं।[2]

जीवन की गम्भीरतम और गुह्यतम वस्तुओ का ज्ञान हमें अन्तर्ज्ञानात्मक अवबोध के द्वारा ही होता है। हम उनकी सत्यता पर विश्वास कर लेते है, उसके लिए तर्क नही करते। मूल्यो के क्षेत्र में हम इस प्रकार के ज्ञान पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं। मूल्यो का स्वीकार और सृजन अन्तर्ज्ञानात्मक चिन्तन

१. क्रिएेटिव एवोल्यूशन, अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ २१०।

२. तुलना कीजिए : अलेग्जेंडर : 'मन की सत्ता है, यह बात सुनिश्चित है। यह बात हम अनुमान या उपमान से नहीं जानते, बल्कि यह एक ऐसा विश्वास है जो एक विशिष्ट प्रकार के अनुभव से बलात् हम पर थोपा जाता है।' (स्पेस, टाइम एण्ड डीटी (१९२०), भाग २, पृष्ठ ३७)। 'यह कहना गलत नहीं होगा कि किसी भी वस्तु के, उसके अनन्त सम्बन्धों सहित (जिनमें हमारी संवेदनशील प्रकृति के साथ सम्बन्ध भी शामिल है), पूर्ण ज्ञान का अर्थ होगा, उस वस्तु का निर्माण। कारण, क्या हम सर्वज्ञता की सर्वशक्तिमत्ता से भिन्न कल्पना कर सकते हैं? यदि मैं दूसरे व्यक्ति को उसके सम्पूर्ण रूप में जानता तो मैं स्वयं वह व्यक्ति हो जाता।' (रिची : माइण्ड, भाग १३, पृष्ठ २६०)।

का ही परिणाम है। तथ्य के निर्णयों के लिए निष्पक्षता और निरभिनिविष्टता की आवश्यकता होती है, किन्तु इसके विपरीत मूल्यों के निर्णय मनुष्य के अपने सजीव अनुभव पर ही निर्भर करते हैं। किसी कार्य की योजना सही है या गलत, कोई वस्तु सुन्दर है या कुरूप, इसका निर्णय वही मनुष्य कर सकते हैं जिनका अन्तःकरण प्रशिक्षित है और जिनकी संवेदनशीलता सधी हुई है। तथ्य-सम्बन्धी निर्णयों के सही या गलत होने की परख आसानी से की जा सकती है, जबकि मूल्य-सम्बन्धी निर्णयों की नहीं। किसी गुण के प्रति संवेदनशीलता जीवन का कार्य है, वह केवल सीखकर प्राप्त नहीं की जा सकती। वह आत्मविकास की मात्रा पर निर्भर है।

इसके अलावा, जिस वस्तु को हम आम तौर पर इन्द्रियों से प्रत्यक्ष रूप में जानते हैं या बुद्धि द्वारा अनुमान से जानते हैं, वह अन्तर्ज्ञान से भी जानी जा सकती है। हम वस्तुओं को इन्द्रियों के माध्यम के बिना भी देख सकते हैं और सम्बन्धों को उनका लम्बा-चौड़ा विस्तार किये बिना स्वतः स्फूर्त रूप से देख सकते हैं। दूसरे शब्दों में, हम किसी भी प्रकार की यथार्थ वस्तु को सीधा जान सकते हैं। सामान्य परिस्थितियों में हम तब तक यह जानने के अयोग्य प्रतीत होते हैं कि दूसरे के मन में क्या है, जब तक कि वह उसे वाणी या संकेतों द्वारा प्रकट न करे। किन्तु मनोविद्या (टेलीपैथी) के तथ्यों ने यह सिद्ध कर दिया है कि एक मन दूसरे के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित कर सकता है।

७. अन्तर्ज्ञान और कल्पना :

वस्तु की यथार्थता वह चीज है जो अन्तर्ज्ञानात्मक बोध को सहज कल्पना से पृथक् करती है। सान्त वस्तुओं के सामान्य प्रत्यक्ष ज्ञान में हमें एक ऐसी वस्तु का सीधा और अनिवार्य भान होता है जिसका एक अपना निश्चित स्वरूप होता है। इस स्वरूप को हम अपनी इच्छाओं और कल्पनाओं से बदल नहीं सकते। उसी प्रकार अन्तर्ज्ञानात्मक चेतना से भी ऐसी यथार्थ वस्तुओं का बोध होता है जिन्हें हम इन्द्रियों से नहीं जान सकते। एक ऐसी वस्तु भी होती है जिसकी हम अपने सरलतम प्रत्यक्ष ज्ञान में भी कल्पना नहीं कर सकते, और फिर भी वह हमारे ज्ञान को सम्भव बनाती है। उसी प्रकार हमारे अन्तर्ज्ञान में भी एक ऐसी यथार्थ वस्तु होती है जो हमारे बोध को नियन्त्रित करती है। यह काल्पनिक वस्तु नहीं होती, बल्कि यथार्थ का एक सच्चा अनुसन्धान होती है। हम केवल अपने

शरीर की आँखो से ही नही, आत्मा की आँखो मे भी देख सकते हैं। अदृष्ट वस्तुएँ आत्मा के प्रकाश मे वैसी ही स्पष्ट हो जाती हैं, जैसे भौतिक आँख द्वारा देखी गई वस्तुएँ। प्रत्यक्ष ज्ञान का अतीन्द्रिय क्षेत्र मे विस्तार ही अन्तर्ज्ञान है।

८. अन्तर्ज्ञान और बुद्धि

बेर्गसाँ के अनुसार जीवन-बल अपने परिवेश के क्रियात्मक नियन्त्रण के साधन के रूप मे बुद्धि का विकास करता है। बुद्धि क्रिया के लिए आवश्यक है। वह औज़ार बनाने वाली शक्ति है जिसके द्वारा जीवन निर्जीव द्रव्य को अपनी निज की शक्तियो के विस्तार के लिए साधनो के रूप मे गढता है। यदि हम यथार्थ वस्तु के आन्तरिक स्वरूप को जानना चाहते हैं, तो हमे सारे व्यक्तित्व का उपयोग करना पड़ेगा जिसका बुद्धि केवल एक भाग है। तर्क सिर्फ उसी सीमा तक सफल होता है जिस सीमा तक वह यथार्थ के सजीव प्रवाह को हटाकर उसके स्थान पर स्थितिशील सकल्पनाओ की एक प्रणाली को स्थापित करता है। विचार उपयोगी है किन्तु सत्य नही है, जबकि अन्तर्ज्ञान सत्य है चाहे उपयोगी न हो। बौद्धिक चेतना क्रियात्मक होती है। जब कोई व्यक्ति मुझ पर पिस्तौल तानता है तो मैं यह देखने की चिन्ता नही करता कि उसका रग क्या है और वह कहाँ की बनी हुई है, बल्कि मेरी प्रतिक्रिया सिर्फ तुरन्त वहाँ से भाग जाने की होती है। मेरे लिए क्रियात्मक दिलचस्पी की चीज़ सिर्फ उसका खतरनाक स्वरूप ही है, बाकी सब-कुछ मेरे लिए असंगत है। वैज्ञानिक ज्ञान क्रियात्मक चेतना के कार्यकलाप का विस्तार ही है। वह यथार्थ से उसके कुछ ऐसे पहलुओ को अलग कर लेता है जो क्रियात्मक दृष्टि से उपयोगी है और जो अन्य कामों में उपयोगी देखे जा चुके हैं। क्रिया तब तक सम्भव नही है जब तक यह पृथक्करण न हो और विचार, जहाँ तक कि वह तर्काश्रित है, पृथक्करण ही है।

हम क्योंकि यथार्थ पर नही पहुँच पाते, इसलिए हम अपने सिद्धान्तों की पुष्टि की प्रतीक्षा करते है। हम पूर्व कथन (प्रिडिक्शन) की शक्ति से अपने विचारो की सत्यता की परीक्षा करते है। किन्तु प्रतीकों और सम्बन्धों में, चाहे उनसे हम कितना ही पूर्व-कथन कर सकें, अव्यवहित अनुभव की विशिष्टता नही होती। एक भौतिक-शास्त्री कहता है कि वह बिजली के नियमों को जानता है, हालाँकि वह इस बात से अनभिज्ञ है कि स्वयं बिजली क्या चीज़ है। बिजली का उसका ज्ञान, जो उसे सीधा प्राप्त नही हुआ, अधिकाधिक बढ़ता जाता है, किन्तु

सीधा ज्ञान नहीं बढ़ सकता, क्योंकि वह व्यक्तिगत ज्ञान होता है और दूसरे को दिया नहीं जा सकता। हम उसकी पुष्टि नहीं कर सकते, इसलिए उस पर सन्देह प्रकट कर विवाद भी नहीं करते। वह विभक्त मन के बौद्धिक या ऐन्द्रियिक ज्ञान के आंशिक सत्यों से परे होता है। अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान की पुष्टि हमारी नाड़ियों के स्पन्दन से ही होती रहती है। वही एकमात्र पूर्ण ज्ञान होता है। वह तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति पूर्णतः सजग और सन्तुलित हो। हम सही रूप में तभी देख सकते हैं जबकि हमारी आन्तरिक सत्ता में पूर्ण ऐक्य और साम्यावस्था हो। अन्तर्ज्ञान हमारी गहनतम सत्ता की अन्तिम दृष्टि है।

यह अन्तर्ज्ञान नपे-तुले वैज्ञानिक कथनों के द्वारा प्रकट या प्रसारित नहीं किया जा सकता, वह काल्पनिक कथाओं, बिम्बों, साहित्य और कला के द्वारा प्रकट किया जाता है। *अन्तर्ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाले प्रत्यय सप्राण होते हैं,* क्योंकि वे जीवन को अभिव्यक्त करते हैं, निरे तार्किक विश्लेषण को नहीं। वे स्वतन्त्र, लचकीले और तरल होते हैं और उनमें आत्मा का श्वास-प्रश्वास होता है।

यदि हम 'ज्ञान' का परिभाषा सिर्फ ऐसे ज्ञान तक ही सीमित कर दें जो दूसरों को 'संचारित' किया जा सके और सूत्रों और आधार-वाक्यों में अभिव्यक्त किया जा सके, तो अन्तर्ज्ञानात्मक अन्तर्दृष्टि, जो अनिर्वचनीय होती है और अनुमान के आधार-वाक्यों में प्रकट नहीं की जा सकती, ज्ञान नहीं कहलाएगी। किन्तु ज्ञान की सबसे सच्ची कसौटी 'संचरणीयता' नहीं बल्कि उसकी सुनिश्चितता है और क्योंकि अन्तर्ज्ञानात्मक अनुभव में यह सुनिश्चितता विद्यमान है, इसलिए वह भी ज्ञान का एक प्रकार है।

यदि हमारा समस्त ज्ञान अन्तर्ज्ञानात्मक ढंग का होता, यदि यथार्थता स्वयं अपनी अव्यवहित साक्षी होती, तो तर्काश्रित कसौटियों की कोई आवश्यकता न होती। तब ज्ञाता और ज्ञेय में पूर्ण तादात्म्य होता और हमारा ज्ञान भी पूर्ण होता। इस प्रकार के ज्ञान में बाह्य वस्तुओं का कोई निर्देश नहीं होता और हर *प्रत्यय अपना ही सपक्ष या उपमान होता,* अर्थात् उसकी पुष्टि के लिए किसी बाह्य वस्तु या बाह्य उदाहरण की आवश्यकता नहीं होती। ज्ञान और सत्ता, प्रत्यय और यथार्थ, निर्देश और पुष्टि, सभी उसमें विद्यमान होते हैं। वह प्रमाण-सापेक्ष नहीं होता। यह एक सत्ता है जिसे अपना ज्ञान है। यह ऐसा ज्ञान है जो ऊपर का सतही ज्ञान नहीं है, न प्रतीकात्मक है और न किसी अन्य के द्वारा प्राप्त।

किन्तु वास्तविक ज्ञान एक दृष्टि से अपूर्ण होता है, क्योंकि उसमें कर्ता और कर्म का, ज्ञाता और ज्ञेय का, भेद होता है। कर्म कर्ता तक एक माध्यम के द्वारा पहुँचता है। विचार और ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष वस्तुनिष्ठ ज्ञान के साधन के रूप में आवश्यक हो जाते हैं। इस प्रकार इसमें हमेशा द्वैत बना रहता है। किसी वस्तु का ज्ञान और उसकी सत्ता अलग-अलग चीजें हैं। सत्ता विचार में समाविष्ट होने से इनकार करती है। इसलिए विचार को पुष्टि की आवश्यकता होती है। ज्ञान के क्षेत्र में हम तथ्यों और कल्पनाओं में आनुभविक यथार्थ के पैमाने से भेद कर सकते हैं। हम किसी वस्तु को जानते हैं, यह तभी कहा जाता है, जबकि हम उस वस्तु को अनुभव की अन्य वस्तुओं के साथ निश्चित सम्बन्धों में स्थापित कर सकें। आनुभविक यथार्थ का अर्थ है तार्किक विश्व के भीतर आवश्यक सम्बन्ध। जैसे-जैसे हमारा इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान बढ़ता जाता है, जैसे-जैसे नये प्रपंचों को ज्ञान के ढांचे के भीतर निश्चित स्थान दिये जाते हैं, वैसे-वैसे हमारे ज्ञान में भी वृद्धि होती जाती है। नये ऐन्द्रियिक तथ्य तभी सत्य स्वीकार किये जाते हैं जबकि वे हमारी योजना में अनुकूल बैठते हों। उनका प्रामाण्य उनमें स्वतः विद्यमान नहीं होता, बल्कि वह अन्य वस्तुओं से प्राप्त किया जाता है।

अन्तर्ज्ञानात्मक सत्य मानसिक दृष्टि की सीधी-सादी सरल क्रिया होने के कारण सन्देह से मुक्त होते हैं।[1] वे इसलिए विश्वसनीय नहीं होते कि तर्क के द्वारा उनकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है, बल्कि ज्योंही हम इन सत्यों को अन्तर्ज्ञान से उपलब्ध करते हैं, त्योंही हम उन पर विश्वास कर लेते हैं। सन्देह तो तब पैदा होता है जब विमर्श ऊपर से आ टपकता है। ठीक-ठीक कहा जाए तो तर्काश्रित ज्ञान वास्तव में अज्ञान है, अविद्या है। वह सिर्फ तभी तक प्रामाणिक होता है जब तक कि अन्तर्ज्ञान पैदा नहीं होता और अन्तर्ज्ञान तब पैदा होता है जबकि हम निजी अहंकारपूर्ण सत्ता के खोल को उतार फेंकते हैं और अपने भीतर विद्यमान शुद्ध आदिम आत्मा में लौट जाते हैं जहाँ से हमारी बुद्धि और ऐन्द्रियिक ज्ञान प्राप्त होते हैं। यदि अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान तादात्म्य से प्राप्त होने वाला ज्ञान है तो यथार्थ सत्ता के अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान की प्राप्ति का अर्थ यह है कि हम यथार्थ

१. तुलना कीजिए, लाक—'मन सत्य को न तो उत्तेजित करता है और न उसकी परीक्षा करने का कष्ट उठाता है, बल्कि वह तो सत्य की ओर उन्मुख या निर्देशित होकर उसे उसी प्रकार प्राप्त करता है, जैसे कि आँख प्रकाश को।' (एसे ऑन दि ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग, ४ १२-१)।

सत्ता के साथ तादात्म्य और ऐक्य भी स्थापित कर सकते है। यदि हमारा स्वरूप आत्मा है तो यथार्थ सत्ता भी आत्मा ही है। ज्ञाता और ज्ञेय दोनों की आत्म-स्वरूपता हमारे रोजमर्रा के जीवन मे इसलिए अदृश्य हो जाती है कि हम अपने असली स्वरूप को अपना ऊपर का सतही रूप समझ लेते है। जितना-जितना हम गहराई मे जाते हैं, उतना-ही-उतना हम अद्वितीय होते जाते हैं। और जो सबमे अधिक अद्वितीय है वही सबमे अधिक विश्वव्यापी है।

बौद्धिक और अन्तर्ज्ञानात्मक, दोनों ही ज्ञान सही हैं और दोनों का अपना स्थान है। अपने-अपने प्रयोजनों के लिए दोनो ही उपयोगी हैं। तर्काश्रित ज्ञान मे हम ससार की परिस्थितियों को जानते और उन्हे अपने उद्देश्य के लिए नियत्रित करते हैं। हम उन्हे भली-भाँति जाने बिना कार्य नही कर सकते। किन्तु यदि हम वस्तुओं को उनके वास्तविक अद्वितीय स्वरूप मे जानना चाहते हैं, उन्हे उनकी अनिवार्य यथार्थता मे जानने के इच्छुक हैं, तो हमे ऊहापोहमय चिन्तन से ऊपर उठना चाहिए। किसी वस्तु का सीधा बोध या उसको सरल और दृढ एकाग्र दृष्टि से देखना ही अन्तर्ज्ञान है। यह कोई रहस्यपूर्ण प्रक्रिया नही है, बल्कि यह मानव-मन के लिए सम्भव अधिकतम सीधी (अपरोक्ष) और अन्तर्भेदी परीक्षा है। अन्त-र्ज्ञान का बुद्धि के साथ लगभग वही सम्बन्ध है, जो बुद्धि का इन्द्रिय-ज्ञान के साथ है। यद्यपि अन्तर्ज्ञान बुद्धि से परे की चीज है, किन्तु वह उसके विपरीत नहीं है। *वह सम्यग्ज्ञान अर्थात् पूर्णज्ञान कहलाती है। विमर्शात्मक ज्ञान इस सम्यग्ज्ञान की* तैयारी है। शकर ने कहा है कि ज्ञान का फल अन्तर्ज्ञान या सम्यग्ज्ञान के सम्मुख स्पष्ट होना है।[1] वह प्लेटो से सहमत है, जिसकी दृष्टि मे तर्क एक अमिश्र बौद्धिक ज्ञान है जो मन को यथार्थ का सीधा अपरोक्ष दर्शन प्राप्त करने मे सहायता करता है।[2] उसके 'सिम्पोजियम' मे पैगम्बर दियोतिमा सुकरात को उन कार्यों का उपदेश करती है जिनके द्वारा सौन्दर्य के आकार का बोध प्राप्त किया जा सकता है। हम पहले अनेक प्रकार की सुन्दर वस्तुओं को देखते हैं, फिर यह देखते हैं कि उन सबमे सौन्दर्य का कौनसा गुण समान रूप से विद्यमान है, तदनन्तर नियमों और नैतिक आदर्शों मे विद्यमान अमूर्त सौन्दर्य का मूल्याकन करते है और अन्त मे हम सौन्दर्य के आकार का ज्ञान प्राप्त करते है। 'रिपब्लिक' मे बताया गया

१. ब्रह्मसूत्र शाकर भाष्य, ३, ४-१५। कठ उपनिषद ३, १२ भी देखिए।
२. सिम्पोजियम, २११; रिपब्लिक, ५११, ५३२-५३५; स्पिनोजा की 'एथिक्स,' ५-२८ भी देखिए।

है कि आकार का बोध तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि माप, तोल और गणना के नियत विज्ञानों द्वारा और अमूर्त अध्ययनों के कठोर और श्रमसाध्य अभ्यास से मन को आवश्यक प्रारम्भिक प्रशिक्षण न मिल जाए।[1] अन्तर्ज्ञान तर्क-विरोधी नहीं बल्कि तर्क से ऊपर है। यह एक ऐसा ज्ञान है, जो समूची आत्मा द्वारा ग्रहण किया जाता है, जो अपने ही किसी टुकडे से, चाहे वह प्रत्यक्ष ज्ञान हो या बौद्धिक तर्क, ऊपर होता है। मन का समग्र जीवन उसके किसी विशिष्ट प्रकार से अधिक मूर्त होता है। इसका अर्थ यह है कि महान् अन्तर्ज्ञानों पर व्यक्तित्व की छाप होती है। किन्ही भी दो व्यक्तियों को विज्ञान का एक ही नियम सूझ सकता है, जैसा कि डार्विन और वैलेस के साथ सचमुच हुआ भी, किन्तु कोई भी दो व्यक्ति एक ही कलाकृति का सृजन नहीं कर सकते, क्योकि कला समग्र व्यक्तित्व की समस्त आत्मा की अभिव्यक्ति है, जबकि विज्ञान अपने सामान्य उपयोग मे आत्मा के एक अश की अभिव्यक्ति है।

६. अन्तर्ज्ञान पर हेगेल के विचार :

अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान के इस अखण्ड और समग्र स्वरूप पर बल देना इसलिए आवश्यक है, क्योकि हेगेल-जैसा विचारक उसकी आलोचना इस गलतफहमी के कारण करता है कि अन्तर्ज्ञानात्मक शक्ति शेष मानसिक जीवन से एक भिन्न और अलग-थलग वस्तु है और उससे जिस यथार्थता का बोध होता है वह भी शेष सत्ता से एकदम अलग और अमूर्त सत्ता है। हेगेल का कहना है कि अव्यवहित ज्ञान, जिसमे विचार का कोई स्थान न हो, सत्य नही हो सकता। वह अन्तर्ज्ञान को एक ऐसी वस्तु मानता है जिसका बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं है और जो इसीलिए हमे साधारण सत्ता के सिवाय और कुछ प्रदान नही कर सकती। किन्तु जिस तरह केवल सत्ता की श्रेणी को भी मूर्त जगत् की सम्पदा से भरकर विभिन्न श्रेणियो का मूर्त रूप देना पडता है, उसी तरह निरे अन्तर्ज्ञान को भी मानसिक क्रिया के अन्य भागो से पुष्ट करना पडता है। हेगेल की यह आलोचना एक लिहाज से अच्छी है क्योकि वह इस प्रकार की धारणाओ के विरुद्ध चेतावनी देती है कि अन्तर्ज्ञान बुद्धि के सर्वथा विपरीत है, या कि अन्तर्ज्ञान निरी कल्पना या निरी अनुभूति मात्र है।

बेर्गसा मे हम अन्तर्ज्ञान को बुद्धि के मुकाबले विरोधी के रूप मे रखने

[1] रिपब्लिक, ५२५-५२८।

की प्रवृत्ति देखते है, हालांकि यह उसका प्रधान विचार नही है। बेर्गसा प्लेटो की इस शिक्षा से प्रभावित हुआ है कि अच्छाई (शिव या ईश्वर) की झाँकी उन्ही को प्राप्त होती है जो बौद्धिक अनुशासन और कठोर चिन्तन से इसके लिए पहले से तैयार होते है।[1] वह बार-बार कहता है कि बुद्धि अन्तर्ज्ञान के लिए भूमि तैयार करती है। उसका कहना है, 'हम *यथार्थ सत्ता से अन्तर्ज्ञान—अर्थात्* उसके अन्तरतम के साथ बौद्धिक सहानुभूति—तब तक नही प्राप्त कर सकते, जब तक *कि हम उसके बाह्य सतही अभिव्यक्त रूपों के साथ सुदीर्घ सम्पर्क द्वारा उसका* विश्वास अर्जित न कर लें।[2] इसको स्पष्ट करते हुए उसने कहा है कि उदाहरण के लिए जब हम कोई साहित्यिक रचना करते हैं तो पहले हम सम्बद्ध विषय-सामग्री का बहुत धैर्य से अध्ययन करते हैं, उसके अन्तर तक पहुँचने के लिए कठोर प्रयत्न करते है और उस पर निरन्तर विचार और चिन्तन करते है। तब कहीं वह सुखद विचार-रत्न हमें मिलता है जिसका विश्लेषण करने और जिसमें हजारों बारीकियों को भरने का हम प्रयत्न करते हैं। प्रतिभा एक अर्थ मे ईश्वरीय देन है और उसका दूसरा अर्थ है धैर्य और विनम्रता के साथ अध्ययन की क्षमता। अन्तर्ज्ञान को बौद्धिक सहानुभूति बताकर बेर्गसा यह कहना चाहता है कि अन्तर्ज्ञान का अर्थ प्रारम्भिक, अमूर्त, अबौद्धिक, अव्यवहित ज्ञान नही, बल्कि उसका अर्थ बौद्धिक विश्लेषण के बाद आनेवाला उच्चतर, अव्यवहित साक्षात्कार है। यह उच्चतर अव्यवहित अन्तर्ज्ञान हमारी समूची नैतिक और बौद्धिक प्रकृति को एक एकाकी प्रयत्न पर केन्द्रित करके प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि ब्रैडले का यह कथन सही है कि सच्चा अव्यवहित सम्पर्क हमे सत्य और यथार्थ का ज्ञान प्रदान करता है, तथापि हमें व्यावहारिक आवश्यकता और बौद्धिक विश्लेषण *द्वारा वस्तु की एकता भग होने से पूर्व अव बौद्धिक स्तर पर होने वाले अव्यवहित* सम्पर्क और अन्त मे तथा कुछ हद तक, बौद्धिक चिन्तन के फलस्वरूप अति-बौद्धिक स्तर पर होने वाले अव्यवहित सम्पर्क मे भेद करना चाहिए। *प्रारम्भिक अव्यव*-हितता तो समूची प्रक्रिया में हमारे साथ बनी रहती है, हालांकि दूसरी मंजिल मे पहुँचकर उसका प्रारम्भिकता का तत्त्व धुल जाता है और वह एक सीधी अपरोक्ष क्रिया में यथार्थ को ग्रहण करती है। अन्तर्ज्ञान की अव्यवहितता प्रत्यक्ष अनुभूति की अव्यवहितता से भिन्न और दूसरी किस्म की है। प्लेटो और शकर दोनों इस

१. रिपब्लिक, ७।

२. एन इन्ट्रोडक्शन टु मैटाफिजिक्स, अंग्रेजी अनुवाद, (१९१३), पृष्ठ ७७।

बात पर एकमत हैं कि इस प्रकार की अन्तर्ज्ञानात्मक सुनिश्चितता तर्कपूर्ण विश्लेषण की एक लम्बी प्रक्रिया के बाद प्राप्त होती है। किन्तु जब एक बार अन्तर्ज्ञान की स्थिति प्राप्त हो जाती है तो हम उसे और बढ़ाकर बिम्बों और सकल्पनाओं को बौद्धिक दृष्टि से क्रमबद्ध करते हैं। चिन्तन की सभी गतिशील क्रियाएँ, चाहे वे शतरंज के खेल मे हो या गणित के किसी प्रश्न के समाधान मे हों, समूची स्थिति की अन्तर्ज्ञानात्मक पकड के द्वारा नियन्त्रित होती है।

यदि अन्तर्ज्ञानो का स्वरूप इतना बौद्धिक है तो उन्हे अन्तर्ज्ञान कहने की आवश्यकता ही क्या है ? क्या बुद्धि और अन्तर्ज्ञान का भेद, जैसा कि हेगेल ने कहा है, वैसा ही नही है जैसा कि अवबोध या प्रतिपत्ति (अण्डरस्टैंडिंग) और तर्क (रीजन) का ? अवबोध, जिसका सम्बन्ध निरे स्व-तादात्म्यो से है, अमूर्त विचार है, जबकि तर्क एक मूर्त विचार है, जिसके द्वारा विशिष्ट स्थितियो के उदाहरणो से विश्वव्यापी नियम बनाए जाते हैं और उन विशिष्ट स्थितियो के साथ एक अविभाज्य एकता कायम की जाती है। अवबोध मे होनेवाला विशुद्ध तादात्म्य समस्त भिन्नताओ को अपने से अलग और बाहर रखता है, जबकि तर्क के तादात्म्य की दृष्टि मे भेद आंगिक और तात्त्विक होता है। अवबोध यथार्थ वस्तु की एकता को जिन विरोधी द्वन्द्वो मे विभक्त करता है, वे परस्पर तो विरोधी होते हैं किन्तु उस समग्र वस्तु से, जिसके विभाजन से वे अलग किये जाते है, उनका विरोध नही होता। सत् (बीइंग) और असत् (नॉन-बीइंग) मूर्त गति के दो विभिन्न दृष्टिकोणो से देखे गए दो पहलू है। एक छोर पर सत् है और दूसरे पर असत्, किन्तु यथार्थ वस्तु न तो विशुद्ध सत् है और न विशुद्ध असत्, वह एक मूर्त उत्पत्ति या घटना (बिकमिंग) है। केवल सत् होना या केवल असत् होना, जैसा कि अवबोध उन्हे ग्रहण करता है, अर्थहीन है। परस्पर प्रतियोगी द्वन्द्व यथार्थ उत्पत्ति या घटना (बिकमिंग) की दो परस्पर निर्भर किन्तु परस्पर-विरोधी गतियाँ है और उनका अनन्त संघर्ष ही सृजन की प्रतिभा है। हेगेल की दृष्टि मे समूची जीवन-प्रक्रिया परस्पर-प्रतियोगी द्वन्द्वात्मक वस्तुओ का संघर्ष और विरोध पर विजय पाने का संघर्ष है। विरोध पर विजय पाने और सश्लेषण स्थापित करने का प्रयत्न ही संघर्ष और सब वस्तुओ के अस्थायित्व का कारण है। किन्तु यदि सश्लेषण या सराधन (रिकन्सिलिएशन) पूर्ण हो जाए तो सृष्टि-क्रम बन्द हो जाए। सृष्टि (बिकमिंग) की प्रक्रिया का अर्थ या तो यह है कि सत् असत् पर विजय पाने के लिए संघर्ष कर रहा है या असत् सत् पर विजय पाने के लिए प्रयत्न-

शील है। विजय पाने की इस प्रक्रिया का कभी अन्त नहीं होता, क्योंकि यदि प्रक्रिया पूरी हो जाए अर्थात् सत् को संघर्ष और विजय पाने के लिए कोई असत् न मिले, या असत् को संघर्ष के लिए सत् न मिले, तो उसके परिणामस्वरूप या तो विशुद्ध सत् ही रह जाएगा या विशुद्ध असत् ही, जो दोनों अर्थहीन अमूर्तीकरण मात्र हैं। यह विश्व की प्रक्रिया, यह सृष्टि-क्रम दो के संघर्ष का नाम है और उसकी ठीक-ठीक कल्पना हम ऐसी विरोधी संकल्पनाओं की परस्पर अनिवार्यता की पूर्ण कल्पना करके ही कर सकते हैं, इन संकल्पनाओं की पारस्परिक विरोधिता यथार्थ वस्तु में अन्तःसंघर्ष को व्यक्त करती है।

हेगेल के तर्क और अवबोध-सम्बन्धी विचार तथा अन्तर्ज्ञान और बुद्धि के भेद में विवाद का मुख्य बिन्दु क्या है? इस प्रश्न का अन्तिम सार यह है कि क्या हम सत् और असत् के संघर्ष से होने वाली उत्पत्ति या सृष्टि (बिकमिंग) को देखते हैं, या सिर्फ उसके बारे में सोचते ही हैं, क्या हम यथार्थ को विचार के द्वारा कल्पित करते हैं अथवा अपरोक्ष अन्तर्दृष्टि की एक सर्वथा असाधारण शक्ति में उसे अन्तर्ज्ञान के द्वारा जानते हैं। हेगेल संकल्पनात्मक चिन्तन को अत्यधिक महत्त्व देता है, इसलिए यद्यपि वह यथार्थता की कल्पना की श्रेणी में नहीं पहुँचता तो भी उसमें तर्क और यथार्थ में अविच्छेद्य आंगिक (आर्गेनिक) सम्बन्ध स्थापित करने की प्रवृत्ति है। उसका कहना है कि हर सत्ता की पहली शर्त यह है कि उसका कोई-न-कोई तर्कसंगत विरोधी (प्रतियोगी या अपोजिट) भी है। हेगेल की दृष्टि में द्वन्द्वात्मक तर्क दार्शनिक खोज और व्याख्या की ही एक प्रणाली नहीं है, बल्कि वह वस्तुओं के अस्तित्व और विकास का वर्णन करने की एक विधि भी है। यद्यपि यह कहना सही होगा कि हेगेल मूर्त्त प्रकृति के भरपूर जीवन को निर्जीव द्वन्द्वात्मक तर्क में परिणत कर देता है, तथापि एच० टी० ग्रीन आदि उसके कुछ अनुयायी कहते हैं कि विचार न केवल यथार्थ को व्यक्त करता है बल्कि वही यथार्थ है।[1] हेगेल के दर्शन में तर्क ही प्रधान वस्तु है; उसने जीवन को भी एक बड़े तर्क में परिणत कर दिया है, जीवित सत्य को एक अमूर्त्त सूत्र (फार्मूला) में बदल दिया है। यदि जीवन को सिर्फ एक तर्क-प्रणाली में ही व्यक्त किया जा सके तो वह जीवन ही न रहे। हेगेल का द्वन्द्वात्मक तर्क पूर्ण (होल) से प्रारम्भ नहीं होता, जिसमें परस्पर-विरोधी

१. तुलना कीजिए, ग्रीन: 'विचार ही वस्तु है और वस्तु ही विचार है।' (वर्क्स ३, पृष्ठ १४४)।

द्वन्द्वात्मक रूप अपने-आपको अभिव्यक्त करते है, बल्कि वह उनमे से किसी एक रूप से प्रारम्भ होता है और वह रूप हमें अपने प्रतियोगी रूप की ओर ले जाता है और फिर दोनो मिलकर परस्पर सघर्ष से एक ऐक्य का निर्माण करते हैं जो उन दोनो परस्पर-विरोधी रूपो को परस्पर बाँधता है। अन्तर्ज्ञान की दृष्टि मे वस्तु की अविभाज्य एकता एक प्राथमिक (मूल) यथार्थ वस्तु है, किन्तु हेगेल यह मानता है कि वह दो परस्पर-विरोधी द्वन्द्वात्मक रूपों से मिलकर बनती है, जिनका अस्तित्व तार्किक दृष्टि से पूर्ण या एकता से पहले विद्यमान है। हेगेल के अनुसार एकता सश्लेषण के फलस्वरूप बनती है, जिसके घटकों का बोध और ग्रहण सश्लिष्ट पूर्ण से पहले होता है। हेगेल के द्वन्द्वात्मक तर्क का सार-तत्त्व एक सहज और असीमित विकास-प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक सीमित और सान्त वस्तु अपने विरोधी (प्रतियोगी) मे प्रवेश करती है, जिससे वह पहली वस्तु अपने-आपको समाप्त कर देती है और अपनी विरोधी वस्तु के साथ मिलकर एक उच्चतर और व्यापकतर सकल्पना मे परिणत हो जाती है। पूर्ण वस्तु की अन्तर्दृष्टि सश्लेषण के बाद प्राप्त होती है। यह विचारधारा सम्भवतः काण्ट से विरासत मे प्राप्त हुई है, जो विमर्शात्मक विचार से पूर्व किसी एकता को स्वीकार नही करता। उसकी दृष्टि मे अनेक का (चाहे वह अनुभव से प्राप्त हो या प्रागनुभव अर्थात् अनुभव से पूर्व हो) संश्लेषण ही सबसे पहले ज्ञान को जन्म देता है।[1]

इसके अलावा हेगेल यथार्थ वस्तु को केवल द्वन्द्वात्मक तर्क के द्वारा समझे जाने योग्य कुछ सम्बन्धो का समूह बताकर भावना, इच्छा तथा मानसिक आन्तरिकता के तत्त्वो की उपेक्षा कर देता है, कम-से-कम वह प्रधानता जिस वस्तु को देता है वह निरा तार्किक तत्त्व है। यह ठीक है कि मनुष्य एक विचार करने वाली सत्ता है, किन्तु उसका अस्तित्व केवल चिन्तन ही नही है। हेगेल भले ही न मानता हो, किन्तु उसके कुछ अनुयायी अवश्य यह मानते है कि केवल विचार ही समस्त सत्ता का सृजन करता है। यथार्थ सत्ता ही मूर्तिमान विचार है, प्रत्यय ही सत्ता के रूप मे मूर्तिमान है। यथार्थ सत्ता सर्वसमावेशी तार्किक अनुभव या मन है। विश्व-प्रक्रिया एक तार्किक प्रक्रिया का ही अश है, एक असमाप्त तर्कवाक्य है। सारा भविष्य एक तरह से वर्तमान मे निहित है। ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया मे नया कुछ घटित नही होता और न ऐसा ही कुछ घटित

[1] क्रिटिक ऑफ प्योर रीज़न, नॉर्मन कैम्प स्मिथ का अंग्रेज़ी अनुवाद, खण्ड १०।

होना है जिसका हम तर्क-वाक्य से पूर्व कथन न किया जा सकता हो।

यदि जीवन इतिहास है, यदि यथार्थ सही अर्थों में सृजन (उत्पत्ति) है; एक शाश्वत पुनर्नवीकरण है, पुनरावृत्ति नहीं, तो उसका बोध विशुद्ध द्वन्द्वात्मक तर्क के रूप में नहीं हो सकता। पूर्ण ज्ञान अपने मूर्त्त रूप में अनायास अन्तर्दृष्टि या अन्तर्ज्ञान की शक्ल में होता है। यह व्यवहित की अपेक्षा अव्यवहित अधिक, सकल्पनात्मक की अपेक्षा अनुभवात्मक अधिक होता है। दर्शन संकल्पनात्मक पुनर्निर्माण उतना नहीं है, जितना कि अन्तर्दृष्टि का प्रकटीकरण। यथार्थ का सबसे सच्चा वर्णन, जो जीवन के स्वरूप का वर्णन है, जो एक मूर्त्त सघटन या विकास है, ऐतिहासिक वर्णन के समान होता है, न कि द्वन्द्वात्मक तर्क के विकास के वर्णन के रूप में। जो इतिहास वास्तविक विकास को केवल एक तार्किक प्रणाली में परिणत करता है, वह सच्चा इतिहास नहीं, नाम-मात्र का इतिहास है। यह पुरानी मान्यता, कि ससार रेखागणित की पद्धति से चलता है, जिसमें उसकी गति पीछे की ओर भी होती है और एक ही वस्तु की पुनरावृत्ति भी होती है, न केवल तर्कपूर्ण दृष्टिकोण है, बल्कि प्लेटो के विचार के अनुकूल भी है। यदि यथार्थ सही अर्थों में घटना का घटित होना है तो ज्ञान केवल अन्तर्दृष्टि ही हो सकता है। सकल्पनात्मक ज्ञान के रूप में दर्शनशास्त्र अन्तर्ज्ञानात्मक बोध के लिए, और यह बोध हो जाने पर उसे प्रकट करने के लिए एक तैयारी है। इसके लिए भाषा और तर्क की आवश्यकता होती है। कारण, सभी प्रकार के ज्ञान के लिए, चाहे वह प्रत्यक्ष हो या सकल्पनात्मक या अन्तर्ज्ञानात्मक, संकल्पनाओं की आवश्यकता होती है। हमें सिर्फ इतना ही याद रखना है कि अनुभव को तर्क के रूप में बांधना ही सम्पूर्ण सत्य नहीं है। दर्शन के महान् सत्य प्रमाणों से सिद्ध नहीं किये जाते, बल्कि स्वानुभव में देखे जाते हैं। दार्शनिक लोग केवल अपने स्वानुभव में प्राप्त अन्तर्ज्ञानों को तार्किक प्रमाण के यन्त्र से दूसरों तक पहुँचाते ही है। दर्शनशास्त्र के आलोचक सिर्फ यही देखते हैं कि क्या दर्शन में प्रकट किये गए विचार आंशिक हैं या पूर्ण, शुद्ध हैं या अशुद्ध।

अन्तर्ज्ञान और बुद्धि के बीच निरन्तरता का तार टूटता नहीं। तर्क से हम जब अन्तर्ज्ञान की ओर जाते हैं तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि हम अतर्क की ओर जा रहे हैं, बल्कि हम उस तर्क की ओर जा रहे हैं, जो मनुष्य-प्रकृति की क्षमता के अन्तर्गत गम्भीरतम तर्क है। इस गम्भीरतम तर्कानुसारी स्थिति में

हम अधिक गहराई से सोचते है, अधिक गहराई से अनुभव करते हैं और अधिक सत्यता के साथ देखते हैं। हम अपनी समस्त प्रकृति के आदेश के अनुसार देखते, अनुभव करते और स्वय वैसे हो जाते हैं। उस स्थिति में हम वस्तुओं को तर्क के आंशिक पैमानों से नही नापते, हम एक सम्पूर्णता के साथ सोचते हैं। बुद्धि और अन्तर्ज्ञान दोनों का सम्बन्ध व्यक्ति की आत्मा के साथ है। बुद्धि केवल उसके एक विशिष्ट भाग का उपयोग करती है, जबकि अन्तर्ज्ञान समूचे व्यक्तित्व और आत्मा का उपयोग करता है। दोनों आत्मा मे सश्लिष्ट हो जाते है और दोनों की प्रवृत्तियां और कार्य परस्पर-निर्भर हैं।

अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान अबौद्धिक ज्ञान नही है, वह असकल्पनात्मक अवश्य है। वह बौद्धिक अन्तर्ज्ञान है, जिसमें अव्यवहितता और व्यवहितता दोनों ही सम्मिश्रित हैं। वास्तव में जीवन-भर हमारे अन्तर्ज्ञानात्मक और तार्किक दोनो पक्ष सक्रिय रहते है। विशुद्ध गणित-शास्त्र मे भी, जहाँ परिणाम तब तक स्पष्ट नही होते, जब तक कि दत्त वस्तुओ को परस्पर मिलाकर एक तर्कपूर्ण क्रम मे न रखा जाए, अन्तर्ज्ञान का कुछ तत्त्व उपस्थित रहता है। कुछ मामलो मे उदाहरणार्थ मूल्यो के मामले मे, हम सोच-समझकर तर्क किये बिना निर्णय और विनिश्चय करते है। यद्यपि दोनों मे से कोई भी प्रक्रिया विशुद्ध रूप से किसी एक क्षेत्र तक सीमित नही है तो भी बौद्धिक प्रक्रियाएँ वस्तुओ के प्रेक्षण और वर्णन में तथा उनके मात्रात्मक सम्बन्धो मे अधिक उपयोगी होती है। अन्तर्ज्ञान हमे पूर्ण का प्रत्यय प्रदान करता है और बुद्धि उसके अगो का विश्लेषण। बुद्धि परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाली वस्तुओ का जो सश्लेषण करती है स्वय वह भी अन्तर्ज्ञान द्वारा प्रेरित होता है। अन्तर्ज्ञान हमे वस्तु के अश नही बल्कि स्वयं वस्तु प्रदान करता है, जबकि बुद्धि उसके अशो का विस्तृत विश्लेषण करती है। अन्तर्ज्ञान हमे वस्तु के अद्वितीय और अनुपम स्वरूप का ज्ञान कराता है, जबकि बुद्धि हमें यह बताती है कि उसके कौनसे ऐसे गुण है जो दूसरी वस्तुओ मे भी हैं। हर अन्तर्ज्ञान मे कुछ बौद्धिक तत्त्व भी होता है और उसे और अधिक बौद्धिक बनाकर हम उस तत्त्व को गहरा कर देते हैं। यदि अन्तर्ज्ञानात्मक सत्य तर्कानुसारी सत्य सिद्ध नहीं किये जा सकते, तो भी यह तो सिद्ध किया ही जा सकता है कि वे तर्क-विरुद्ध नही है, बल्कि तर्क के अनुकूल हैं। अन्तर्ज्ञान न तो अमूर्त्त विचार और विश्लेषण है और न आकारहीन अन्धकार और आदिम इन्द्रियिक अनुभव। वह प्रज्ञा (विज़डम) है, जिसे अरस्तू ने 'नाउज़' (ज्ञान) कहा

है, जिसे दांते ने सर्वव्यापी बुद्धि कहा है।

१०. दर्शनशास्त्र में अन्तर्ज्ञान की आवश्यकता :

जो गहनतम निश्चय हमारे जीवन और चिन्तन के आधार हैं, मूल सामग्री हैं, वे प्रत्यक्ष अनुभव से या तार्किक ज्ञान से नहीं प्राप्त किये जाते। हम यह कैसे जानते हैं कि यह ब्रह्माण्ड तत्त्वतः परस्पर-संगत और स्थिर है? हिन्दू विचारकों का कहना है कि जो सर्वोच्च और स्वतन्त्र संकल्पनाएँ जीवन के उद्यम को नियन्त्रित करती हैं वे आत्मा के गम्भीरतम अनुभव से उत्पन्न अन्तर्ज्ञान के सत्य हैं। हमारी इन्द्रियों और बुद्धि की दृष्टि में संसार एक बहुत सी वस्तुओं का समुदाय है जो न्यूनाधिक परस्पर-सम्बद्ध है और उन (इन्द्रिय और बुद्धि) से बाहर है, फिर भी मन की यह मान्यता है कि यह उलझन-भरा बहुत्व अन्तिम नहीं है, बल्कि संसार का अन्तिम रूप एक सुव्यवस्थित पूर्ण है। यदि हम संसार को सुव्यवस्थित और तर्कपूर्ण न मानें तो ज्ञान की सश्लेषणात्मक प्रवृत्ति असम्भव और अर्थहीन हो जाएगी। संसार की यह तर्कपूर्णता परिकल्पना की संरचना द्वारा हमें प्राप्त नहीं होती, हमने न तो प्रकृति की बाह्यतम और सुदूरतम सीमाओं को ढूंढा है और न हम आत्मा की अन्तरतम गुह्य गहराइयों तक गए हैं जिससे हम यह कह सकें कि संसार की नियमबद्ध एकता एक तर्कसंगत परिणाम है। यह ठीक है कि विचार संसार की संगतता में विश्वास के बिना आगे नहीं बढ़ सकता, तथापि स्वयं विचार के लिए भी संसार की नियमबद्धता एक स्वतःसिद्ध स्वीकृत तथ्य है, एक विश्वास की चीज़ है, तर्क की नहीं। हमारा तार्किक आवेग (इम्पल्स) आत्मा की एक शक्ति है, इसलिए उसकी अपनी सत्ता में ही विश्व को संचालित और नियन्त्रित करने वाले नियम की कल्पना विद्यमान है। प्रकृति की क्रमबद्धता और व्यवस्था एक विश्वसनीय और भरोसे के योग्य एकता है क्योंकि आत्मा अपने-आपमें एकता है। जब तक मैं स्वयं मैं (अर्थात् एक) रहता हूँ तब तक मैं हर वस्तु को एक एकता के रूप में सोच सकता हूँ। विचार का निर्देशन मनुष्य की अन्तरालवर्ती आत्मा के द्वारा हमारे भीतर विद्यमान ईश्वर के द्वारा होता है। विश्व की क्रमबद्धता और व्यवस्थितता जीवन का एक ऐसा सुदृढ़ निश्चयात्मक ज्ञान है जो निरे तार्किक ज्ञान से परे है। केवल तर्कान्वयी (लॉजिकल) होने से काम नहीं चल सकता, बुद्धिसंगत (रीज़नेबल) होना भी आवश्यक है। यदि हम यह चाहते हैं कि हमारी तर्क-

प्रणाली का परिणाम और निष्कर्ष सही हो तो यह आवश्यक है कि हम उसे सही आधार-वाक्यों से प्रारम्भ करें। अन्तर्ज्ञान भी उतना ही सबल है जितना कि स्वयं जीवन, जिसकी आत्मा में वह उद्भूत होता है। वह हमें बताता है कि यह विश्व एक आध्यात्मिक क्रम-व्यवस्था का अंग है, भले ही हम उसके लिए स्पष्ट और तर्कसंगत प्रमाण न खोज सकें। आलोचनात्मक बुद्धि जिस एकत्व और सहस्वरता को जानने का प्रयत्न करती है उसे हम अन्तर्ज्ञान से जान लेते हैं। प्रकृति में इतने अधिक और स्पष्ट मनमानेपन के बावजूद हम यह विश्वास कर लेते हैं कि वह विश्वसनीय है और एक नियत क्रम में बँधी हुई है। वैज्ञानिक अनुभव हमारी इस विश्वास की साहसिकता की अधिकाधिक पुष्टि करता है, किन्तु हमारा यह विश्वास कभी भी तर्कशास्त्र का तर्कवाक्य नहीं बनता। हमारा समूचा तार्किक जीवन एक अधिक गहरी अन्तर्दृष्टि की बुनियाद पर विकसित होता और बढ़ता है, और यह अन्तर्दृष्टि ठीक समझदारी सिद्ध होती है, गलती नहीं, क्योंकि उसके आधार पर हम आगे बढ़ सकते हैं।

इसके अलावा, हम यह कैसे जानते हैं कि इस ब्रह्माण्ड में जीवित रहना अच्छा है? आचारशास्त्र के जो सिद्धान्त इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं, वे यह मानकर चलते हैं कि जीवित रहना अच्छा है और यह ब्रह्माण्ड हमें निराश नहीं करेगा। संसार अन्ततः भद्र है। जिस प्रकार वैज्ञानिक बोध इस पूर्वधारणा के साथ प्रारम्भ होता है कि हमारी शक्तियाँ विश्वास और भरोसे के योग्य हैं और उनसे हम सत्य की एक ऐसी प्रणाली पर पहुँच सकेंगे जिससे यह संसार हमारे लिए अनबूझ पहेली नहीं रहेगा, उसी प्रकार नैतिक आचारशास्त्र यह मानकर चलता है कि जीवन जीने योग्य है और उससे हम अच्छाई को जान सकेंगे और हम संसार को उसके आमूलचूल नैतिक सुधार के लिए मजबूर कर सकते हैं। हम यह मानकर चलते हैं कि एक ईश्वरीय आदेश हमें यह प्रेरणा दे रहा है कि हम ऋजु और व्यावहारिक अन्याय्य पथ पर चलने के बजाय टेढ़े, कंटकाकीर्ण कल्याण के सत्पथ पर चलें किन्तु इस कल्याण का अर्थ सांसारिक सुख-समृद्धि नहीं है। तर्कशास्त्र और आचारशास्त्र यह मानकर चलते हैं कि जीवन अर्थपूर्ण है, इस अर्थपूर्णता की उन्हें अपने प्रयोजन के लिए आवश्यकता है, किन्तु उसे वे सिद्ध नहीं कर सकते, स्वतःसिद्ध मानते हैं।

हम चाहते हैं कि यह संसार अच्छा हो, किन्तु क्या यही उसके अच्छा होने के पक्ष में पर्याप्त तर्क है? क्या हम यह निश्चित रूप से भरोसा कर सकते हैं कि

यह ब्रह्माण्ड मानवीय आत्मा की पुकार को सुनेगा और उसकी माँगों को पूरा करेगा, यह तथ्यों का संसार आत्मा के दावों के अनुसार चलेगा ? आनुभविक बोध के दृष्टिकोण से तो यह मान्यता कि प्रकृति और आत्मा के राज्य, अस्तित्व और मूल्य एक-दूसरे के विरुद्ध नहीं है, एक निरी प्राक्कल्पना है, किन्तु अन्तर्ज्ञान की दृष्टि से देखा जाए तो वह एक तथ्य है। तर्क की दृष्टि से देखा जाए तो यथार्थ सत्ता की संरचना में ऐसी कोई चीज़ नहीं है जो इस प्राक्कल्पना का खंडन कर सके, हालांकि स्वयं तर्क उसे किसी तरह सिद्ध नहीं कर सकता। यह कोई संसार को वैसा ही मान लेने का प्रश्न नहीं है, जैसा कि हम उसे देखना चाहते हैं। यह तो मनुष्य की आत्मा का आधारभूत कथन है, यह समस्त मूल्यों का आधार और समस्त जीवन का निर्देशक सिद्धान्त है। यह मान्यता इस बात पर बल देती है कि नैतिक व्यवस्था का आधार ही काल में अवस्थित ब्रह्माण्ड का मूल स्रोत है। जीवन ही हम पर यह दायित्व थोपता है कि हमें सच्चा और अच्छा बनना है। हमारे दुष्कर्म और पाप भी एक ऐसी वस्तु के गलत कदम हैं जिसका लक्ष्य बुराई और पाप नहीं, बल्कि अच्छाई और पुण्य है। प्रकृति अन्ततः बुराई और पाप से घृणा करती है और अच्छाई के लिए प्रयत्न करती है। यह समस्त आचारशास्त्र का मूल स्वतःसिद्ध सिद्धान्त है।

इसी प्रकार मनुष्य का हृदय सुख की कामना करता है। दुःख और व्यथा को दूर करना हमारी प्रकृति की प्रधान वृत्ति है। जीवन मृत्यु का प्रतियोगी, विरोधी और उलटा है। पीड़ा, ग्लानि और असौन्दर्य को, जो हमारी सत्ता की हमारे सच्चे आत्म-स्वरूप की अधिक गहरी सम्भावनाओं के विरोधी हैं, दूर करने के लिए निरन्तर प्रयत्न चलता रहता है। सभी अन्तर्ज्ञानों का सम्बन्ध आत्मज्ञान से होता है। हमारे ज्ञान में होने वाली समस्त वृद्धि इस सहज वृत्ति का ही विस्तार है, मनुष्य के मन का उसकी आत्मा में अधिकाधिक साम्यान्वेषण है। समस्त अनुभव उसी में उद्भूत होता है और उसी में रहता है। जैसा कि उपनिषद ने कहा है, वह मन और इन्द्रियों की पहुँच से परे है, हालांकि वह मन और इन्द्रियों के बारे में सोचता है।

यदि अन्तर्ज्ञान हमें ऐसे मुख्य विश्वव्यापी स्वतःसिद्ध सिद्धान्तों का ज्ञान प्रदान न करे, जिनका न तो हम खण्डन कर सकें और न पुष्टि, तो हमारे जीवन का अन्त हो जाए। ब्रह्माण्ड की नैतिक दृष्टि से सुदृढ़ता, तार्किक दृष्टि से संगतता और सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से सुन्दरता विज्ञान, तर्क, कला और नैतिक आचार

की मान्यताएँ है, किन्तु ये मान्यताएँ गलत और अयुक्तियुक्त नही है। ये मान्यताएँ आत्मा के बोध हैं, मनुष्य के 'स्व' के अन्तर्ज्ञान हैं और वे वैसी ही युक्तियुक्त है, जैसा कि विश्व या बौद्धिक योजनाओं मे विश्वास युक्तियुक्त होता है, हालांकि इन अन्तर्ज्ञानो की प्राप्ति हमे विश्व और बौद्धिक योजनाओ पर विश्वास के-से ढग से नही होती। इन मान्यताओ पर अविश्वास करने का अर्थ है पूर्ण सन्देहवाद। यदि सभी ज्ञान प्रत्यक्षात्मक या सकल्पनात्मक (अनुमानात्मक) होते तो इन मान्यताओं पर अविश्वास अनिवार्य हो जाता। अन्तर्ज्ञानात्मक आद्य मान्यताओं की वैधता का प्रमाण कुछ-कुछ वैसा ही है जैसा कि कण्ठ के प्रागनुभव तत्त्वो की वैधता का प्रमाण। हम उन्हे सोच-विचार या तर्क के द्वारा उडा नही सकते। उनके विरोधियो (प्रतियोगियो) की कल्पना नही की जा सकती। यह सम्भव नही है कि हम उन पर अविश्वास करे, फिर भी बुद्धि और तर्क के मार्ग पर आरूढ रहे। ये मान्यताएँ हमारे मन की रचना से सम्बद्ध हैं। ये हमारी आत्मा के साथ अविभाज्य रूप से जुडी हुई है। ये इन्द्रियजन्य ज्ञान से या तर्क द्वारा किये गए अनुमान से प्राप्त निष्कर्ष नही हैं, फिर भी यदि हम उनका उपयोग न करे तो न प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है और न अनुमान। यदि हम आत्मज्ञान को अस्वीकार करें, यदि हम मनुष्य की आत्मा मे किसी स्वतः प्रकाशतत्व को स्वीकार न करे तो यह समस्त ज्ञान और जीवन से ही इन्कार करना होगा। थ्योफ्रेस्टस की एक महान् उक्ति है, 'जो लोग हर चीज़ के लिए तर्क की खोज करते है वे एक प्रकार से तर्क को हमेशा के लिए ही अपदस्थ कर देते हैं।' यदि समस्त ज्ञान अपनी प्रामाणिकता के लिए किसी बाहरी कसौटी पर ही निर्भर हो, तब कोई भी ज्ञान प्रामाणिक नही रहेगा। एक चीज़ दूसरी पर निर्भर है और दूसरी-तीसरी पर, इस प्रकार एक अनन्त शृङ्खला चल पडेगी। इस शृङ्खला की अनन्तता से बचने का एक ही उपाय है कि हम ऐसा भी एक ज्ञान स्वीकार करे जो स्वतःप्रमाण हो। ऐसा स्वत.प्रमाण ज्ञान आत्मज्ञान ही है। विचार के लिए कोई ऐसी चीज सोचना सम्भव नही है जो सत्य न हो। यदि ऐमा सम्भव हो तो सत्य की ऐसी कोई बाह्य कसौटी या पैमाना नही हो सकता, जो विचार के भीतर स्वत.प्रमाण कसौटी का स्थान ले सके, क्योंकि इस प्रकार की बाहरी कसौटी का बोध स्वयं विचार का एक कार्य होगा और उसे स्वय प्रामाण्य के लिए एक बाहरी कसौटी की जरूरत होगी। 'एक विचारक सत्ता की प्रकृति मे ही यह बात निहित है कि वह सत्य और पर्याप्त विचार बना सकती है।' स्पिनोजा के इस कथन पर टिप्पणी करते हुए

वोमाके ने लिखा है, 'सत्य मन का स्वाभाविक नियम है और असत्य और गलती अपवाद हैं।' 'यदि आप मन के विचार को शुद्ध निर्मल रूप मे, अर्थात् जैसा कि वह अपने प्राकृतिक रूप मे है उसी रूप मे और कुछ निश्चित दोषो मे रहित ग्रहण कर सकें, तो आपको उसमे यथार्थ का सच्चा रूप मिलेगा। क्योंकि विचार का स्वभाव ही यह है कि वह यथार्थ को प्रकट करता है और उसमे यथार्थ की अभिव्यक्ति उसका सहज स्वरूप है, अपवाद नहीं है।'[1] प्रत्येक विचारक प्राणी मे मानवीय विचार की प्रामाणिकता का विश्वास अन्तर्निहित रहता है। गलती विचार नहीं है। हम उसे सोचते कभी नहीं, बल्कि वह लोगो के आवेशों और स्वार्थों के कारण हो जाती है, जो उनके विचारो को बादल की तरह ढक लेते हैं। हमारा तार्किक ज्ञान सत्य और गलती का मिश्रण है, क्योंकि क्रियात्मक और व्यावहारिक प्रेरणाएँ विशुद्ध विचार में बाधा डालती हैं। यदि मन को मुक्त न किया जाए और वह समस्त कामना और चिन्ता को, समस्त स्वार्थ और भेद को उतार न फेंके तो वह शुद्ध सत्ता के क्षेत्र मे प्रवेश नहीं कर सकता और न उसे अभिव्यक्त कर सकता है। यह विशुद्ध विचार की स्थिति ज्ञाता और ज्ञेय के, सत्य और गलती के भेद से पहले की स्थिति होती है। ये भेद शुद्ध विचार की स्थिति मे नहीं, बल्कि बाद मे विमर्श के स्तर पर पैदा होते हैं। जो सब तार्किक ज्ञानो मे अन्तर्निहित है उसका तार्किक ज्ञान सम्भव नहीं है। जीवित आत्मा समस्त विचारो का अन्तिम आधान है और क्योंकि वह अन्य किसी भी आधान से मुक्त है, इसलिए वह स्वतन्त्र और निरुपाधिक है। इसी प्रकार नैतिक सुनिश्चितता के लिए भी एक उच्चतम उद्देश्य की आवश्यकता है जिससे शेष सब उद्देश्य निकलते हों—एक ऐसा उद्देश्य जो स्वय आत्मा मे उद्भूत होता है और जिसमे अन्य कम सामान्य नैतिक उद्देश्यों की भी सार्थकता हो। सब मान्यताओं की अन्तिम मान्यता यह है कि हमारे भीतर एक आत्मा है, मनुष्य मे ईश्वर का वास है। जीवन ईश्वर है और उसका प्रमाण स्वय जीवन ही है। यदि हम अपने भीतर किसी जगह पूर्ण निश्चय से यह अनुभव न करते कि ईश्वर है तो हम जी न सकते। यदि सूर्य और चन्द्रमा भी सन्देह करने लगें तो वे भी बुझ जाएँ। हमारे जीवन अपनी निज की सीमाओं मे नहीं जिये जाते। हम स्वय एकाकी नहीं हैं। हम ईश्वर-मानव हैं।

१. मोर्निंग ऑफ एक्सट्रीमिज्म इन कण्टैम्पोरेरी फिलॉसफी (१६२१), ८२।

११. प्लेटो :

महान् दार्शनिक यह स्वीकार करते है कि जीवन के बड़े निश्चयात्मक ज्ञान अन्तर्ज्ञान से पैदा होते हैं। उदाहरण के लिए सुकरात ने अपने विचारों का आधार स्वतःसिद्ध सत्यों या अन्तर्ज्ञान से प्राप्त ज्ञानों को बनाना पसन्द किया, प्रेक्षित तथ्यों से प्राप्त आगमनात्मक प्रमाणों को नहीं। आन्तरिक शैतान की आवाज भी उसके लिए बाह्य प्रत्यक्ष या तार्किक विवेचन से अधिक महत्त्वपूर्ण थी। प्लेटो का प्रत्यास्मरण (रिकलैक्शन) का सिद्धान्त यह सकेत करता है कि मानवीय जीवन के सभी पहलुओं मे साहसिक उद्यम के लिए कुछ ऐसे सत्यों की आवश्यकता होती है जो वाह्य वस्तुओं के साथ इन्द्रियों के सम्पर्क से या विविध सम्बन्धों के साथ बुद्धि के सम्पर्क से उपलब्ध नहीं होते। प्लेटो के 'प्रत्यास्मरण' का अर्थ है समस्त मानव का सकेन्द्रित उद्यम, जिसके द्वारा जीवन और तर्क के आवश्यक सिद्धान्तों का बोध प्राप्त किया जा सकता है। अमर आत्मा दीर्घ काल पूर्व ही समस्त सत्यों को जान चुकी है और इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त सत्य का अनुभव वास्तव मे उसे उन सत्यों का स्मरण कराता है जिन्हे वह किसी समय जानती थी और अब भूल चुकी है। प्रत्यास्मरण तार्किक प्रक्रिया का आधार है, जिसमे प्रत्ययों का अनावरण (खोज) किया जाता है और इस अनावरण में वस्तुओं के विशिष्ट विवरण भाग लेते हैं। प्लेटो के अनुसार, विश्वव्यापी मन विभिन्न तत्त्वों का बना हुआ है और इन तत्त्वों का ससार मे पुनर्जनन होता रहता है और वे उसके विकास मे सप्राण नियत्रक शक्तियों के रूप मे कार्य करते हैं। मनुष्य के मन को वे 'प्रत्यय' के रूप मे प्रतीत होते हैं और वे उसके विचारों के प्रधान उपादान कारण हैं। तर्क हमे उन प्रत्ययों का बोध प्राप्त करने में चाहे कितनी भी सहायता दे, किन्तु उनके लिए हम तर्क के ऋणी नहीं होते। हमने अपने जन्म से पूर्व अपरोक्ष और सीधे तौर पर जो कुछ देखा होता है, उसकी स्मृति से ही हम उन प्रत्ययों को ग्रहण कर पाते हैं। जब प्लेटो यह कहता है कि 'ज्ञात वस्तु को सत्यत्व और ज्ञाता को ज्ञान की शक्ति जिससे प्राप्त होती है, उसी को तुम लोग अच्छाई का प्रत्यय (आइडिया आफ गुड) समझो और इसी को विज्ञान का कारण समझो' [1], तब वह यही चाहता है कि हम अच्छाई को, जिसका ज्ञान हमे प्रत्यास्मरण से प्राप्त होता है, यथार्थ सत्ता को स्वीकार करें। कोई भी ज्ञान तब तक हमारा अपना नहीं हो सकता, जब तक कि वह आत्मा के

1. रिपब्लिक, ६.५०८।

अनुभव के अनुसार न हो। जब प्लेटो यह कहता है कि ज्ञान की समस्त प्रक्रिया स्मरण करने की प्रक्रिया के समान है तो उसका अभिप्राय यह होता है कि समस्त सत्य एक साथ नया भी है और पुराना भी, रहस्यमय भी है और परिचित भी, सज्ञानात्मक (कॉगनिशन) भी है और प्रत्यभिज्ञानात्मक (रिकॉगनिशन) भी। 'अच्छाई' की, जो सत्ता और मूल्य दोनों का मूल आधार है, तर्क द्वारा व्याख्या नहीं की जा सकती। प्लेटो ने इसके लिए एक उपमा का प्रयोग किया है। 'अच्छाई' का आकारों के जगत् के साथ वही सम्बन्ध है जो सूर्य का दृश्य वस्तुओं के जगत् से है। वह उनके अस्तित्व का स्रोत तो है ही, उन्हें आलोकित करने वाला प्रकाश भी है। वह एक स्वतःसिद्ध मूल सत्य है जिसे किसी अन्य प्रमाण से सिद्ध नहीं किया गया। प्लेटो ने यह बुनियादी प्रत्यय (जो अन्य प्रत्ययों की बुनियाद है) रहस्यमय रूप में इसलिए प्रकट किया है, क्योंकि वह तार्किक ज्ञान का विषय नहीं है। वह प्रयोग के द्वारा सिद्धि या ज्ञान के बजाय विश्वास का विषय है। तार्किक दृष्टि से देखा जाए तो वह एक महान् प्राक्कथन (हाइपॉथेसिस) या एक यशस्वी प्रयत्न है। वह अनुभव किया जाता है और स्वानुभव में पुष्ट किया जाता है, वह किसी अन्य ज्ञान से अनुमान द्वारा प्राप्त नहीं किया जाता और न किसी को समझाया जाता है। हम उसे सत्य समझते हैं, किन्तु किसी तर्क द्वारा नहीं बल्कि अपनी समूची प्रकृति द्वारा, जिसमें हमारे आवेग और भावनाएं भी सम्मिलित हैं, अनुभव करते हैं। प्लेटो ने अपना प्रत्यास्मरण का सिद्धान्त ऑरफियस से लिया था। उसने तार्किक ज्ञान और अन्तर्ज्ञान में जो भेद किया था वह आज तक किसी-न-किसी रूप में चला आ रहा है।

अरस्तू ने जिसे 'नाउज' कहा है वह उन मूल स्वतःसिद्ध सिद्धान्तों का, जिन्हें समस्त तर्क अपने आधार के रूप में स्वीकार करते हैं, अन्तर्ज्ञानात्मक बोध है। उन्हें न तो प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है और न खंडित। उसने प्रश्न किया है कि 'मूल स्वतःसिद्ध स्वीकृत सिद्धान्तों का 'विज्ञान' कैसे हो सकता है?'[1] इन स्वतःसिद्ध सिद्धान्तों की सत्यता हरेक व्यक्ति पर प्रकट है। हम उन्हें अपरोक्ष अन्तर्ज्ञान से जानते हैं, प्रयोग से सिद्ध करने वाले विज्ञान के द्वारा नहीं।

१. मैटाफिज़िक्स, ६६७ ए।

१२. देकार्त :

देकार्त ने इस बात पर बल दिया है कि स्वय हमारे विचार के स्वरूप मे ही ईश्वर के अस्तित्व का स्पष्ट प्रमाण मिल जाता है। उसका सम्बन्ध अन्तर्ज्ञानात्मक सुनिश्चितता के उसी क्षेत्र मे है, जिसमे गणित विज्ञान के मूल स्वतःसिद्ध स्वीकृत सिद्धान्तो का। इन प्रत्ययो की सत्यता इस बात मे है कि वे स्पष्ट रूप से समझ मे आते हैं। इसके लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता नही है, क्योंकि समस्त अनुभव ही उनकी पुष्टि करता है। देकार्त ने यह कहकर स्थिति को अनावश्यक रूप से उलझा दिया है कि स्पष्ट और विविक्त प्रत्ययो की सत्यता मे हमारे विश्वास का आधार ईश्वर की सत्यता है। कारण यह कि स्पष्ट और विविक्त प्रत्ययो को ईश्वर भी असत्य नही बना सकता। वे स्वरूपतः ही सत्य है और उनका स्पष्ट रूप से बुद्धिगम्य होना ही उनकी सत्यता का पर्याप्त प्रमाण है। कडवर्थ ने देकार्त द्वारा स्पष्ट और विविक्त प्रत्ययो की पुष्टि के लिए बतायी गई कसौटी की चर्चा करते हुए यह ठीक ही कहा है, सत्य कृत्रिम वस्तु नही है, वह ऐसी चीज नहीं है कि जब चाहे बनाई जा सके, वह तो सिर्फ "है"।' सत्य का जीवन-तत्त्व उसकी यह स्पष्ट सुबोधता और बुद्धिगम्यता ही है।'[1] देकार्त ने यह स्वीकार किया है कि अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान, जिसके उद्गम को उसने बुद्धि का प्रकाश कहा है, ऐसा ज्ञान है जो इन्द्रियो के परिवर्तमान साक्ष्य और कल्पना की भूल करने वाली सरचनाओ से उद्भूत भ्रामक निर्णय, दोनो से भिन्न है। वह एक अन्तर्ज्ञान है जो हमे अनावृत और एकाग्र मन से इतने स्पष्ट और विविक्त रूप मे प्राप्त होता है कि हम उसके सम्बन्ध मे समस्त सन्देहो से मुक्त हो जाते हैं।

१३. स्पिनोजा :

स्पिनोजा ने कल्पना और तर्क-बुद्धि को अन्तर्ज्ञान(साइटिया इण्ट्यूटिया) से भिन्न माना है। कल्पना से हम सम्मतियाँ यानी अपर्याप्त और उलझे हुए विचार बनाते है। तर्क-बुद्धि द्वारा हम विधिवत् नियमबद्ध ज्ञान प्राप्त करते है जो एक वैज्ञानिक की विशेषता है। किन्तु विज्ञान की दुनिया मे जीवन का प्राण निकल गया है, सिर्फ अन्तर्ज्ञान ही उसमे पुन इस प्राण की प्रतिष्ठा कर सकता है। 'हम तीसरे प्रकार के ज्ञान से जो कुछ समझते हैं, उनमे हम खूब प्रसन्न होते है और हमारी इस प्रसन्नता के साथ यह प्रत्यय भी रहता है कि ईश्वर उसका कारण

१. इन्टेलेक्चुअल सिस्टम, ४. पृ० ३१ ३२।

है।'[1] 'वस्तुओं के आन्तरिक स्वरूप को जानने के लिए, अर्थात् उन्हें वैज्ञानिक की भाँति सामान्य रूप में जानने के लिए नहीं, बल्कि जिस तरह ईश्वर उन्हें अन्तर में जानता है, उस तरह जानने के लिए, हमें एक उच्चतर श्रेणी के ज्ञान की भी आवश्यकता है, जिसकी ओर वैज्ञानिक ज्ञान संकेत करता है।'[2] 'शॉर्ट ट्रीटिज' में कहा गया है कि अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान का अर्थ 'तर्क या बुद्धि से किसी वस्तु पर विश्वास करना नहीं है, बल्कि उस वस्तु के साथ अव्यवहित ऐक्य स्थापित करना है।' यह अन्तर्ज्ञान किसी अन्य वस्तु से पैदा नहीं होता, बल्कि स्वयं ज्ञेय वस्तु हमारे बोध में अपने-आपको प्रकाशित करती है।[3] अन्तर्ज्ञान से प्राप्त झाँकी से मन को उच्चतम शान्ति प्राप्त होती है।[4]

१४. लाइबनित्ज :

लाइबनित्ज ने अपनी 'न्यू ऐसेज' पुस्तक में कहा है कि 'शुद्ध बुद्धि' जैसी एक वस्तु भी है जिसकी परख आत्म-प्रेक्षण द्वारा की जा सकती है। उसका यह विश्वास, कि बुद्धि में स्वयं बुद्धि के सिवाय कुछ भी सहज या अन्तर्ज्ञात नहीं है, इस विचार को स्वीकार नहीं करता कि समस्त ज्ञान या तो प्रत्यक्षात्मक है या आनुमानिक।

१५. पास्काल :

पास्काल की यह उक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि हृदय के अपने निज के तर्क होते हैं जिन्हें बुद्धि नहीं जानती। देश, काल, गति और संख्या का अस्तित्व आदि स्वतःसिद्ध स्वीकृत सिद्धान्तों का ज्ञान भी उतना ही सुनिश्चित होता है जितना कि हमें अपनी तर्क-बुद्धि द्वारा प्राप्त सिद्धान्तों का ज्ञान। बुद्धि स्वयं यह स्वीकार करती है कि स्वयं उससे परे भी एक अनन्त क्षेत्र फैला हुआ है। पास्काल के अनुसार मन दो तरह से सोचता है—एक गणित की पद्धति से (लिस्प्री ज्योमेत्रीक) और दूसरे एक सूक्ष्मतर पद्धति से (एस्प्री द फिनेस)। इस दूसरी पद्धति से हम सत्य को देखते और अनुभव करते हैं।

१. एथिक्स, ५.३२।
२. १.४७ स. राथ : स्पिनोज़ा, पृष्ठ १२३।
३. राथ : स्पिनोज़ा, पृ० १४६-१४७।
४. एथिक्स, ५.२७।

१६. काण्ट :

धर्म के दर्शन को काण्ट की मुख्य देन उसका यह आग्रह है कि ईश्वर को तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता। अपनी पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ़ प्योर रीज़न' में उसने यह बताया है कि ईश्वर को सिद्ध करने के लिए दिये गए तर्क दोषपूर्ण हैं और अन्ततः उससे ईश्वर का खण्डन ही होता है। हमारी ज्ञान की क्षमताएँ प्रपंच-मय जगत् तक ही सीमित हैं और यदि हम दैशिक और कालिक अनुभव के सिद्धान्तों का उससे भी परे के क्षेत्रों में विस्तार करें तो हम धोखा खा जाएँगे और 'बुद्धि के भ्रमों' में फँस जाएँगे। कारण यह कि हमारा श्रेणी-विभाजन तब तक निरुपयोगी है जब तक कि उसकी सामग्री ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष से प्राप्त न हो और ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष हमें परिकल्पनात्मक तर्क-बुद्धि के लिए आवश्यक सामग्री कभी उपलब्ध नहीं करा सकता। ईश्वर न तो प्रत्यक्ष का विषय है और न अनुमान का। और यदि उसका अस्तित्व है तो उसका बोध किसी ऐसी पद्धति से होना चाहिए जो शान्त जगत् पर लागू होने वाली पद्धति से भिन्न है। किन्तु दुर्भाग्य से काण्ट ने संसार को उसके देशातीत और कालातीत स्वरूप में जानने की विभिन्न पद्धतियों की सम्भावना के प्रश्न पर विचार नहीं किया, हालाँकि उसने कुछ महत्त्वपूर्ण कीमती सुझाव दिये हैं, विशेषकर विवेक के प्रत्यय, नैतिक समस्या और उद्देश्य-वादी निर्णयों के विवेचन के प्रसंग में।

हमारे बोध की विभिन्न श्रेणियों उदाहरणार्थ कारणता और द्रव्य आदि, ने हमें केवल आंशिक ऐक्य प्राप्त होता है, किन्तु मनुष्य के मन पर सर्वथा अविकल और पूर्ण अनुभव के प्रत्यय मँडराते रहते हैं। मनुष्य का मन अनुभव किये गए समग्र पूर्ण को, चाहे वह ज्ञाता के रूप में हो या ज्ञेय के रूप में, या दोनों के ऐक्य के रूप में एक ऐसे आकार में लाना चाहता है जिसमें उसे 'एक' के रूप में ग्रहण किया जा सके। काण्ट ने भी प्लेटो की भाँति प्रत्ययों को विवेक के प्रत्यय (आइडियाज़ ऑफ़ रीज़न) कहा है। विवेक के प्रत्यय तीन हैं—आत्मा, सम्पूर्ण विश्व, और ईश्वर। वे अनुभव के विषय नहीं हो सकते, हालाँकि वे अनुभव को नियमित करते हैं। वे हमारे सामने कुछ समस्याएं प्रस्तुत करते हैं और बुद्धि का आह्वान करते हैं कि वह अपनी ज्ञान की खोज में उनका समाधान करे। साथ ही वे संकल्प-नाओं को सीमा में बाँधते हैं। वे यथार्थ सत्ता के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं करते, कारण विवेक के इन प्रत्ययों की आनुभविक पुष्टि नहीं हो सकती, क्योंकि हर आनुभविक वस्तु सोपाधिक और सापेक्ष होती है और ये प्रत्यय निरुपाधिक

और निरपेक्ष हैं। यदि हम यह प्रश्न करें कि ये प्रत्यय पैदा कैसे होते हैं, क्योंकि ये अनुभव की विषय-वस्तु के विपरीत हैं, तो काण्ट का उत्तर यह है कि अवरोध उन उपाधियों को हटाकर, जिनके अन्तर्गत अनुभव में वस्तुएँ जानी जाती हैं, इन प्रत्ययों को आकार प्रदान करता है। प्रत्यय अवबोध की माँगों को अभिव्यक्त करते हैं। ये माँगें हैं कर्तृ निष्ठ स्वार्थ, जो अवबोध को अनुभव के लिए आवश्यक तथ्यों को एक एकीकृत प्रणाली में संगठित करने के कार्य में प्रेरित करते हैं। उनका एकमात्र कार्य अवबोध के कार्य को नियमित करना है, उनका कोई दार्शनिक महत्त्व नहीं है। वे हमें अपने अनुभव को संगठित करने और उसका मूल्य आँकने में सहायता देते हैं। विज्ञान भी अन्ततः एक विश्वास और आशा पर आधृत है—अर्थात् तर्क के इस विश्वास पर कि वह सर्वोपरि है और इस आशा पर कि संसार एक बुद्धियुक्त तर्क के नियमों से बँधा हुआ है।

काण्ट ने विवेक को एक ऐसी शक्ति के रूप में कल्पित किया है जिसमें हम अपने अन्तिम या निरुपाधिक मूल सिद्धान्तों को जानते हैं। संज्ञानात्मक अनुभव के मामले में ये मूल सिद्धान्त हमें प्रामाणिक ज्ञान नहीं देते, क्योंकि ज्ञान की सामग्री के लिए व्यक्ति को इन्द्रियों पर निर्भर करना पड़ता है, और उसे जो सामग्री उपलब्ध होती है वह विवेक के मूल सिद्धान्तों के लिए पर्याप्त नहीं होती। किन्तु अपने व्यावहारिक प्रयोजन के लिए विवेक बेहतर स्थिति में है। एक आदेश देश और काल की दुनिया में वास्तविक आकार धारण किये बिना भी प्रामाणिक हो सकता है। इसलिए व्यावहारिक विवेक के सिद्धान्तों की निरुपाधिक प्रामाणिकता में कोई नैसर्गिक दोष नहीं है। नैतिक जीवन में विवेक के प्रत्ययों की अर्थवत्ता और भी अधिक गहरी हो जाती है। विवेक के प्रत्यय जिस प्रकार की यथार्थ सत्ता की ओर संकेत करते हैं उसका एक उदाहरण कर्तव्य का तथ्य है। यह यथार्थ सत्ता निश्चित होते हुए भी अनुभव के सन्दर्भ में ज्ञेय वस्तु नहीं है। हम अपने अन्तर्ज्ञान से ही नैतिक नियम को स्वतः अच्छा मान लेते हैं। उसे ऐसा मानने का कारण यह नहीं है कि एक हमसे बड़ी हस्ती हमें उस नियम के पालन का आदेश देती है या हम उसे अपने लिए सुखकर समझते हैं। निरुपाधिक मूल सिद्धान्त व्यावहारिक विवेक के क्षेत्र में भी प्रामाणिक मान लिये जाते हैं, हालाँकि देश और काल के संसार में उनकी पूर्ति कभी नहीं हुई होती। काण्ट इस तथ्य के प्रति पूर्णतः सजग है कि गणित या भौतिक विज्ञानों में हमें जिस प्रकार का बोध होता है वही सब-कुछ नहीं है। नैतिक चेतना वह बिन्दु है जहाँ हम पूर्ण यथार्थ सत्ता को स्पर्श

करते है। अन्तःकरण व्यक्तिगत मन के भीतर यथार्थ सत्ता की पुकार है। नैतिक नियम का अन्तर्ज्ञानात्मक बोध देश और काल के ससार मे किसी वस्तु के तार्किक बोध से बिलकुल भिन्न है।

यह एक दिलचस्प बात है कि काण्ट ने न केवल समस्त नैतिकता, व्यवस्थितता या नियमबद्धता के अमूर्त सिद्धान्तो का, बल्कि व्यवहार के मूर्ततर सिद्धान्तो का भी व्यावहारिक विवेक-बुद्धि के साथ सम्बन्ध जोडा है। विशुद्ध तर्क के क्षेत्र मे काण्ट ने हमेशा इस बात पर बल दिया है कि अनुभव की सामग्री भी ज्ञान के लिए उसके आकार से कम महत्त्वपूर्ण नही है। किन्तु उसका विश्वास था कि व्यावहारिक विवेक के क्षेत्र मे मनुष्य के समस्त कर्तव्यो का निर्धारण करने के लिए विवेक का अमूर्त सूत्र (एब्स्ट्रैक्ट फार्मूला), निरुपाधिक कर्तव्य का आदेश, ही पर्याप्त है, उसके लिए मानव-प्राणियो की विशिष्ट कामनाओ और आकाक्षाओ पर विचार करने की आवश्यकता नही है। काण्ट के अनुसार हम अपने कर्तव्य को विवेकपूर्ण अन्तर्ज्ञान से जानते है, न कि परिणामो का बुद्धिपूर्वक हिसाब लगाकर। किन्तु वास्तव मे देखा जाए तो काण्ट की इस बात मे पूर्ण सगति नही है। महज आत्म-सगति की कसौटी यानी निरुपाधिक कर्तव्य का आदेश हमे जीवन मे पथ-निर्देश देने के लिए पर्याप्त समर्थ नही है। यह भी हो सकता है कि कोई व्यक्ति समस्त विश्व के विनाश की चाहना करने लगे, सिद्धान्त रूप से इस सम्भावना की कल्पना असगत नही है। यदि काण्ट आत्म-हत्या को गलत समझता है तो इसलिए नही कि आत्म-हत्या करना निरुपाधिक कर्तव्य के आदेश के आकारिक सिद्धान्त का उल्लघन है, बल्कि वह इसलिए गलत है कि कुछ ऐसे उद्देश्यो के साथ उसकी सगति नही है जिनके साथ इच्छा का सम्बन्ध है। ये उद्देश्य व्यक्तियो की आकस्मिक आकाक्षाएँ नही है, जोकि प्रकृत्या सोपाधिक होती है, बल्कि ये उद्देश्य मानवता के उच्चतम उद्देश्य हैं। ऐसी दशा मे स्पष्टतः काण्ट यह स्वीकार करता है कि केवल नैतिकता के सामान्य सिद्धान्त ही नही, बल्कि मनुष्य के विशिष्ट कर्तव्य भी विवेकपूर्ण अन्तर्ज्ञान से जाने जाते हैं।

काण्ट से यह आशा करना अस्वाभाविक नही था कि वह बोध की इस पद्धति के अभिप्राय और फलितार्थो का अधिक विस्तृत विवेचन करेगा और ईश्वर के ज्ञान पर भी उसे लागू करेगा, किन्तु उसने ऐसा किया नही। काण्ट ने ईश्वर को महज नैतिक चेतना के एक स्वत.सिद्ध स्वीकृत तथ्य के रूप मे अधर

में ही लटका दिया है। उसके मन में ईश्वर एक आदर्श है, जिसे हमें अपनी उन्नति के लिए अपने सामने रखना है। वह एक ऐसी यथार्थ सत्ता नहीं है जिसे हमें जानना है और न वह ऐसा व्यक्ति है जिसकी हमें पूजा करनी है। ईश्वर हमारे व्यवहार को नियन्त्रित और विनियमित करने के लिए एक सकल्पना है, वह वैज्ञानिक अवबोध या सम्भावित अनुभव की वस्तु नहीं। हमारा यथार्थ का ज्ञान हमें धार्मिक सत्य प्रदान नहीं करता। नैतिक चेतना हमें यह बताती है कि कुछ मूल्य ऐसे हैं जो हमारे लिए व्यवहार में अनिवार्य हैं और हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे हम यह जान सकें कि वास्तव में कोई ऐसी यथार्थ सत्ता है जिसमें ये मूल्य (आदर्श) निहित हैं। यदि हम यह मानें कि ईश्वर ही वह वास्तविक और यथार्थ सत्ता है तो यह हमारा अपने मनोरथ के अनुसार कल्पना करना मात्र होगा, भले ही संसार के प्रपंच, प्रकृति में सोद्देश्यता और मनुष्यों में नैतिक नियम की चेतना को देखकर उनके कर्ता के रूप में ईश्वर के प्रति विश्वास करना कितना ही उचित और सकारण हो।

'क्रिटीक आफ जजमेंट' में काण्ट ने कहा है कि कभी-कभी मनुष्यों के विश्वासों का आधार भावना और अनुभूति की आवश्यकताएँ होती हैं। हमारी भावनाओं का सम्बन्ध कुछ हद तक ज्ञान और विवेक से भी होता है। हमारी यह भावना कि प्रकृति में अमुक चीज़ अच्छी और मूल्यवान है, एक अन्तिम पृष्ठ-भूमि की धुँधली और अस्पष्ट स्वीकृति है जिसे हम ईश्वर कह सकते हैं। किन्तु उसका कहना है कि एक उच्चतर मन ऐसा भी हो सकता है जिसमें अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान हो, जिसके कारण उद्देश्यवाद के आधार पर निर्णय करना आवश्यक हो।[1] काण्ट के दर्शन में तीन विचारधाराएँ—विवेक के प्रत्यय, नैतिक जीवन के आकार और सामंजस्य की कल्पना—इस विचार की पुष्टि करती हैं कि काण्ट के दर्शन में विवेक का अर्थ एक गम्भीरतर विवेक या अन्तर्ज्ञान है। काण्ट को ईश्वर की यथार्थता में विश्वास है, क्योंकि पदार्थ-भेद के श्रेणी-विभाजन द्वारा सैद्धान्तिक तर्क के अलावा हम बोध का एक और स्रोत भी पाते हैं जिसे काण्ट ने नैतिक चेतना कहा है। हममें केवल अच्छे और बुरे की ही नहीं, बल्कि एक निरुपाधिक सत्ता की भी चेतना है जो हमने किसी अनुभव से प्राप्त (ए प्रायोराई) नहीं की।

१. शैलिंग ने काण्ट के इस कथन का उपयोग किया है कि यह सम्भव है कि हमारे सौन्दर्य-बोध में वस्तुओं के अन्तिम सत्य का अनुभव विद्यमान हो और यह भी सम्भव है कि कला दर्शन की अभिव्यक्ति करने का साधन हो।

ये चेतनाएँ आत्मा के अपने ज्ञान के गम्भीरतम उत्स से पैदा होती है। सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार के तर्क, बल्कि हमारी समस्त प्रकृति, हमें उसके लिए मजबूर करती है। यदि हम ईश्वर में विश्वास न रखें तो हम अपने गहन अन्तरतम के प्रति झूठे सिद्ध होंगे। काण्ट ने यह सिद्ध किया है कि ईश्वर एक ऐसी यथार्थ सत्ता है जिसके साथ मन की अपनी गम्भीरतम अवस्था में सायुज्य होता है, हालांकि प्रपचात्मक अनुभव में कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो ईश्वर के साथ सायुज्य स्थापित कर सके। काण्ट के दर्शन की शिक्षा यह है कि अन्तर्ज्ञान स्वत:प्रमाण होते हैं और वे किसी अन्य ज्ञान से उद्भूत नहीं होते, हालाँकि स्वयं काण्ट को भी यह मालूम नहीं था कि उसके दर्शन का यह निष्कर्ष है। काण्ट का खयाल है कि अन्तर्ज्ञानात्मक अवबोध ईश्वर का ही एक विशेषाधिकार है, और मानवीय आत्मा का यह गुण नहीं है। उसकी इस गलत अवधारणा का कारण यह है कि उसने मानवीय ज्ञान की अपनी ओर से एक सीमा निर्धारित कर दी थी। उसका मत है कि हमारे ज्ञान में इन्द्रिय-ज्ञान का अंश अवश्य रहता है और इसके अतिरिक्त हमारे पास अन्तर्ज्ञान या अपरोक्ष अनुभव की कोई दूसरी शक्ति नहीं है। हमारे प्रत्यक्षानुभव हमेशा ऐन्द्रियिक संवेदनात्मक होते हैं और हमारा अवबोध सामान्य धारणाओं के बारे में होता है, इसलिए अन्तर्ज्ञानात्मक नहीं होता। काण्ट ने एक अन्तर्ज्ञानात्मक अवबोध की सम्भावना की कल्पना की है। अपनी पुस्तक डिसर्टेशन' में उसने कहा है, 'हमारे मन की अन्तर्ज्ञानात्मक शक्ति हमेशा निष्क्रिय है और वह उसी सीमा तक सम्भव है जिस सीमा तक कोई वस्तु हमारी इन्द्रियों को प्रभावित करती है। किन्तु ईश्वर की अन्तर्ज्ञान की शक्ति, जो वस्तुओं का कार्य (परिणाम) नहीं, कारण है, क्योंकि वह उससे स्वतन्त्र है, उनका मूल नमूना है, और इसीलिए वह पूर्णतः बौद्धिक है।'[१] यदि काण्ट ने मनुष्य को अन्तर्ज्ञानात्मक अवबोध के विशेषाधिकार से वंचित किया है तो इसका कारण उसका बौद्धिकवाद है, जो महज एक दुर्भाग्य है। यद्यपि काण्ट ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक तर्क में भेद किया है, तो भी उसने व्यावहारिक तर्क को भी बौद्धिक माना है। पुण्य-कार्य करते हुए यदि रोमांच अनुभव हो तो वह पुण्य-कार्य नहीं रहता। उसने विचार को भावना और मनुष्य की भौतिक प्रकृति के दूसरे पार्श्व में मनमाने तौर पर अलग कर दिया और यह अनुभव नहीं किया कि मन अपने समग्र रूप में ऐसी वस्तुओं को जान सकता है जो मात्र बुद्धि की सीमा से परे होती

१ केर : काण्ट्स फिलासफी ऑफ़ रिलीजन (१६२६), पृष्ठ ४४।

हैं। यदि हम काण्ट के दर्शन की भावना को समझें तो हम देखेंगे कि उसका रुख इस प्राक्कल्पना के प्रति अनुकूल है कि अन्तर्ज्ञान ही हमारे उच्चतम ज्ञान का आद्य स्रोत है। यदि हम इन्द्रियजन्य ज्ञान में उपलब्ध सामग्री और तार्किक प्रमाण पर भरोसा करें तो हम द्रव्य और कारणता के नियमों की कोई व्याख्या नहीं कर सकेंगे, क्योंकि हमारा अनुभव स्वयं इन्हीं पर आधृत है, और यदि हम इनकी प्राक्कल्पना न करें तो उसका कोई अर्थ नहीं रह जाएगा। प्रमाण की पद्धति कुछ उपयोगी सिद्ध नहीं होगी, क्योंकि स्वतःसिद्ध पूर्व-स्वीकृत सिद्धान्तों को सिद्ध नहीं किया जा सकता।[1] तर्क की आलोचना करके काण्ट ने यह सिद्ध किया है कि हममें कुछ स्वतःसिद्ध मूल सिद्धान्तों का ऐसा ज्ञान है जो समस्त अनुभव से स्वतन्त्र (a प्रायोराई) है। गणित और प्राकृतिक विज्ञानों की सुनिश्चितता विशुद्ध तर्क द्वारा दिये गए योग का परिणाम है। विभिन्न पदार्थ स्वयं तात्त्विक मन के एक बुनियादी प्रत्यय के, विश्व की एकता और अनिवार्यता के प्रत्यय के, ही विभिन्न रूप हैं। वे विश्व में जो कुछ सत् है उसकी अनिवार्यता और एकता के आधारभूत ज्ञान के व्यक्तिगत निर्धारण हैं। यह ज्ञान अत्यन्त अव्यवहित और अत्यन्त गहरा है। काण्ट की आलोचना का वास्तविक आधार यही चीज़ है, न कि पदार्थों के अतीन्द्रिय निगमन में प्रमाण के रूप में उपस्थित चीज़। ह्यूम ने इस बात से इन्कार किया था कि प्रत्यक्ष या अनुमान से भिन्न भी कोई ज्ञान हो सकता है, इसीलिए उसकी विचार-प्रणाली का सन्देहवाद में अन्त हो गया, जबकि काण्ट की यह मान्यता है कि समस्त अनुभवों में स्वतन्त्र, केवल अपने-आपमें, हम समस्त सत्ता की बुनियादी शर्त को जानते हैं।

दुर्भाग्य से काण्ट का यह विश्वास है कि यह ज्ञान बिल्कुल प्रागनुभव (अनुभव से पूर्व का) है, इसलिए उससे हमें वस्तुओं के ज्ञात रूप का ज्ञान होता है, उनके यथार्थ रूप का नहीं। हम वस्तुओं को सिर्फ उसी सीमा तक जानते हैं जिस सीमा तक वे हमें प्रभावित करती हैं। पदार्थों के भेद से ब्रह्माण्ड की जो तस्वीर हमने अपने सामने बनाई है वह वस्तुनिष्ठ है, यह दावा नहीं किया जा सकता। इस प्रश्न पर काण्ट के कथन में असंगति है, क्योंकि कार्य-कारण सम्बन्ध का 'प्रात्ययिक' नियम स्वयं ज्ञेय वस्तु पर भी लागू होता है और हम यह मानते हैं कि हमारे ज्ञान-रूपी कार्य का कारण वह वस्तु है। वह हमारे विवेक के इस आत्म-विश्वास की उपेक्षा कर देता है कि यह वस्तुओं को उस रूप में जानता है जिस रूप में

१. 'क्रिटीक आफ प्योर रीज़न', दूसरा संस्करण, भूमिका।

वे ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष मे विद्यमान हैं। एकता और अन्योन्य सम्बन्ध स्वय वस्तुनिष्ठ जगत् के लिए भी सही है। कोई सन्देह इस विश्वास को हिला नही सकता। जो कुछ हम जानते है वह हमारी अपनी आत्मनिष्ठता मे उत्पन्न भ्रम नहीं है। हमारा ज्ञान स्वय वस्तुओ का ही हमारे लिए प्रतीपमान रूप है। यह ठीक है कि हम वस्तुओ को कुछ सीमाओ के अन्तर्गत देखते हैं। हमारा ज्ञान प्रामाणिक है, भले ही वह कुछ सीमाओं के अन्तर्गत हो। जब तक हम उन सीमाओं को जानते न हो तब तक हम उन्हे सुधार नही सकते।

दूसरी बात यह कि काण्ट ने यद्यपि यह बात कही है कि प्रकृति इस दृष्टि से हमारे मन की ही रचना है कि विभिन्न पदार्थों का भेद-ज्ञान हमारे ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष की विविधता को सश्लिष्ट करता है, तथापि उसने यह प्रश्न नही उठाया कि हमारे प्रागनुभव आकार हमारे ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष की सामग्री के अनुकूल कैसे होते है। जब तक आत्मा और उसके पदार्थ-भेद एवं अनात्मा यानी प्रकृति का मूल स्रोत एक ही न हो, जब तक हमारे विचार और वस्तुओ के वास्तविक रूप मे एकत्व न हो, तब तक इस सामजस्य और अनुकूल्य की किसी भी तरह व्याख्या नही की जा सकती।

विवेक के प्रत्ययो के सम्बन्ध मे काण्ट का दृष्टिकोण कुछ अपर्याप्त और दोषपूर्ण है। यद्यपि अवबोध का पदार्थ-ज्ञान कुछ ऐसी प्रागनुभव सकल्पनाओ के रूप मे है, जिनके बिना प्रत्यक्ष अनुभव किये जाने वाले प्रपच का कोई ज्ञान सम्भव नही है, तथापि विवेक के प्रत्यय ऐसे ज्ञान है जो मानवी विचार के सम्मुख एक लक्ष्य और आदर्श उपस्थित करते है और उसे यह प्रेरणा देते है कि मनुष्य का ज्ञान अपने प्रति सच्चा तभी हो सकता है जबकि वह उक्त लक्ष्य के अनुकूल और निकट हो। ज्ञान को विधिपूर्वक एक निश्चित पद्धति मे बाँधने के लिए बुद्धि का प्रयत्न विवेक के प्रत्ययो से निर्देशित होता है। आनुभविक जगत् मे ऐसी कोई भी वस्तुएँ नही है जो उन आदर्शों मे मुक्त हो, इसीलिए वे आदर्श हमेशा अपूर्ण ही रह जाते है। फिर भी हमसे कहा जाता है कि हम यह मानकर चले कि वैसी आदर्श वस्तुएँ भी ससार मे हैं, अन्यथा हमारे जीवन निरर्थक हो जाएँगे। एक ओर अवबोध का पदार्थ-भेद इसलिए आवश्यक है कि उसके बिना हमे कोई भी ज्ञान नही हो सकता, और दूसरी ओर विवेक के प्रत्यय इसलिए आवश्यक है कि उनके बिना हमारा ज्ञान किसी नियत विधि और प्रणाली मे नही बँधता। काण्ट की दृष्टि मे ये प्रत्यय वर्तमान केन्द्रीय सत्य नहीं है, बल्कि भावी सम्भावनाएँ है। काण्ट की विचार-

प्रणाली में कठिनाई यह है कि वह मानवीय मन की शक्ति को बहुत अपर्याप्त मानता है और उसका मत है कि वह अवबोध के पदार्थ-भेद से आगे बढ़कर इस भेद की तह में अन्तर्निहित एकता को नहीं जान सकती। यह हो सकता है कि बोध के आकार और उनमें सम्बद्ध अमूर्तीकरण हमें वस्तुओं का सत्य ज्ञान न दे सकें, किन्तु यह सम्भव है कि इन प्रत्ययों की व्याख्या काण्ट की भाँति नास्तिकता से रहित केवल नियामक सिद्धान्तों के रूप में न करके, प्लेटो की भाँति समस्त ज्ञान के अन्तर्निहित आधार एवं उपादान और निमित्त कारण के रूप में की जाए। अवबोध की संकल्पनाएँ अमूर्त और आंशिक हो सकती हैं, किन्तु प्रत्यय यथार्थ हो सकते हैं। हम सोपाधिक से उसकी उपाधियों को हटाकर निरुपाधिक का ज्ञान प्राप्त नहीं करते, जैसा कि काण्ट ने अक्सर कहा है, बल्कि हम प्रारम्भ ही निरुपाधिक से करते हैं। समस्त चेतना प्रारम्भ में निरुपाधिक पूर्ण की चेतना होती है, और फिर वह उसके अंगों को सोपाधिक बनाती है। हमें किसी सीमा की चेतना तब तक नहीं हो सकती, जब तक कि हम सीमा से पार की वस्तु के प्रति चेतन न हों। जो वस्तु पूर्णतः सीमित और सान्त है, वह अपने-आपको सान्त या सीमित नहीं जान सकती। निरुपाधिक का प्रत्यय प्रकृति से और सब संकल्पनाओं से अलग किस्म का है और वह उन संकल्पनाओं से नहीं जाना जा सकता। यह विवेक का विशुद्ध प्रागनुभव प्रत्यय है। इसके अतिरिक्त विवेक के प्रत्ययों का ज्ञान कुछ हद तक अनुभव के जगत् में भी होता है। प्रकृति का सौन्दर्य एवं उदात्तता और जीवित वस्तुओं में सोद्देश्यता की जो झाँकी मिलती है, उसमें प्रतीत होता है कि प्रकृति समग्र रूप में विवेक के प्रत्ययों (उद्देश्यों) के अनुसार कार्य कर रही है। आनुभविक सत्यों को हम विवेक या तर्क के पैमानों से नाप सकते हैं। यदि ये प्रत्यय अनुभव को संगठित करने और संकल्पनाओं के मूल्य की परीक्षा करने में सहायता देते हैं, यदि वे विश्व के सम्बन्ध में हमारे विचार को नियन्त्रित और नियमित करते हैं तो निश्चय ही उनमें उच्चतम श्रेणी की यथार्थता है और अनुभव के संसार में, जो कभी उन्हें साकार नहीं कर सकता, वह यथार्थता नहीं हो सकती।[1] यदि सत्य की कसौटी किसी अन्य बाह्य वस्तु के साथ सादृश्य के

१. इस विचार के सम्बन्ध में काण्ट का प्लेटो के प्रत्ययों के सिद्धान्त के साथ समन्वय है, जैसा कि उसने स्वयं कहा है : "(प्लेटो की दृष्टि में) प्रत्यय स्वयं वस्तुओं के मूल नमूने हैं, न कि पदार्थों की भाँति वे महज सम्भावित अनुभव की कुञ्जी हैं। उसकी दृष्टि में ये प्रत्यय उच्चतम विवेक (ईश्वरीय विवेक) से उद्भूत होते हैं और उसी स्रोत से मानवीय

बजाय स्वयं उसकी स्वयपूर्णता और सम्बद्धता ही मानी जाती है तो उसका श्रेय काण्ट के विवेक के प्रत्ययों के सिद्धान्त की मान्यता को कुछ कम नही है। ये विवेक के प्रत्यय बाह्य इन्द्रियो और बुद्धि के सम्मुख प्रकट तथ्यों से अधिक बडी यथार्थता हैं। प्रत्ययो को आकारो की, जिनसे वे काफी आगे बढ जाते हैं, धुँधली झाँकी मानने के बजाय, हम तथ्यो को यथार्थता का, जिसे वे अभिव्यक्त करते हैं, आंशिक प्रतिपादक रूप मान सकते है। काण्ट की दृष्टि मे, विवेक एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा हम अन्तिम या निरुपाधिक सिद्धान्तो को जानते हैं। आनुभविक अर्थ की दृष्टि से अवबोध का जो अभिप्राय है उससे वह भिन्न है। आनुभविक अवबोध की दृष्टि मे विवेक के प्रत्यय केवल प्रत्यय ही है, एक निरुपाधिक की माँग है जो काण्ट के मत मे उन्हे दिया नही जा सकता, हालाँकि उपाधियों के पूर्णतर ग्रहण के लिए विचार का अविरत प्रयत्न चलता रहता है। किन्तु विवेक या तर्क ऐसी शक्ति नहीं है जिसका अन्य शक्तियों के साथ समन्वय हो। वास्तव मे विवेक या तर्क का अर्थ है समस्त मन का, एक अविभाज्य मौलिक शक्ति का, जिससे शेष सब शक्तियाँ प्रस्फुटित होती है, सक्रिय होना। इस कथन का, कि ईश्वर का प्रत्यय तर्क की उपज है, अर्थ यह है कि वह मानव के गम्भीरतम जीवन का परिणाम है, व्यक्ति की समस्त प्रकृति की यथार्थ सत्ता के स्वरूप पर प्रतिक्रिया है। जब मनुष्य की सम्पूर्ण सत्ता की वस्तुओ की सम्पूर्ण प्रकृति के साथ टक्कर होती है तो उसे अपने प्रश्न का जो उत्तर मिलता है वह ईश्वर ही है। यदि हमारी तर्क की शक्ति हमे प्रपचात्मक जगत् से किसी ऊँचे जगत् का, किसी ऐसी वस्तु का. जो किसी कारण का कार्य नही है, बल्कि स्वयं सभी कार्यों का मूल कारण है, ज्ञान देती है और यदि वह इस ज्ञान को ईश्वर, मुक्ति और अमरत्व के प्रत्ययो का आकार प्रदान करती है, तो इसका अर्थ यह है कि ये प्रत्यय मन

विवेक ने उन्हें प्रदान किया है। वह इस बात को स्पष्ट अनुभव करता है कि हमारी ज्ञान की शक्ति के लिए इन प्रत्ययों को एक अनुभव की तरह जानने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि वह प्रतीयमान वस्तुओं को एक संश्लिष्ट ऐक्य के रूप में प्रस्तुत कर सके, बल्कि उसे इससे भी अधिक की आवश्यकता है। वह यह जानता था कि हमारा विवेक स्वभावतः ऊँचा उठकर अपने-आपको ज्ञान के ऐसे आकारों में ले जाता है जो अनुभव की सीमा से इतना परे हैं कि कोई भी आनुभविक वस्तु उन आकारों के सदृश नहीं होती। फिर भी इन आकारों को यथार्थ माना जाना चाहिए और वे किसी भी तरह महज कल्पना मात्र नहीं हैं।' (नार्मन केम्प स्मिथ: ए कमेंटरी टु काण्ट्स 'क्रिटीक आफ प्योर रीज़न', द्वितीय संस्करण, (१९२३), पृष्ठ ४४७)।

की सरचना के ताने-बाने मे ही बुने हुए हैं। ये प्रत्यय आत्मनिष्ठ कल्पनाएँ नहीं है, और न आचार-शास्त्र के आधारभूत स्वीकृत तथ्य हैं, बल्कि वे मन के आवश्यक फल हैं जो उसके सप्राण मूल उत्स मे उद्भूत होते हैं। वे तार्किक ज्ञान की वस्तु नहीं हैं, बल्कि अन्तर्ज्ञान मे प्राप्त सुनिश्चित बोध हैं। काण्ट के उत्तरवर्तियो ने यह अनुभव किया कि सत्ता या वस्तुनिष्ठ ज्ञान वह है जिसे विचार स्वय अपनी प्रकृति मे ही सोचने को विवश होता है। जो कुछ सोचने के लिए हम विवश होते हैं वह यथार्थ होता है। हेगेल जब यह कहता है कि यथार्थ ही तर्कसगत है तो वास्तव मे वह इस महत्त्वपूर्ण सत्य को ही कहता है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि हेगेल का तर्क शब्द मे जो अभिप्राय है वह काण्ट के तर्क के अर्थ से, अर्थात् उस शक्ति से भिन्न है, जिसमे हमे व्यावहारिक और क्रियात्मक, दोनो प्रकार के निरुपाधिक मूल सिद्धान्तो का ज्ञान होता है। यदि यथार्थ सत्ता का अभिप्राय ऐसी वस्तु से हो जो देश और काल की दृष्टि से वास्तविक है, तो ईश्वर यथार्थ नहीं है; किन्तु यदि यथार्थ सत्ता का अभिप्राय वह वस्तु या सत्ता है जिसे विचार समस्त सत्तावान वस्तुओ, मन एव उसके ज्ञेय पदार्थों मे कार्य करने वाली तथा उन्हें परस्पर मिलाकर एक सन्तोषजनक ब्रह्माण्ड का रूप देने वाली मूल वस्तु मानने के लिए बाध्य है, तो ईश्वर यथार्थ सत्ता है। ईश्वर और नैतिक नियम दोनो का सुनिश्चितता के एक ही क्षेत्र मे सम्बन्ध है, हालांकि वे प्रेक्षित तथ्य नहीं हैं। जब काण्ट ईश्वर को सिद्ध करने के लिए दिये गए प्रमाणो के विरुद्ध यह कहता है कि किसी वस्तु का प्रत्यय ही उसके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है, कि आहार्यगुणी (इमीडेंटल) मे आवश्यक या अनिवार्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता, और कि भौतिक धर्मशास्त्रीय प्रमाण उपर्युक्त दोनो प्रकार के प्रमाणो के विरुद्ध है, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि हम ईश्वर की यथार्थता को प्रमाणित नहीं कर सकते। उच्चतम प्रत्यय न तो प्रत्यक्ष मे प्राप्त किया जा सकता है और न तर्क मे सिद्ध किया जा सकता है, बल्कि वह आत्मा के गुह्य स्थान मे स्थापित है और उसकी प्रामाणिकता आत्मा के अपने-आपमे विश्वास के तर्क मे सिद्ध होती है।

१७. हेगेल :

हेगेल का खयाल है कि उसने अपनी दार्शनिक विचारधारा में अन्तर्ज्ञान का कोई उपयोग नहीं किया है। वास्तविकता यह है कि उसने जैकोबी के

अन्तर्ज्ञान सम्बन्धी विचार पर आपत्ति की है और उसका कारण स्पष्टतः यह है कि वह (जैकोबी) उसे शेष मानसिक जीवन से सर्वथा असम्बद्ध अमूर्तकरण (ऐब्सट्रैक्शन) मानता है। जैकोबी का कहना है कि दार्शनिक सत्य को प्रत्ययों के व्यवहित ज्ञान से नहीं, बल्कि अव्यवहित अन्तर्दृष्टि या अपरोक्ष ज्ञान से, जिसे वह विश्वास कहता है, जाना जा सकता है। हेगेल ने जो अपने-आपको सब प्रकार के अमूर्तकरणों का शत्रु कहता था, जैकोबी के विश्वास-सम्बन्धी विचार का विरोध किया।

हेगेल सारे ब्रह्माण्ड को एक सत्ता मानता है। उसकी दृष्टि में समस्त यथार्थ जगत् एक ही आध्यात्मिक आंगिक सत्ता है। वह एकाकी अन्तिम सत्ता निरपेक्ष और निरुपाधिक आत्मा है, जो अपने-आपको साकार करती हुई ऐसे आकारों के रूप में प्रकट होती है, जो स्वयं उससे भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु जो वास्तव में उसी के ऐसे आवश्यक आकार हैं जिनमें से होकर उसकी अन्तिम आत्माभिव्यक्ति होती है। प्रकृति वह प्रक्रिया है जिससे गुजरकर अनन्त आत्मा अपनी पूर्णतम मूर्तता प्राप्त करती है। किन्तु हेगेल इस 'एकता' तक पहुँचता कैसे है? यह निश्चय ही द्वन्द्वात्मक तर्क की खोज नहीं है। हेगेल का दर्शनशास्त्र मूर्त 'एकता' का एक लम्बा द्वन्द्वात्मक प्रतिपादन है, किन्तु द्वन्द्वात्मक तर्क ऐसी पद्धति नहीं है जिससे मनुष्य का मन 'एक' के प्रत्यय तक पहुँच सके। द्वन्द्वात्मक तर्क की पद्धति यह है कि यदि कोई प्रत्यय पहले से विद्यमान हो तो वह उसके फलितार्थ का प्रतिपादन कर दे। किन्तु अनेक सकल्पनाओं को जोड़कर हम 'एक' की भावना की व्याख्या नहीं कर सकते। यदि द्वन्द्वात्मक तर्क से हमें निष्कर्ष के रूप में 'एक' का प्रतिपादन करना हो तो हमें उसे तर्क के आधार-वाक्य में रखना होगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पहले हमें मन से 'एक' को अनुभव करना होगा, तब हम सकल्पनाओं से उसका निर्धारण कर सकते हैं। काण्ट के साथ स्वर मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि बिना पूर्व अन्तर्ज्ञान के कोई उपयुक्त तर्कपूर्ण सकल्पना सम्भव नहीं है। हेगेल की दार्शनिक प्रणाली में 'एक' की यह जो भावना हम उसके केन्द्रीय तत्त्व के रूप में देखते हैं, वह अन्तर्ज्ञान से अनुभव करके प्रकट की गई है, तर्क से सिद्ध करके नहीं कही गई। जब अन्तर्ज्ञान हमें अपने ज्ञान और सत्ता की प्रतीति से परे और पृष्ठभूमि में विद्यमान किसी वस्तु का प्रत्यय प्रदान करता है तो हमारा द्वन्द्वात्मक तर्क ईश्वर, नित्यता, अमरता और स्वर्ग आदि की सकल्पनाओं में एकता की भावना अभिव्यक्त करता है। विलियम जेम्स का यह

कथन हेगेल के सम्बन्ध में एक गम्भीर टिप्पणी है कि 'हेगेल के दर्शन का कौन-सा पाठक इसमें तनिक भी सन्देह कर सकता है कि उसकी समूची दार्शनिक विचारधारा में एक पूर्ण सत्ता की, जिसमें अपने से भिन्न समस्त इतरत्व आत्मसात् हुआ है, जो भावना छाई है वह अवश्य ही उसके रहस्यमय अनुभवों की चेतना में पैदा हुई होगी।'[1] स्वयं हेगेल ने भी कुछ स्थानों पर यह बात स्वीकार की है।[2] अन्तर सिर्फ इतना ही है कि उसमें धार्मिक अन्तर्ज्ञानों को केवल काल्पनिक मानने की प्रवृत्ति है। धर्म और दर्शन दोनों का ही विषय यद्यपि एक ही वस्तु अर्थात् अन्तिम यथार्थ सत्ता है, तो भी धर्म हमें उसका कल्पनात्मक रूप प्रदान करता है जबकि दर्शन में हमें उसकी स्पष्ट अवधारणाएँ मिलती हैं। कल्पनात्मक रूप स्पष्ट अवधारणाओं से पहले प्राप्त होते हैं। 'कालिक दृष्टि से देखा जाए तो मन वस्तुओं की स्पष्ट अवधारणाएँ बनाने से काफी पहले ही उनके सामान्य बिम्ब बना लेता है।'[3] दार्शनिक ज्ञान ज्ञात वस्तु के लिए अधिक पर्याप्त कहा जाता है। हमें इस बात से इन्कार करने की आवश्यकता नहीं है कि धार्मिक अनुभव विशुद्ध रूप से बौद्धिक ही नहीं होता। उसके साथ भावना और कल्पना के तत्त्व भी मिले रहते हैं। हम यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि इस प्रकार के अनुभव में यथार्थ वस्तु प्रतीकों और चित्रों के रूप में प्रकट होती है। किन्तु इन सब बातों से यह सिद्ध नहीं होता कि धार्मिक ज्ञान किसी भी कदर दार्शनिक ज्ञान से कम सच्चा होता है। वह हमें ऐसा सत्य प्रदान करता है जिसका विश्लेषण और

1. वैराइटीज आफ रिलीजियस एक्सपीरियेन्स (१६०६), पृष्ठ ३८६।
2. धर्म की दर्शन से तुलना करते हुए हेगेल ने लिखा है, 'दर्शन का काम किसी व्यक्ति में धार्मिक भावना पैदा करना नहीं है। इसके विपरीत यह माना जाता है कि धार्मिक भावना हरेक व्यक्ति में पहले से ही बुनियादी तौर पर विद्यमान होती है। जहाँ तक मनुष्य की सात्त्विक प्रकृति का सम्बन्ध है, उसमें किसी भी नयी वस्तु का समावेश नहीं किया जा सकता। ऐसा प्रयत्न करना वैसा ही निरर्थक और मूर्खतापूर्ण होगा जैसा कि किसी कुत्ते को पुस्तक के छपे हुए कागज दिखाकर यह आशा करना कि इससे वह बुद्धिमान और मनीषी बन जाएगा। जिसने अपनी आध्यात्मिक दिलचस्पियों को इस अस्थिर और शान्त जगत् के हल्ले गुल्ले से ऊपर नहीं उठाया है, जिसने उच्च आकांक्षाओं एवं आशाओं से और नित्य सत्ता की अनुभूति से अपने-आपको इस जीवन से ऊपर उठाने में सफलता प्राप्त नहीं की है, और जिसने अभी तक आत्मा के शुद्ध तत्त्व पर दृष्टिपात नहीं किया है, उसमें वह तत्त्व विद्यमान नहीं है जिसका बोध प्राप्त करना हमारा यहां लक्ष्य है।' (फिलॉसफी आफ रिलिजन, अंग्रेजी अनुवाद, (१८६५), भाग १, पृष्ठ ४)।
3. लॉजिक आफ हेगेल वैलेस का अंग्रेजी अनुवाद (१८७४), पृष्ठ १।

स्पष्टीकरण दर्शन करते है। यदि अन्तर्ज्ञान केवल भावनात्मक अनुभूति हो, अविकल ज्ञान न हो, तो वह हमे सत्य प्रदान नही कर सकता। किन्तु जैसा कि स्वय हेगेल ने कुछ स्थानो पर कहा है, यदि वह सृजनात्मक अन्तर्ज्ञान है, जिसे ठीक नपी-तुली सकल्पनाओ ने प्रकट नही किया जा सकता और जिसे अपने-आपको व्यक्त करने के लिए प्रतीको और बिम्बो की आवश्यकता होती है, तो उसका स्पष्ट अर्थ है कि धर्म मे विश्व-आत्मा मूर्त रूप मे प्रकट होती है और दर्शन मे केवल अमूर्त रूप मे। दर्शन का कार्य सृजनात्मक के बजाय व्याख्यात्मक है। यदि लोक-*प्रिय धर्म साहित्यिक आकारो का स्थान प्रतीकात्मक आकारो को देता है तो* वह मिथ्या है, और यदि दर्शन यह मान लेता है कि वह आध्यात्मिक खोज के लिए अन्तिम लक्ष्य का प्रतिपादन करता है तो वह भी मिथ्या है। दर्शन जिस रूप मे यथार्थ को ग्रहण करता है वह यथार्थ वस्तु के सच्चे रूप को उतना अभिव्यक्त नहीं करता जितना कि वे आकार करते हैं जिनमे धार्मिक अन्तर्ज्ञान प्रकट होते है। अविकल और अखण्ड ज्ञान मे ही मनुष्य की आत्मा अपने उच्चतम विकास की स्थिति मे पहुँचती है। इसके अतिरिक्त हेगेल ने यह तर्क दिया है कि यह खयाल करना कि केवल *दर्शन से ही हमे ईश्वर की यथार्थता निश्चय हो सकती है,* ऐसा ही है जैसा कि यह सोचना कि आहार तब तक नही हो सकता जब तक कि हमे अपने भोजन के रासायनिक, वानस्पतिक और प्राणिविज्ञान-सम्बन्धी गुणो का ज्ञान न हो जाए, या यह सोचना कि हमे खाये हुए आहार का आमाशय मे पाचन तब तक स्थगित कर देना चाहिए जब तक कि हम आमाशय की रचना और क्रिया का अध्ययन पूर्ण न कर ले।'[1] यह स्पष्ट है कि अपने ईश्वर-ज्ञान के सजीव तत्त्व के लिए हमे धार्मिक अनुभव की शरण लेनी पडेगी और तर्क तथा दर्शन सिर्फ हमारे अन्तर्ज्ञान का स्पष्टीकरण करते है।

यह पर्याप्त स्पष्ट है कि महान् दार्शनिकों ने मूल सिद्धान्तो को विश्वास का विषय माना है, तर्क का नही। ये सिद्धान्त न तो ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष से प्राप्त होते है और न तर्क की सामान्य प्रक्रिया से। उनके सम्बन्ध मे हमारा दृढ निश्चय तभी होता है जब हम उन्हे अपने समस्त ज्ञान के सामान्य आधार के रूप मे स्वीकार करते है। प्लेटो के मूल नमूने के प्रत्यय और काण्ट के प्रागनुभव ज्ञान, दोनो ही अन्तर्ज्ञानात्मक प्रज्ञा की अन्तर्वस्तु और मानवीय ज्ञान की उपाधियाँ हैं। वे यह सूचित करते हैं कि हमारे भीतर एक विश्वात्मा कार्य कर रही है, जो

१. लॉजिक ऑफ हेगेल, वैलेस का अंग्रेजी अनुवाद (१८७४), पृष्ठ ३-४।

एक ऐसा नित्य ज्ञाता है जिसकी मानवी मन में उपस्थिति के बिना समस्त संवेदनात्मक अनुभूतियाँ अन्धी और समस्त सकल्पनाएँ ऊसर होंगी। अन्तर्ज्ञान, विश्वास, आध्यात्मिक अनुभव, या धार्मिक दर्शन की भाषा में धर्मग्रन्थों का प्रामाण्य—ये सभी ज्ञान और जीवन के लिए आवश्यक है।

५. मनुष्य की अध्यात्म-चेतना

१. अन्तर्ज्ञान और वैज्ञानिक प्रतिभा :

समस्त उच्च चिन्तन और उच्च जीवन की जडे स्वयं जीवन मे गहरी गयी हुई है, उनका उद्गम निरे तर्क के शुष्क प्रकाश से नही हुआ। विज्ञान और दर्शन, कला और जीवन—सभी मे समस्त सृजनात्मक कार्य का प्रेरणा-स्रोत अन्तर्ज्ञानात्मक अनुभव है। यद्यपि अन्तर्ज्ञानात्मक बोध हम सभी को है और हम सभी कुछ-न-कुछ उसका उपयोग भी करते है, तो भी कुछ असाधारण मनो में वह बहुत अधिक विकसित रूप मे होता है। अन्तर्ज्ञानाश्रित जीवन अर्थात् उच्चतम आध्यात्मिक जीवन एक ऐसी उपलब्धि है जिसका सम्बन्ध उच्चतम श्रेणी के मानसिक जीवन से है। विज्ञान की महान् खोजो का श्रेय सृजनात्मक चिन्तकों की आविष्कार-प्रतिभा को है, न कि बुद्धि की भारी-भरकम प्रक्रियाओं को। बौद्धिक प्रक्रियाएँ हमे अधिक सूक्ष्म और सही नाप-तोल दे सकती है, सुप्रतिष्ठित सिद्धांतों को अधिक विस्तृत रूप मे प्रदर्शित और सिद्ध कर सकती हैं, किन्तु अकेले उनसे हमे वे महान् खोजे प्राप्त नही हो सकती जिन्होने विज्ञान को इतना आश्चर्यजनक बना दिया है। सृजनात्मक कार्य का अर्थ अन्ध अनुकरण या यान्त्रिक पुनरावृत्ति ही नही है। सश्लेषणात्मक अन्तर्दृष्टि ही लम्बे डग भरकर आगे बढती है। एक नया सत्य, जो उस समय तक सर्वथा अज्ञात था, जो अपनी अद्भुतता के कारण विस्मयकारी है, सम्बद्ध समस्या मे एकाग्रचित्तता के कारण सहसा स्वतःस्फूर्त होकर आविर्भूत होता है। जब हम उस नियन्त्रक प्रत्यय को प्रकाश मे देखते है तो असमन्वित और सामजस्यहीन विस्तार की एक विपुल सम्पदा एक नियत क्रम और व्यवस्था मे बँध जाती है और एक पूर्ण 'एक' के रूप मे प्रकट होती है। प्रतिभा का अर्थ है सत्य के प्रति अत्यधिक सवेदनशीलता। वैज्ञानिक आविष्कार नये सत्य के अनुसन्धान के मामले मे कलात्मक सृजन के समान ही है। टिण्डाल ने फैरेडे की विद्युच्चुम्बक-सम्बन्धी कल्पनाओं के बारे मे कहा था, 'बहुत सी

उलझनों और अन्धकार के बीच में हमें आश्चर्यजनक अन्तर्दृष्टि की विद्युत् की चमक भी दिखायी देती है, जो अन्तर्ज्ञान की अपेक्षा तर्क की उपज कम प्रतीत होती है।' गणित का कोई नया नियम भी वैसे ही स्वतःस्फूर्त *अन्तर्ज्ञान* है जैसे कि मोजार्ट की कोई नयी मशीन-रचना। आरी प्वाकारे ने अपनी पुस्तक 'साइंस एण्ड मैथड' में गणित-सम्बन्धी अनुसन्धानों के बारे में एक अध्याय दिया है, जिसमें उसने कहा है कि उसके अपने गणित-सम्बन्धी अनुसन्धान न्यूनाधिक कलात्मक अन्तर्ज्ञान ही हैं। उसने कहा, 'यह बात आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकती है कि गणित-सम्बन्धी सिद्धियों के मामले में भी, जो आम तौर पर केवल बुद्धि की ही दिलचस्पी की चीज प्रतीत होती हैं, संवेदनशीलता की बात कही जाए। किन्तु यदि हम अंकों और रेखागणितीय सौन्दर्य वाले आकारों के ऐक्य और परस्पर आनुकूल्य की गणित-सम्बन्धी खूबसूरती को अपने ध्यान में रखें तो यह बात आश्चर्य की नहीं लगेगी। वास्तव में गणित में एक वास्तविक सौन्दर्य-बोधात्मक अनुभूति होती है जिसे सब सच्चे गणितशास्त्री अनुभव करते हैं।...अंकों और रेखाओं के उपयोगी मेल ही सबसे अधिक सुन्दर होते हैं।'[1]

जब धुँधले तथ्यों का कोई क्षेत्र एकाएक जगमगा उठता है, जब उसमें सहसा आलोक पैदा हो जाता है तो उस आलोक के लिए हम किसके निकट ऋणी

1. पृ० ५८, अंग्रेजी अनुवाद, श्री नाटहम कहते हैं : 'ऐसा प्रतीत होता है कि इस सत्य को पूरी तरह से *हृदयंगम और स्वीकार नहीं किया गया है* कि वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्ता अपने कार्य के अधिक समय तर्क भिन्न साधनों से काम करता है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि गवेषणा की एक नैसर्गिक वृत्ति भी होती है और अक्सर सफलतम वैज्ञानिक अनुसन्धानकर्ता भी यह नहीं बता पाते कि उन्होंने अमुक परीक्षण किस कारण से किया, या क्यों उन्होंने दो परस्पर असम्बद्ध प्रतीत होने वाले तथ्यों को परस्पर निकट रखा। सफल वैज्ञानिकों के चरित्र में एक और विशिष्ट लक्षण पाया जाता है और वह यह कि जब विशुद्ध तार्किक दृष्टि से कार्य करने वाली बाह्य बुद्धि को कोई बात सिद्ध हुई प्रतीत नहीं होती तब भी वह अपने अन्तर्ज्ञान से यह जान लेगा कि उक्त बात सिद्ध हो गई है। इस प्रकार अनुसन्धानकर्ता यह अनुभव कर लेता है कि कोई बात सही है और तुरन्त ही वह नये परीक्षण प्रारम्भ कर देता है और उस सिद्ध सत्य को विस्तार से औपचारिक रूप में प्रमाणित करने के लिए प्रतीक्षा और समय की बरबादी नहीं करता, जबकि अधिक स्थूल मन वाले लोगों को पहले उसे सिद्ध करने की आवश्यकता होगी।' (दि क्रिटिकल बायोलोजिस्ट (१६२६), पृ० ८०)। इसी पुस्तक में यह भी कहा गया है, 'वैज्ञानिक कार्यकर्ता काफी हद तक अचेतन रूप में काम करता है, उसी तरह जैसे कि मूँगे बनाने वाले कीड़े अचेतन रूप से अपना कार्य करते हैं।' (पृ० ८१)

होते हैं ? उस आलोक का कारण धैर्यपूर्वक कुछ नये तथ्यों का संकलन उतना नहीं होता जितना कि पहले से ही सुविज्ञात तथ्यों मे एक नये अर्थ का प्रतिभासित हो जाना होता है। न्यूटन ने जिस दिन गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त का आविष्कार किया उसी दिन सेब पहले-पहल वृक्ष से नीचे नही गिरा था, बल्कि सेब तो न जाने कितने समय से वृक्ष से गिरते आ रहे थे। प्रतिभा तथ्यो को, जो सामान्य अवबोध को पृथक्-पृथक् और असम्बद्ध प्रतीत होते है, परस्पर बाँधने वाले अन्तर्निहित अर्थ को अपनी अन्तर्भेदी दृष्टि से देख लेती है। गतिशील और सक्रिय सिद्धान्त को अन्तर्ज्ञान से ग्रहण करने की क्षमता से ही मनुष्य-तथ्यों को सफलतापूर्वक एक सगठन मे ग्रथित कर सकता है। बेर्गसा ने इस समस्या पर विचार करते हुए कुछ सुझाव दिये है। आम तौर पर यह समझा जाता है कि वैज्ञानिक आविष्कार सकल्पनात्मक संश्लेषण के परिणाम हैं, अर्थात् मूर्त्त विश्लेषण से प्राप्त सकल्पनाओ को परस्पर जोड़कर या बाह्यतः एक-दूसरे के निकट रखकर ही हम वैज्ञानिक निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। इस विचार का समर्थन दो आधारो पर किया जाता है। कोई भी व्यक्ति, जो अमूर्त विश्लेषण से परिचित नही है, तार्किक अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं कर सकता। अन्तर्दृष्टि तब तक पैदा नही हो सकती, जब तक कि हम सम्बद्ध मामले के तथ्यो, व्याघातो और बुद्धि से उद्भूत अर्थ-विचारो से परिचित न हो। अन्तर्ज्ञान के सफल उपयोग के लिए बहुत बड़ी सख्या मे तथ्यो और नियमो का पहले से अध्ययन करना और उन्हे आत्मसात् करना पड़ता है। हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि महान् अन्तर्ज्ञान तार्किकता के गर्भ से पैदा होते हैं। दूसरी बात यह है कि जब कोई खोज या आविष्कार किया जाता है तो हम देखते हैं कि उसमे कुछ ऐसी आशिक सकल्पनाओ के लिए भी गुन्जाइश होती है जो इस आविष्कार के पहले से ही विद्यमान होती है, बशर्ते कि उनमे कुछ थोडा-बहुत हेर-फेर और सामजस्य किया जा सके और उनकी कुछ पुनर्व्याख्या की जा सके। यह पुन· सामजस्य इतना आसान होता है कि अन्तर्दृष्टि प्राप्त होने पर पता भी नही चलता कि वह कैसे हो गया और हम यह कल्पना करने लगते हैं कि खोज और आविष्कार की प्रक्रिया सिर्फ बौद्धिक संश्लेषण ही है। तीसरी बात यह है कि आविष्कार को जो अन्तर्दृष्टि प्राप्त होती है, उसे दूसरों को बताने के लिए वह बौद्धिक सश्लेषण के रूप मे प्रस्तुत करता है। तार्किक युक्ति ही मान्यता को सुदृढ बनाती है और उसी से दूसरोंको औसत से अधिक सवेदनशील लोगों के अन्तर्ज्ञानो को समझने मे सहायता मिलती है। एक बार जब कोई ज्ञान प्राप्त हो

जाता है तो उसे तर्कपूर्ण और सयुक्तिक आकार अवश्य दिया जाना चाहिए, और उसके लिए हमें *तर्कशास्त्र की भाषा को अपनाना पड़ता है,* क्योंकि तर्कशास्त्र की भाषा ही ऐसी भाषा है जिसमें कोई बात किसी को समझाई जा सकती है। जब आविष्कार या खोज को आकारिक तर्क के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तब आविष्कार और उसके प्रमाण गड़बड़ा जाते हैं। प्रमाण क्योंकि सकल्पनात्मक सश्लेषण के रूप में होता है, इसलिए खोज को भी सकल्पनात्मक सश्लेषण ही समझ लिया जाता है। आविष्कार की कला को भूल से प्रमाण का तर्क और युक्ति-प्रतियुक्ति समझ लिया जाता है और उसका परिणाम यह होता है कि विचार की अधिक गहरी गतियों का हम कृत्रिम रूप से अत्यधिक सरलीकरण कर लेते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि हम आविष्कार अन्तर्ज्ञान से करते हैं किन्तु उसे प्रमाणित तर्क से करते हैं। व्याख्या की कला मन का एक साहसिक कृत्य है। जब अन्तर्ज्ञान पैदा होता है तो विचार उसे एक आकार प्रदान करता है और उसे दूसरों तक पहुँचाने के योग्य बनाता है। यदि आविष्कार की प्रक्रिया विशुद्ध सश्लेषणात्मक प्रक्रिया होती तो कोई भी व्यक्ति, जो कि पहले की सकल्पनाओं को यन्त्रवत् सचालित कर सकता है, अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकता और उसके लिए किसी प्रतिभा की आवश्यकता न होती। बाह्य बौद्धिक सश्लेषण में हम तथ्यों का एक अधिक व्यापक अध्ययन कर सकते हैं, एक अधिक व्यापक नियम बना सकते हैं, एक अधिक पूर्ण विचार प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु बुद्धि के द्वारा अध्ययन में सृजनात्मक प्रत्यय प्राप्त नहीं किया जा सकता। सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि तर्क की शृङ्खला में अन्तिम कड़ी नहीं है। अगर वह अन्तिम कड़ी होती तो हमें वह अपने मूल रूप में *'स्फुरित' प्रतीत न होती।*[1] *प्रतिभा का स्फुलिंग ही ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित* करता है और उसे जलाए रखता है। बुद्धि सिर्फ उसके लिए आवश्यक उपकरण प्रदान करती है। ये उपकरण कीमती अवश्य हैं, किन्तु वे स्वयं ज्ञान नहीं हैं। अन्तर्ज्ञान कोई सश्लेषण या सरचना नहीं है। बाह्य सश्लेषण और आभ्यन्तर स्फुरणा में, कच्ची सामग्री और तैयार उत्पादन में, पहले से ही प्रकृत्या प्राप्त सामग्री और ऊपर से थोपी गई वस्तु में अन्तर है। जब आविष्कारक के मन में

१. तुलना कीजिए : सर लेस्ली स्टीफन, "प्रतिभा वहाँ प्रारम्भ होती है जहाँ तर्कबुद्धि का अन्त होता है। प्रतिभा तूफान की तरह सहसा आती है, जबकि तर्कबुद्धि आहिस्ता-आहिस्ता वैज्ञानिक पद्धति के नियमों के अनुसार कदम बढ़ाती है। प्रतिभा सत्य को देखती है और तर्कबुद्धि उसे सिद्ध करती है।" *(आवर्स इन ए लाइब्रेरी, भाग ३)।*

अन्तर्दृष्टि पैदा होती है तो उसमें मूल प्रत्ययों के रूप में पहले से पृथक्कृत गुण तथा ऐसे बहुत से गुण, जिनकी ओर पहले ध्यान नहीं गया होता, एक होकर विद्यमान होते हैं। प्रत्यय समस्त आकारों और तर्कवाक्यों से ऊपर होता है। वह गहरे अनुभवों से उत्पन्न होता है।

आविष्कार और खोज के कामों के लिए कभी-कभी कल्पना को उत्तरदायी ठहरा दिया जाता है।[1] कल्पना-शक्ति के द्वारा हमें प्राक्कल्पनाएँ सूझती हैं जो हमें विविक्तदत्त सामग्री को संश्लिष्ट कर उससे एक पूर्ण का निर्माण करने में सहायता देती हैं। प्राक्कल्पना ज्ञान के क्षेत्र में वृद्धि का मूलतत्त्व है। एक प्राक्कल्पना का निर्माण कर हम ऐसी स्थितियों का विचार करते हैं जिनका वास्तविक अस्तित्व होना आवश्यक नहीं है। हम अस्तित्वहीन स्थिति की कल्पना करते हैं और उसके कुछ विकल्पों की भी समीक्षा करते हैं। मन की ऐसी अभिवृत्ति, जिसमें प्रकृत चिन्तन की क्रिया को खत्म कर, सम्भावित वैकल्पिक स्थितियों की कल्पना की जाती है, स्पष्टतः कल्पना की अभिवृत्ति प्रतीत होती है। क्रोचे का कहना है कि प्राक्कल्पनाएँ करने वाली क्रिया और कलात्मक कल्पना एक ही चीज हैं। किन्तु एक ऐसी प्राक्कल्पना, जो हमें एक नया आलोक प्रदान करती है, निरी अनियन्त्रित कल्पना की उड़ान का परिणाम नहीं हो सकती। ऐसी कल्पना, जो अन्तर्ज्ञान से अनुप्राणित नहीं है, जो निरा दिवास्वप्न है, अनुमान-मात्र है, वह हमें किसी आकस्मिक संयोग से भले ही कभी सत्य का प्रकाश प्रदान करे, सामान्य रूप में हमें सत्य नहीं दे सकती। निरे अनुमान में, जो कल्पना की उपज है, और अखण्ड ज्ञान या अन्तर्ज्ञान में अन्तर है। जो यह कहते हैं कि प्राक्कल्पनाओं का निर्माण कल्पना करती है, वे वास्तव में यह कहना चाहते हैं कि प्राक्कल्पनाओं का निर्माण हमारे मन के संबोधक अंग का कार्य है, न कि विश्लेषक बुद्धि का। अन्तर्दृष्टि किसी समस्या के समाधान के रूप में पैदा नहीं होती, बल्कि किसी सत्य की अनुभूति के रूप में पैदा होती है।

यह ठीक है कि अन्तर्ज्ञान, जो कि व्यक्ति की समस्त सत्ता की क्रिया है, बौद्धिक प्रयत्न के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु यह भी ठीक है कि वह निरे बौद्धिक प्रयत्न का परिणाम नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तर्ज्ञानात्मक स्फुरण से पूर्व कुछ बौद्धिक निष्क्रियता जरूरी है। हमारे मन के बुद्धीतर,

१. प्रोफेसर व्हाइट हेड अन्तर्दृष्टि और कल्पनात्मक परीक्षण को पर्यायवाची शब्दों के रूप में व्यवहार करते हैं। (प्रोसेस एण्ड रियलिटी (१६२६), पृ० ५-६)।

किन्तु तार्किक, अंग को वस्तु पर पूरी तरह क्रीड़ा करने देने के लिए कुछ विश्राम की आवश्यकता होती है। *सृजनात्मक कृति के लिए जितनी मन की एकाग्रता* आवश्यक होती है, उतना ही मन का विश्राम भी जरूरी होता है। जब हम किसी वस्तु पर प्रभावकारी ढंग से ध्यान केन्द्रित करते है और उसकी बहुत सी विस्तार की बातों और बारीकियों पर ध्यान से विचार करते हैं तब ऐसा प्रतीत होता है कि हम अपने विचार के मूल बिन्दु से बहुत दूर नहीं गये हैं। हमें अपनी बुद्धि की कृषि-भूमि को कुछ समय तक खाली पड़े रहने देना चाहिए ताकि ज्ञेय वस्तु हमारे मानसिक जीवन की मिट्टी की निचली सतह मे भीगी रहे और अपने ऊपर उसकी प्रतिक्रिया को उद्भिन्न और अंकुरित करे। तथ्यों पर अपनी सचेतन शक्तियों के साथ विचार करने के साथ-साथ *यह भी आवश्यक है कि हम अपने शरीर और मन की* समस्त ऊर्जा मे उनके साथ ऐक्य स्थापित करें, क्योंकि समग्र मन ही समग्र वस्तु को ग्रहण करता है। ज्ञेय वस्तुओं का अन्तःसार समग्र मन के आक्रमण का प्रतिरोध नहीं कर सकता और अपने-आपको अनावृत करके रख देता है। मन जब तन्द्रा के साथ विश्राम की स्थिति मे होता है या अर्थहीन वस्तुओं मे डूबा होता है, तब वह किसी नयी वस्तु पर पहुंच जाता है। अन्तर्ज्ञानात्मक प्रत्यय उन गहरी नीरवताओं मे पैदा होता है जो हमारे व्यस्त जीवन की चपल गति मे बाधा पैदा कर देती हैं। उन नीरवताओं में मन आत्मा के साथ रमता है। उसी समय हमारी चेतना पैदा होती है और वस्तु के स्वरूप को सघन रूप मे जानती है। *सत्य भीतर* से आकार धारण करता है और आग से उठने वाले स्फुलिंग की भांति बाहर प्रकट होता है। बुद्धि के विश्राम का अर्थ है समग्र मन की क्रिया, उद्भूत होने वाले महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए व्यक्ति की समस्त सत्ता का जागरण। जब अन्तर्दृष्टि की विद्युल्लेखा चमकती है तो हम उसे सत्य अनुभव करते हैं और यह देखते है कि वह अनबूझ पहेलियों और मन को चकराने वाले विरोधाभासों को ऊपर उठाकर प्रकाश के वातावरण में ले आती है। तब असहाय होकर तुच्छ चीजों और बारीकियों मे भटकने की हमारी स्थिति समाप्त हो जाती है, हमारे सब संशय छिन्न हो जाते है। *सत्य उतना उत्पन्न नहीं किया जाता जितना कि वह अन्तर में* उपलब्ध किया जाता है। यद्यपि हम यह नहीं बता सकते कि उसका उद्गम कहां से है, किन्तु जब एक बार उसका उद्गम हो जाता है तो वह बहुत सरल प्रतीत होता है। यह ठीक है कि इस अन्तर्ज्ञान को पाने के लिए बहुत सी बारीकियों और विस्तार की बातों पर विजय पानी पड़ती है, किन्तु जब वह प्राप्त हो जाता है तो

वह सामान्य अनुभव की भाँति अपरोक्ष और अनायास होता है। विस्तार की बातों और बारीकियों के लिए ध्यान केन्द्रित करने की आवश्यकता होती है, किन्तु अन्तर्ज्ञान के लिए मन की विश्रान्ति की आवश्यकता होती है। आर्कीमीडिस ने अपनी समस्या का समाधान अपने अध्ययन-कक्ष मे नहीं, बल्कि स्नानागार में प्राप्त किया। हेल्महोल्ज का कहना है कि जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, मुझ पर सुखद विचार अनायास ही अन्तःस्फुरणा की भाँति आते हैं। वे मुझे मन की थकान के क्षणो मे या मेज पर बैठकर काम करते हुए कभी प्राप्त नही होते।'[1] अन्तर्ज्ञान का हमसे यह तकाजा होता है कि हम अपनी बुद्धि को निष्क्रिय कर ले। जब धर्मग्रन्थ हमे मन को पूर्ण शुद्ध, शान्त और निश्चल रखने का उपदेश देते है, ताकि हम उस अनाहत नाद को सुन सके जो सब शब्दों का आदिस्रोत है, तब उनका अभिप्राय मन की उस निष्क्रियता और निश्चलता से ही होता है जो उच्चतम ज्ञान के लिए तैयारी होती है।

अन्तर्ज्ञान जीवन की पूर्णता से उद्भूत होने वाले निश्चय है जो स्वतःस्फूर्त होते है। वे बुद्धि या कल्पना के बजाय ऐन्द्रियिक सवेदन के अधिक निकट होते हैं और दोनो से अधिक अनिवार्य भी होते है। उन पर कोई नियन्त्रण नही होता। ऊपर की ओर होने वाली ऊर्ध्वप्रेरणाएँ अचेतन और अनैच्छिक की सृष्टि है। 'आत्मा जहाँ चाहती है वही बहती है और तू यह नही बता सकता कि वह कहाँ से आती है और कहाँ जाती है।' प्रतिभा परिश्रम और प्रयत्न से नहीं बनती। यह देवताओ की देन है। प्लेटो ने, जो स्वय प्रतिभाशाली था, कहा था कि सृजनात्मक विचार एक प्रकार का पागलपन है जो देवताओ द्वारा किसी विशेष उद्देश्य से, जिसे वे ही जानते है, हम नही, मनुष्यो पर भेजा जाता है। उसने कहा था, 'हम ग्रीक लोग अपने महानतम वरदानों के लिए देवताओ के भेजे पागलपन के लिए ऋणी है, क्योकि डेल्फी की धर्मोपदेष्ट्री पैगम्बर और डोडोना की धर्म-प्रचारिकाओ ने अपने पागलपन के क्षणों मे ग्रीस के निवासियो और नगरों का महान् सेवा की है, किन्तु अपने होश हवास और सुध-बुध के क्षणो मे या तो कुछ भी सेवा नही की या की भी तो नाम मात्र की।'[2] सोच-समझकर प्रयत्नपूर्वक कार्य करने

१. रिगनानो . 'दि साइकॉलोजी ऑफ रीजनिंग', अंग्रेजी अनुवाद (१६२३), पृष्ठ २६७-२६८। गैल्टन ने लिखा है, 'प्रतिभा का अर्थ आम तौर पर मन की स्वतःचालित क्रिया होना है, जो इच्छाकृत प्रयत्न से भिन्न वस्तु है। प्रतिभाशाली व्यक्ति में प्रत्यय स्फुरणा की भांति आते हैं बजाय इसके कि वह स्वय अपने-आपको गति दे, गति स्वय उसे धकेलती है।' (इंग्लिश मैन ऑफ साइन्स, 'देयर नेचर एण्ड नर्चर (१८७४), पृष्ठ २३३)।

२. फाद्रस, २४४।

वाला ऐसा बुद्धिजीवी भी, जो अन्तर्ज्ञान से शून्य है, विचार की दुनिया के लिए बहुत उपयोगी है, किन्तु प्रतिभाशाली व्यक्ति उससे भिन्न और ऊँचे स्तर पर है। उसके सन्देश आत्मा की गहराइयों में आकार और रूप धारण करते हैं।

प्रतिभा या अन्त:स्फुरणा कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो पहले हमें अपनी तर्क-बुद्धि से रहित कर देती है, और फिर हम पर हावी हो जाती है। प्रतिभा हमारी समस्त चेतना का निष्कर्ष होती है, इसलिए वह अबौद्धिक नहीं होती। जब प्रतिभा या प्रज्ञा उद्बुद्ध होती है तो उसे तर्क और बुद्धि से सिद्ध करके दिखाया जा सकता है और दिखाया भी जाना चाहिए। अन्तर्ज्ञान विचार की जगह नहीं ले सकते, बल्कि वे बुद्धि के लिए चुनौती हैं। निरा अन्तर्ज्ञान अन्धा होता है और निरा बौद्धिक चिन्तन भी खोखला होता है। सभी प्रक्रियाएँ अंशतः अन्तर्ज्ञानात्मक और अंशतः बौद्धिक होती हैं। दोनों के बीच में कोई खाई नहीं है। कट्टर वैज्ञानिक भी, जो यह समझता है कि वह तथ्यों से परे नहीं जाता, अनजाने में अन्तर्ज्ञानी होता है। अन्तर्ज्ञान समस्त चिन्तन का आधार है। यद्यपि वह स्वयं मूक और स्पष्ट होता है तो भी वह समस्त तर्क को जन्म देता है। प्रत्येक तार्किक प्रमाण में बौद्धिक एकता की एक पकड़ होती है, विभिन्न चरणों से थामे हुए समग्र पूर्ण का अन्तर्ज्ञान होता है। केवल सृजनात्मक अन्तर्दृष्टि में ही नहीं, बल्कि किसी भी वस्तु के सामान्य अवबोध में भी यही प्रक्रिया अन्तर्निहित होती है। समस्त सक्रिय चिन्तन निरे बिम्बों और संकल्पनाओं के समग्रथन से भिन्न चीज है। अन्तर्ज्ञात प्रत्यय तथ्यों के संकलन की सारी प्रक्रिया—उन पर विचार, धीरे-धीरे तनाव में वृद्धि, एकाएक तनाव में शिथिलता और उसके बाद संकल्पनाओं और निर्णयों के विस्तार से बारीकियों पर धीरे-धीरे और जमकर अधिकार—में सक्रिय रहते हैं। चिन्तन के किसी भी ठोस मूर्त कार्य में मन का सक्रिय अनुभव अन्तर्ज्ञानात्मक और बौद्धिक दोनों प्रकार का होता है।[1]

१. तुलना कीजिए : आरी प्वाकारे, 'ऐसा कभी नहीं होता कि अचेतन कार्य हमें एक लम्बी गणना का बना बनाया तैयार परिणाम दे दे, जिसमें हमारा काम सिर्फ बंधे-बंधाए नियमों को लागू करना ही रह जाए''' इन अन्त-स्फुरणाओं से, जो अचेतन कार्य का परिणाम प्रतीत होते हैं, हम सिर्फ वही चीजें पाने की आशा कर सकते हैं जो हम बंधी बंधाई गणना से भिन्न हों। जहाँ तक इन गणनाओं का सम्बन्ध है, वे अन्तःस्फुरणाओं के बाद चेतन कार्य में की जानी चाहिएँ और उनमें अन्तःस्फुरणाओं के परिणामों की पुष्टि और उनसे निष्कर्षों की प्राप्ति की जानी चाहिए।' (साइंस एण्ड मैथड, अंग्रेजी अनुवाद (१९१३), पृष्ठ ६२ ६३)।

इस प्रकार हम देखते है कि प्राचीन लोग फिलॉसफी को 'दर्शन' शब्द से जो अभिहित करते थे, वह ठीक था। फिलॉसफी को एक ऐसी बौद्धिक शिक्षा मान लेना, जिसका सम्बन्ध अत्यधिक अमूर्त प्रत्ययो से हो, जीवन के साथ उसकी संगति को खत्म करना और उसे उससे दूर ले जाना है। यद्यपि इस बात पर बल देना आवश्यक है कि दार्शनिक को अपने आवेशो से अपने चिन्तन को विक्षुब्ध नही होने देना चाहिए, तो भी कोई ऐसा व्यक्ति दार्शनिक नही बन सकता जिसका तर्केतर पक्ष भली भाँति विकसित न हो। यदि आज दार्शनिक पहले की भाँति प्रभावशाली नही है तो उसका यह भी कुछ कम कारण नही है कि वे ऐसी गहरी और दुरधिगम्य समस्याओ के विशेष अध्ययन मे रत है जो सामान्य व्यक्ति की समझ से परे हैं। वे अमूर्त सकल्पनाओं को तार्किक विश्लेषण के औजारो से उलटते-पुलटते है। जो दर्शन किसी समय ज्ञान की साधना था, वही आज एक टेकनीक बन गया है। यद्यपि दर्शन एक विचार-प्रणाली है, तथापि जिस अनुभव को वह सगठित और संश्लिष्ट करता है वह समृद्ध और व्यापक होना चाहिए। दार्शनिक की दृष्टि मे अनुभूत या ज्ञात विश्व के प्रति उसके समूचे व्यक्तित्व की प्रतिक्रिया प्रकट होनी चाहिए। अतीत की महान् दार्शनिक प्रणालियो मे ब्रह्माण्ड की विराटता और आत्मा की रहस्यमयता की भावना पर्याप्त थी। यह सोचना गलत है कि दर्शन के क्षेत्र मे सत्य को आलोकित करने के लिए विशुद्ध तर्क और बुद्धि ही पर्याप्त है। वास्तव मे सिर्फ वही लोग, जिनके जीवन मे गहराई और समृद्धता है, ऐसे सश्लिष्ट सत्यो को आलोकित कर सकते है जो वास्तव मे ही सप्राण और मानव-समाज के लिए अर्थपूर्ण है।

२. अन्तर्ज्ञान और कलात्मक उपलब्धि :

समस्त कला किसी माध्यम मे आन्तरिक अनुभव की अभिव्यक्ति-मात्र है। कला मे हम अनुभव को ऐसे आकारों का परिधान पहना देते है जो हमारी इन्द्रियों के द्वारा हमारी भावनाओ को आकृष्ट और प्रभावित करते है। मूर्ति-कला के लिए पत्थर और बिल्लौर, चित्रकला के लिए रग, सगीत के लिए ध्वनि और कविता के लिए शब्द माध्यम होते है। अनुभव और माध्यम के बीच परस्पर सम्बन्ध कुछ कलाओं में अधिक निकट का होता है और कुछ मे कम। कविता मे सगीत मे और चित्रकला मे मूर्ति-कला से वह अधिक निकट होता है। कलाकृति के द्वारा अनुभव को दर्शक या श्रोता मे नये सिरे से अभिव्यक्ति होती है। रसिक

व्यक्ति कला के स्रष्टा के मन का गुप्त रूप में साझेदार बन जाता है।

कभी-कभी यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है कि कलात्मक अनुभव भ्रम-मात्र है या उसका स्रोत और कारण ऐसा है जिसे बुद्धि से जाना जा सकता है। इस सम्बन्ध में हम यहाँ एक ही महान् कला अर्थात् कविता तक, जिससे हम सब परिचित हैं, अपने-आपको सीमित रखकर नये विज्ञान के कला-सम्बन्धी विचारों का विवेचन करेंगे। नृवंशशास्त्रियों का कहना है कि कविता एक लयबद्ध संगीत है। लय हमें श्वास-प्रश्वास में सहायता देती है। इसीलिए कविता और संगीत उसे अपनाते हैं। यदि हम आवेशपूर्ण भाषण को लयबद्ध कर दें तो उसमें हमें संगीत मिलेगा। मनोवैज्ञानिक विश्लेषणकर्ताओं का कहना है कि कला ऐन्द्रियिक संवेदन की नैसर्गिक वृत्ति की अचेतन और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है।[1] कभी-कभी कहा जाता है कि कविता केवल कवि की अपने परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया है। ऐतिहासिक तत्त्व आसानी से उसकी व्याख्या कर सकते हैं। किन्तु किसी कला के मूल उद्गम का कथन उसकी व्याख्या नहीं है। मूल का कथन हमें कला की विकृति, उसकी असफलताओं को समझने में सहायक हो सकता है, किन्तु वह उसकी सामान्य सृजनात्मकता को समझने में सहायक नहीं हो सकता। यदि हम समस्त कला का उद्गम लय, नैसर्गिक वृत्ति या परिवेश में खोजें तो हम बेनोवन और गीत गाकर भीख माँगने वाले भिखारी, शेक्सपीयर और एक चतुर अर्धशिक्षित तुक्कड़ में भेद नहीं कर सकेंगे। फिर यह कहा जा सकता है कि कला एक संयोग है जो इस बात पर निर्भर है कि हम परिस्थितियों को क्या रूप देते हैं, न कि इस बात पर कि परिस्थितियाँ हमें क्या बना देती हैं। इस सम्बन्ध में कलाकार की प्रतिभा ही निर्णायक तत्त्व होती है। कलाकार के अनुभव की प्रकृति और उसे दूसरों तक पहुँचाने की उसकी योग्यता ऐसी चीजें हैं जिनकी व्याख्या की आवश्यकता है और ये सब चातुर्यपूर्ण सिद्धान्त, जो मूल उद्गम और परिस्थितियों को परिणामों में मिलाकर गड़बड़ा देते हैं, इस मध्यवर्ती प्रश्न को स्पर्श भी नहीं करते।

३. कविता :

वैज्ञानिक जिस प्रकार किसी सिद्धान्त या नियम की खोज करता है, उसी प्रकार कलाकार अनुभव या दृष्टि प्राप्त करता है। यह सृजनात्मक अनुभव या दृष्टि का मूल कारण क्या है ? क्या वह कल्पना, दिवास्वप्न, संवेदनशीलता या

१. देखिए रोजर फ्राई : 'दि आर्टिस्ट एण्ड साइकोएनेलिसिस' (१६२४)।

विचार है, या ऐसी ही कोई अन्य वस्तु है जो इन सबसे अतीत है? काव्यात्मक अनुभव मे तद्रूप होकर प्राप्त किया गया ज्ञान होता है, जो ज्ञानार्जन द्वारा प्राप्त किये गए ज्ञान मे भिन्न होता है। मन वस्तु को अपनी समग्रता मे ग्रहण करता है, उसे अपने हृदय मे चिपटाता है, उसे अपनी आत्मा के साथ घुला-मिला लेता है और उसके साथ मिलकर एक हो जाता है। कीट्स ने लिखा है, 'यदि एक चिड़िया मेरी खिडकी के सामने आये तो मैं उसकी सत्ता मे हिस्सा बँटाता हूँ और उसके साथ ही बाहर ककरीले पथ पर चोच से अनाज चुगने लगता हूँ।' कवि स्वतः अपने व्यक्तित्व को स्थगित कर देता है, यथार्थ सत्ता के प्रति आत्म-समर्पण कर देता है और वस्तु के साथ इतना आत्मलीन हो जाता है कि उसी के जीवन का श्वास लेता है और उसी के आकार का आनन्दोपभोग करता है। बायरन के शब्दों में, जब 'हृदय, आत्मा और इन्द्रियां एक साथ मिलकर गति करती है, तो व्यक्ति वस्तु मे लीन हो जाता है, उसकी लय के साथ लयबद्ध हो जाता है और उसके आन्तरिक स्वर और नाद को सुनता है। उस उग्रचेतना मे कर्ता और कर्म (ज्ञाता और ज्ञेय) परस्पर-परिवर्तनीय हो जाते है और जैसा कि ब्लेक ने कहा है, 'हम जो कुछ देखते है, वही हो जाते है।' वर्ड्सवर्थ ने अपनी 'ओड ऑन दि इण्टिमेशन्स ऑफ इम्मॉर्टेलिटी' कविता पर एक टिप्पणी मे लिखा है, 'मैं अक्सर एक बाह्य वस्तु को बाहर विद्यमान नही समझ पाता था और जो कुछ मैं देखता था उसके साथ मैं इस प्रकार घुल-मिल जाता था मानो वह मुझसे भिन्न नही है, बल्कि मेरे अति प्रकृत स्वरूप मे ही अन्तर्निहित है।' कवि के इस अनुभव मे वस्तु एक अद्भुत प्रकाश से आवृत हो जाती है और अपने-आपको एक निश्चित आकार मे, एक प्रत्यय के मूर्त चित्र के रूप मे, 'ईश्वर की इच्छा के एक निर्दोष तत्त्व के रूप में'[1] अभिव्यक्त करती है। प्रत्यक्ष सवेद्य जगत् की अनन्त विविधता एक अदृश्य प्रात्ययिक जगत् का, जो उसके पीछे और उसके भीतर विद्यमान है और जो उसे एव उसके ज्ञाता मन को थामता है, प्रतीक बन जाती है। ब्राउन ने अपने 'ऐसे ऑन शेली' नामक निबन्ध मे कवि के उद्देश्य के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहा है, 'कवि जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सघर्ष करता है, वह लक्ष्य वह नही जिसे मनुष्य देखता है, बल्कि वह लक्ष्य वह है जिसे ईश्वर देखता है, अर्थात् प्लेटो के प्रत्यय, सृष्टि के बीज जो ईश्वर के हाथ मे स्पष्ट ज्वलन्त रूप मे विद्यमान है।' कवि की अन्तर्दृष्टि मे वास्तविक ससार का पुनर्जन्म होता है और वह अधिकतम सत्य रूप में

१. मिडिल्टन : 'दि टेस्टामेंट आफ ब्यूटी' (१६२६), २.३२।

अभिव्यक्त होता है। यह संसार नूतन भी होता है और पुरातन भी। हम वस्तुओं के बाह्य सादृश्य को देखने के लिए अपनी संवेदन की शक्तियों का उपयोग करते हैं। अपनी बुद्धि की निपुणता को उनके तार्किक सम्बन्धों को समझने के लिए इस्तेमाल करते हैं। किन्तु वस्तु की आत्मा को जानने के लिए तो आत्मा की शक्ति की आवश्यकता होती है। मनुष्य में विद्यमान परम आत्मा भी उतनी ही गम्भीर और सत्य है जितनी कि वस्तुओं की यथार्थता, जो उसके ज्ञान के प्रयत्न का उत्तर देती है। जब तक हम ऐन्द्रियिक संवेदन और तर्क-बुद्धि की बारीकियों में डूबे रहते हैं तब तक हमारी आत्मा निष्क्रिय बनी रहती है। किन्तु जब हम

सोये रहते हैं
शरीर में और बन जाते हैं एक सजीव आत्मा
जब समस्वरता की शक्ति से शान्त
नयनों से, और आनन्द की गंभीर शक्ति से
हम निहारते हैं वस्तुओं के अन्तर जीवन में।

तभी हम वस्तु के भीतर अन्तःप्रवेश करते हैं, अपने-आपको उस पर डाल देते हैं, उसकी लय के साथ एकाकार हो जाते हैं और उसके भीतर झाँककर देखते हैं। चाहे किसी भी वस्तु की ओर हमारी ऊर्जाएँ प्रेरित हों, चाहे वह कोई भौतिक वस्तु हो या दार्शनिक प्रत्यय, कोई अस्थायी मनःस्थिति हो या कोई व्यक्ति, कवि अपनी समस्त सत्ता को अवहित वस्तु के केन्द्र में अवस्थित कर देता है और उस केन्द्र से बाहर की ओर उसके स्वरूप को प्रस्फुटित करता है। ऐसी दशा में कविता जीवन का एक आकार है, सामान्य जीवन को अधिक गहन रूप में जीकर उसके अर्थ को साकार करना है। यह एक परिपक्व प्रकृति है, उतनी ही सजीव जितना कि स्वयं जीवन है। यह मानो जीवन को मिली वाणी है, यह सर्वथा स्वतःस्फूर्त है। कीट्स ने कवि के सम्बन्ध में कहा है, 'यदि कविता उसमें वैसे ही स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित नहीं होती, जैसे वृक्ष में कोंपलें फूटती हैं, तो उसका कतई प्रस्फुटित न होना ही अच्छा है।' कला-कृति जीवन की प्रक्रिया का मूर्त रूप है। यह एक सृजनात्मक चिन्तन और ध्यान है, जो आत्मा की प्रसव-वेदना की प्रक्रिया है। मन उस समय प्रसवावस्था में होता है और कलाकार या कवि की समस्त सत्ता से पोषण और बल प्राप्त करता है। बौद्धिक यन्त्र उस समय क्रियारत होता है किन्तु उसमें भी सृजनात्मक जीवन घुला-मिला रहता है। सच्ची कविता में, जो पीड़ा और अनुभव से भरी हुई होती है, पूर्णता और रहस्यात्मकता होती है, गहराई

और अपनी निज की प्रामाणिकता होती है। कवि इतनी आन्तरिकता और गहराई से अनुभव करता है, इसीलिए वह अपने अनुभव और निर्णय को हम तक पहुँचा सकता है।[1]

सृजनात्मक आत्मा और उसकी क्रिया चेतन मन से इतने भिन्न होते हैं कि वह अपने-आपको कविता में परम आत्मा के जीवन-श्वास से ऊपर उठा हुआ और अनुप्राणित अनुभव करता है। अनुप्राणित आत्माएं चेतना के केन्द्र से, जो अपनी सान्तता की सीमा का अतिक्रमण कर गया है, बोलती हैं और इस प्रकार एक ऐसी प्रामाणिकता का दावा करती हैं जिसे प्रदान करने की क्षमता सामान्य व्यक्ति में नहीं है। जब विचार उनमें उद्बुद्ध होते हैं तब वे यह सब नहीं सोचतीं। कवि यह विश्वास करता है कि उसकी कृति उसकी बौद्धिक निपुणता या काल्पनिक साहसिकता का परिणाम नहीं है, बल्कि उसकी प्रेरणा और स्फुरणा का परिणाम है। यह प्रेरणा कवि के जीवन में आती है और उसके चाहे-अनचाहे उसमें से विलीन भी हो जाती है, इसलिए वह यह अनुभव करता है कि वह किसी ऐसी शक्ति से उद्भूत हुई है जो चेतन की अपेक्षा अचेतन अधिक है।[2] प्राचीन हिन्दू और ग्रीक लोगों की दृष्टि में काव्य-रचना एक धार्मिक कृत्य है और कवि सरस्वती की स्तुति और मंगलाचरण में अपना काव्य प्रारम्भ करता है। वह हमेशा आत्मा और मन के संवाद के रूप में होता है। वैदिक ऋचाओं के रचयिता अपने-आपको अपने ज्ञात संसार से ऊँची किसी सत्ता के ज्ञान की प्रणालिका समझते थे, अपने से अतीत उच्च आत्मा का साधन समझते थे। वे अपने काव्य की वस्तु का सृजन उतना नहीं करते जितना कि अपनी गहनतम अन्तर्दृष्टि के क्षणों में उसका ध्यान करते हैं। प्लेटो ने भी अपने 'सिम्पोजियम' में ऐसा ही विचार प्रस्तुत किया है। अरस्तू का कहना है कि 'कवि को या तो प्रकृति ने अपना सुखद वरदान दिया है', या 'वह कुछ पागल है।' दान्ते ने कहा है, 'जो

१. कार्लाइल ने कहा है कि 'काव्य सृजन भी आखिर वस्तु को पूर्ण रूप में देखने के सिवाय और क्या है?' और 'वस्तु का इस स्पष्ट गहरी झांकी के बाद उसका वर्णन करने वाले शब्द स्वयं पीछे-पीछे चले आते हैं।' (ग्रान हीरोज, ३)।

२. वे इन क्षणों को स्मरण करते हैं जब एक नया प्रकाश, एक नवजीवन की शक्ति उन पर एक निर्झर की भांति आती है। वह आती है जीवित या दिवंगत व्यक्तियों की उपस्थिति या विचारों से, प्रकृति के साथ सम्पर्क से, व्यक्तिगत आनन्द की ऊँचाइयों से या व्यथा की अतल गहराइयों में। और वे उन क्षणों को प्रेरणा और स्फुरणा के क्षण समझते हैं।' (ए० सी० ब्रैडले : ए मिसलेनी (१६२६), पृष्ठ २२६)।

शब्द में तुमसे कह रहा हूँ, वे मेरे नहीं हैं, उस पिता के है, जिसने मुझे भेजा है। मैं उनमें से हूँ, जो प्रेम की प्रेरणा और उमग के समय उसके सन्देश को लिखते *जाते हैं और जैसा वह मुझे मेरे अन्तर मे आदेश देता है, वैसा ही मैं अपने-आपको* अभिव्यक्त कर देता हूँ।'[1] 'पैरेडाइज़ लॉस्ट' का प्रारम्भ इन उदात्त शब्दों से होता है, 'गाओ हे स्वर्ग की वीणा पाणि!' मिल्टन ने उस 'स्वर्ग की देवी सरस्वती' के सम्बन्ध मे कहा है, जो

आती है
अनाहूत ही रात्रि को मेरे स्वप्नों में,
और निद्रा में मुझे आदेश करती, या
प्रेरणा देती मुझे सहज में नित-नूतन कविता की।[2]

कवि का अनुभव क्षणावस्थायी होता है, क्योंकि यवनिका एक बार फिर गिर जाती है और उदात्तता की मुद्रा विलीन हो जाती है। कवि उस अनिर्वचनीय अनुभव को शब्दों मे व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। कविता आत्मा के उर मे रहती है, और कवि जिन शब्दों मे कविता को बाँधता है वे मूल भावों की अस्पष्ट छाया होते हैं, स्मृति मे मूर्त बिम्ब बनकर अंकित भावों को व्यक्त करने का एक प्रयत्न-मात्र होते हैं। कवि की काव्यानुभूति मे कुछ ऐसा अपरिमेय होता है, जो शब्दों मे व्यक्त नहीं किया जा सकता। काव्य की प्रकृति हम सभी मे होती है, किन्तु बहुत कम लोग उसे विकसित कर पाते है। कवि मे एक ऐसी शक्ति होती है, और यह और भी कम लोगो मे होती है, जिसमे वह अपने अनुभव को अव्यवहित व्यंजना-शक्ति से अन्वित शब्दों मे दूसरो पर प्रकट कर सकता है, जो भटकते हुए मन को उसके आह्वान को सुनने के लिए मजबूर कर देते हैं। आत्मा की अवस्थाओं को शब्दों और बिम्बों मे अभिव्यक्त करना कठिन है। कला की सफलता का परिमाप यह है कि वह एक आयाम के अनुभवों को दूसरे आयाम मे किस हद तक अभिव्यक्त कर सकती है। कलाकार का टेक्नीक पर काफी नियन्त्रण होना आवश्यक है। काव्य-रचना के समय भी कवि एक ऐसी स्थिति मे होता है जिसमें

१. परगेटारियो, कैण्टो XIV, ग्राहम वैलास की 'दि आर्ट आफ थॉट' (१९२६) में उद्धृत। जार्ज इलियट का कहना है, 'जिसे उसने अपना सर्वोत्तम लेखन माना है, उसमें 'स्वय उससे इतर' एक ऐसी सत्ता थी जो उस पर छाई रही और उसने अपने व्यक्तित्व को एक ऐसा साधन मात्र माना जिसके द्वारा यह सत्ता कार्य कर रही थी।' (क्रॉस : लाइफ ऑफ जॉर्ज इलियट)।

२. पैरेडाइज़ लास्ट, अध्याय IX, २१. २१-२४।

विमर्शात्मक तत्त्व अन्तर्ज्ञानात्मक तत्त्वो के सम्मुख गौण हो जाते है। किन्तु उस समय उसकी अन्तर्दृष्टि सक्रिय नही होती, कारण, जिस समय तक यह दृष्टि कायम रहती है तब तक उसका दबाव ही उसकी अभिव्यक्ति को रोके रखता है। बाद मे उस दशा की समाप्ति पर अनुभव का प्रत्यास्मरण किया जाता है, किन्तु वह प्रत्यास्मरण शान्त और निराविष्ट स्थिति मे नही होता। कविता उत्तेजना की भाषा है। इस उत्तेजनाजनक अनुभव का प्रत्यास्मरण करते हुए कवि उसका हू-ब-हू तथाकथन करता है और उसके साथ तन्मय हो जाता है। अनुभव की मोहिनी अब भी कवि पर छायी रहती है और उसके प्रभाव से वह अन्तर्ज्ञानात्मक शब्दों और बिम्बो का प्रयोग करता है जिनमे तर्कसगत अर्थ की अपेक्षा भावनात्मक मूल्य अधिक होता है। यद्यपि कविता कवि को प्राप्त दृष्टि नही, बल्कि उसका बिम्ब है, फिर भी उसकी सफलता या असफलता इस बात पर निर्भर है कि वह उस दृष्टि को किस हद तक सही रूप मे प्रस्तुत करती है।

कवि के अनुभव और उसकी अभिव्यक्ति की यह विवृत्ति क्रोचे के इस विचार से मेल नही खाती कि अन्तर्ज्ञान और अभिव्यक्ति मे तादात्म्य और ऐक्य है। क्रोचे का कहना है कि 'यह साधारण समझदारी का सिद्धान्त है जो ऐसा दावा करने वाले लोगो का उपहास करता है कि उनके अन्तर मे विचार हैं पर वे उन्हे अभिव्यक्त नही कर सकते, अथवा उनके मन मे महान् चित्र हैं किन्तु वे उन्हे चित्रित नही कर सकते।'[1] यद्यपि यह सही है कि हम अन्तर्ज्ञान को अभिव्यक्ति से पृथक् नही कर सकते, तथापि क्रोचे के दृष्टिकोण मे इस सत्य की उपेक्षा कर दी गई प्रतीत होती है कि अनुभव और सामान्य व्यक्ति के लिए उसकी अभिव्यक्ति, दोनो के बीच मे स्वाभाविकता और अस्वाभाविकता दीवार बन कर खड़ी है। जिस समय कवि को अनुभव या अन्तर्ज्ञान होता है—और यह अनुभव बहुत जीवन्त रूप मे अनुभव किया जाता है और अन्तर्ज्ञान भी असन्दिग्ध रूप मे प्राप्त किया जाता है—उस समय उसकी अभिव्यक्ति या उसके देह का परिधान भी उसमे अन्तर्निहित रूप से विद्यमान रहता है। कारण, पूर्णत निराकार और अरूप की कल्पना नही की जा सकती। अनुभव में भी आकार विद्यमान रहता है किन्तु महान् कवि वह है जो अनुभव को जादू के पखो वाले शब्दो मे अभिव्यक्त कर सके, अनुभव का श्रोता या पाठक मे उद्भव कर सके। अनुभव जिन शब्दों या वाक्यों

[1] 'एस्थेटिक्स', एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, १४वाँ संस्करण (१९२९), भाग १, पृ० २६६।

में अभिव्यक्त किया जाता है, उनमें वह अपना पूर्ण आकार धारण करता है। स्वयं अनुभव में उसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप में नहीं, बल्कि अन्तर्निहित रूप में रहती है। जिस सीमा तक कवि अपने अनुभव में पूर्णतः अभिन्न और उसके प्रति चेतन होता है, उस सीमा तक हम यह कह सकते हैं कि उसकी अभिव्यक्ति भी एक तरह से पूर्ण है, किन्तु निश्चय ही उसका शाब्दिक रूप उसमें पूर्णतः विकसित नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि क्रोचे ने कला को दूसरों तक पहुँचाने की समस्या को पूरी तरह ध्यान में नहीं रखा।

एक कवि और अकवि में अन्तर यह है कि कवि का अनुभव अधिक व्यापक और उसका शाब्दिक नियन्त्रण अधिक बड़ा होता है। कुछ लोग कविता के बारे में ऐसे बात करते हैं, जैसे एक मैकेनिक अपने इंजन के बारे में बात करता है। उनका कहना है कि यदि हम कुछ काम करेंगे तो उनके कुछ परिणाम भी होंगे। कविता भी इंजिनीयरिंग से अधिक रहस्यपूर्ण नहीं है। यदि हम काव्य-व्यापार की कुछ चतुराइयाँ इस्तेमाल करें तो उनके परिणामस्वरूप हमें कविता प्राप्त हो जाएगी। काव्य-रचना को वे लोग टैकनिकल शक्ति के रूप में प्रकट करते हैं। किन्तु टैकनिक भी प्रेरणा और अनुप्राणन के बिना निष्फल होती है। बौद्धिक शक्तियों, प्रत्यक्ष अनुभूत तथ्यों और काल्पनिक उड़ानों से ही पटुत्वपूर्ण तुक-बन्दियाँ और पुराने विषयों की पुनरावृत्ति हो सकती है, किन्तु वे कृत्रिम कविताएँ होंगी। जो लोग उन पर निर्भर करते हैं वे तुक्कड़ हो सकते हैं, कवि नहीं। वे अपनी सुन्दर कल्पनाओं से हमारे मन को खुश कर सकते हैं किन्तु हमें रोमांचित वही करता है जो हमें अपनी कविता में आन्तरिक गुण प्रदान करता है। दोनों में केवल गुण की मात्रा का ही अन्तर नहीं है, बल्कि उनके उद्गम भी भिन्न-भिन्न किस्म के हैं। जिस स्तर पर दोनों गति करते हैं, वे भी अलग-अलग हैं। सच्ची कविता में *अनुभव की वह परिपक्वता है, मन की वह उदात्तता है, आत्मा का वह सम्पर्श है,* जो केवल सतही उथला जीवन व्यतीत करने वालों में नहीं होता। हम कविता का मूल्यांकन इस बात से करते हैं कि उसकी जड़ें यथार्थ में कितनी गहरी गयी हुई हैं। *सिर्फ वही कविताएँ, जो आत्मा में उठती हैं और यशस्विता के बादलों* की धूम्ररेखा अपने पीछे छोड़ती आती है, हृदय में धड़कन पैदा करती हैं और आँखों में ज्योति भरती हैं। प्लेटो ने प्रतिभावान् व्यक्ति को, काव्य की सरस्वती *से अनुप्रेरित दीवाने को शब्दों की कला के परिश्रमी कारीगर से भिन्न बताया है* और कहा है कि शब्दों का यह जादूगर प्रतिभावान् कवि के आगे नहीं टिक सकता।

'जिसकी आत्मा से सरस्वती के पागलपन का कोई संस्पर्श नहीं है,' वह द्वार तक आता है और सोचता है कि वह कला की सहायता से मन्दिर में प्रविष्ट हो जाएगा, किन्तु मैं कह सकता हूँ कि उसे और उसकी कविता को मन्दिर में प्रवेश नहीं मिलता। समझदार और होश-हवास से दुरुस्त व्यक्ति जब पागल के साथ प्रतिस्पर्धा में आता है तो वह कहीं का नहीं रहता।'[१] कॉलरिज ने अपनी पुस्तक 'टेबल टॉक' के प्रारम्भिक खण्ड में कलाकार और कारीगर का भेद स्पष्ट किया है। शिलर अपनी रचना में भय और आतंक की छाप लाने के लिए एक समूचे नगर में आग लगा देता है, शिशुओं को धधकती आग की लपटों में झोंक देता है और बूढ़ों को पुराने बुर्जों में ताले के भीतर बन्द कर देता है। शेक्सपीयर एक रूमाल गिरा देता है और हमारे खून को सर्द कर देता है। किन्तु जब तक कवि उर के अन्तर से नहीं बोलता तब तक वह दूसरों के अन्तर की गहराई तक नहीं जा सकता। जब कार्लाइल ने फ्रांसीसी क्रान्ति की पाण्डुलिपि खत्म कर अपनी पत्नी को दी थी तो उसने कहा था, 'मैं नहीं जानता कि इस पुस्तक की भी कोई कीमत है, न मैं यही जानता हूँ कि संसार इसके साथ क्या अच्छा या बुरा बरताव करेगा, या इसके साथ किसी भी तरह के व्यवहार की सर्वथा उपेक्षा ही कर देगा किन्तु मैं संसार से इतना कह सकता हूँ कि सौ साल में तुम्हें ऐसी कोई भी दूसरी पुस्तक नहीं मिली जो किसी जीवित व्यक्ति के हृदय में इस प्रकार सीधी और ज्वलन्त रूप में आविर्भूत हुई हो।'[२]

अक्सर यह प्रश्न किया जाता है कि क्या कविता की शक्ति का कारण शब्दों से निकलने वाला संगीत है, या उनसे प्रकट होने वाले बिम्ब हैं, या उनमें अभिव्यक्त होने वाले विचार हैं। इनमें से हरेक विचार को काफी प्रबल समर्थन मिलता है। कुछ लोगों के अनुसार 'सर्वोत्तम क्रम में प्रकट किये गए सर्वोत्तम शब्द' ही कविता है। इसमें तनिक भी संशय नहीं कि लयबद्ध शब्द मन पर जादू का-सा मोहक असर डालते हैं, अर्थ को न समझ पाने पर भी उसका संगीत हममें रस का संचार करता है। इसके अतिरिक्त यह भी सच है कि हम कविता का आश्रय किसी ज्ञान की प्राप्ति के लिए नहीं लेते। कला का कार्य है हमारे भीतर मानवता अंकुरित करना, हमारी प्रकृति को मानवीय बनाना, हमारे जीवन को परिष्कृत करना और मन में ऐसा गम्भीर सन्तोष और आत्मप्रसाद पैदा करना जो धीरे-

१. फ़ेड्रस, २४५।
२. कार्लाइल्स लाइफ़, भाग १, पृष्ठ ८८।

धीरे मन की स्थायी अभिवृत्तियां बन जाएं। ज्ञान का प्रकाश अपने माधुर्य के कारण ही हमें स्वीकरणीय और ग्राह्य प्रतीत होता है। एक प्रशिक्षित संवेदनशीलता आन्तरिक यथार्थ सत्ता को अनुभव कर जो समस्वरता प्राप्त करती है, वह भी वैध और प्रामाणिक ज्ञान है। कविता में कण्ठ-संगीत और तर्कपूर्ण अर्थ दोनों होते हैं, किन्तु वही दोनों पर्याप्त नहीं हैं। उसका तात्त्विक गुण तो भावना का वह उत्साह, आवेश की वह प्रबलता और जीवन की वह गहनता है जो तरंगित और आनन्द-विभोर हृदय की वाणी में प्रस्फुटित होती है। निरा आवेश, जिसमें विचार न हो, कोरी भावुकता है। किन्तु जब तक आवेश न हो, कवि पाठक को अपनी रचना में अपने अनुभव को स्वीकार करने की प्रेरणा नहीं दे सकता। अनुभव एक अद्वितीय घटना है और उसकी आवृत्ति नहीं हो सकती। कविता सिर्फ उसका प्रत्यास्मरण या उसका अभिलेखन है। किन्तु कवि के शब्दों को पाठक के साथ एक स्वाभाविक सहानुभूति स्थापित करनी चाहिए और उसके भीतर वह उदात्तता की मुद्रा पैदा करनी चाहिए जो उसके अभिप्राय के बोध के अनुकूल हो। पाठक को अपने-आपको उसी मनःस्थिति में ले आना चाहिए जिसमें कवि था, उसे कवि की आंखें देखना, कवि के हृदय से अनुभव करना और कवि के मन से निर्णय करना चाहिए। महत्त्व इस बात का नहीं कि कवि का विचार कितना महान् है, या उसका विषय कितना महत्त्वपूर्ण है, बल्कि महत्त्व इस बात का है कि अनुभव कितना पवित्र और कितना गम्भीर है। कवि का मन बहुत सूक्ष्मग्राही है, उसका हृदय संसार की सुदूरतम मर्मध्वनि को भी सुन लेता है। इस बात का शायद ही कोई महत्त्व हो कि वह किस विषय पर बोलता है, वह विषय रात की हवा हो सकता है और प्यार की उड़ान भी, एक फूल हो सकता है और एक उड़ती हुई स्मृति भी। वह ईश्वरीय बुद्धि और संसार की भौतिक नश्वर वस्तुओं के बीच मध्यस्थता करता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि कविता के लिए सभी विषय एक-से हैं। बाह्य आकार और आन्तरिक तत्त्व का परस्पर बहुत निकट सम्बन्ध है, और केवल महान् विषयों में ही महान् कविता प्राप्त हो सकती है। गद्य, जो विचार-विनिमय और विचारों के आदान-प्रदान का साधन है, उच्चतम विषयों का वाहक नहीं हो सकता। कविता आत्मा की भाषा है, गद्य विज्ञान की भाषा। कविता रहस्य की, भक्ति की, धर्म की भाषा है। गद्य अपने समूचे अर्थ को बुद्धि के आगे निर्वसन करके रख देता है, जबकि कविता हमें जीवन के गम्भीर रहस्य में धकेल देती है और हमारे सामने ऐसे सत्यों को अनावृत करती है जो

वाणी से कहे नहीं जा सकते। समस्त कविता पर गहरे रहस्य का एक वातावरण छाया रहता है। यदि पूर्ण विश्लेषण किया जाए तो उसका अन्तिम निष्कर्ष यह होगा कि काव्य का काव्यत्व तत्त्वतः सृजनात्मक अन्तर्ज्ञान के कारण है जो ध्वनि, व्यंजना और अभिधा को एक सजीव घोल के रूप में कायम रखता है।[1]

आधुनिक साहित्य तत्त्वतः बहुत तुच्छ और क्षुद्र है। हमारे महानतम मनीषी बर्नार्ड शा और एच० जी० वेल्स आदि की प्रतिभा की ऊँचाइयों तक नहीं पहुँच सके। उन्होंने हमें एक भी ऐसा महाकाव्य नहीं दिया जो समग्र जीवन के सम्पूर्ण अर्थ को अभिव्यक्त कर सके, जो हमें उन्मत्त आशाओं से स्पन्दित कर दे, जो नये आलोक के क्षेत्रों में हमें चमत्कृत कर दे। उन्होंने हमें एक भी ऐसा महान् नाटक नहीं दिया जो अपनी गहरी हृदयद्रावक प्रवृत्ति से, अपनी महानता से हमें झार-झार कर दे, भीतर नियति से लड़ रहे महामानवों की ऐसी अविस्मरणीय झाँकियाँ आलोकित कर दे जो हमें आन्दोलित कर दे, हमें शुद्ध और निर्मल कर दे। ऐसा इसलिए है कि उन्होंने आत्मा के कोलाहल को लेकर रचनाएँ की, उसकी गहराइयों में नहीं गये। वे लोग प्रधानतः बुद्धिवादी हैं। हम लोग बुद्धिजीवियों और बुद्धिवादियों की पीढ़ी के लोग हैं, जो विश्लेषण में निपुण हैं, प्रेक्षण में धीर हैं। किन्तु संसार में कभी कोई कला विश्लेषण या प्रेक्षण से नहीं बनी। हम वर्तमान अव्यवस्था के प्रति अत्यन्त सजग हैं और समाज को एक बेहतर योजना के अनुसार ढालने को उत्सुक हैं। हम बुराई के प्रति क्रोध से जल रहे हैं और उस पर विजय पाने के उपायों का प्रचार करते हैं। किन्तु हमारे कष्ट और हमारी पीडाएँ केवल मानसिक हैं, मन की वेदनाएँ, न कि आत्मा की। सच्चे कलाकार गहरे अनुभव में से गुजरते हैं, गहरी व्यथा में से। उनके पास प्रचार करने के लिए वक्त ही नहीं होता, वे जीते हैं और प्रेम करते हैं। जब वे अनुभवों को शब्दों में व्यक्त करते हैं तब हम उनमें आत्मा का वह अपरिमेय गुण पाते हैं, वह सृजनात्मक आदेश देखते हैं, जो केवल निर्जीव फलों की चातुर्यपूर्ण रचना नहीं है, जो

१. देखिए हर्बर्ट रीड : फेजेज आफ इंगलिश पोएट्री (१६२८), ५। कला की चर्चा करते हुए रॉबर्ट ब्रिजेज कहता है :

> 'जहाँ समस्त महानता स्वयं उद्भूत होती है,
> किसी उत्तम वृक्ष पर पकने दुर्लभ फल की भाँति,
> महज गुण के उदात्त व्यक्तित्व पर
> जिनके बिना सृजनात्मक बुद्धि निष्फल है।'
>
> (दि टेस्टामेंट ऑफ ब्यूटी (१६२६), २.७३८–७४१)।

एक हृदय का आदेश है, निरी बाह्य दक्षता नहीं है। वे हमें सौन्दर्य की वस्तुएं देते हैं, केवल प्रसाधन-सामग्री नहीं। एक सच्ची कलाकृति का विश्लेषण नहीं किया जा सकता, वह अम्बर से गिरने वाली बिजली की तरह है जो पृथ्वी पर टकराती है और उसे एक प्रचण्ड अग्निशिखाएं दग्ध कर देती हैं। रॉबर्ट ब्रिजेज़ का 'दि टेस्टामेंट ग्राफ़ ब्यूटी' इसका एक उदाहरण है। यह एक ऐसी भाषा में लिखा हुआ किसी दार्शनिक निबन्ध का भाष्य प्रतीत होता है जो अधिकतर काव्यमय होने के बजाय अमूर्त है। इसके ज्ञान के ब्रह्माण्डव्यापित्व, इसकी विश्वास की श्रेष्ठता और इसकी भावना की बहुलता को देखते हुए निस्सन्देह वह एक महान् रचना है। इसमें कुछ अंश अत्यन्त सुन्दर हैं, इनमें गीतों का लालित्य और माधुर्य है, किन्तु वह महान् काव्य-रचना नहीं। महान् काव्य के लिए भावों की गहनता और प्रेरणा के स्थायित्व की आवश्यकता है। यह निर्णय करना आलोचक का काम है कि क्या 'दि टेस्टामेंट ऑफ़ ब्यूटी' महान् रचना होने के साथ-साथ महान् कविता भी है, क्या उसमें काव्य का वह ओज है जिसे काव्य की प्रतिमा, काव्य की मोहिनी कहा जा सकता है?

४. कलात्मक ज्ञान :

वस्तुओं के गहरे यथार्थ के रहस्योद्घाटन के रूप में कला ज्ञान का ही एक आकार है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है, कला नकल है किन्तु बाह्य प्रकृति की नहीं, बल्कि आन्तरिक यथार्थ की। कला की वस्तुनिष्ठता फोटोग्राफी में पाई जाने वाली यथार्थवादिता नहीं है, यहाँ तक कि तथाकथित नकलमय कला भी पूर्णतः नकल नहीं है। नकल में भी कलाकार का मन एक निश्चित उद्देश्य को दृष्टि में रखकर कार्य करता है। वह दृश्यमान जगत् में उसके बाह्य प्रतीयमान रूप से भी कुछ अधिक वास्तविक वस्तु को, सत्य के किसी अच्छे या सुन्दर प्रत्यय या आकार को, जो स्वयं दृश्यमान वस्तु की अपेक्षा आत्मा के अधिक निकट है, देखता है। फिर भी यह प्रत्यय या आकार, यह अर्थ या मूल्य, कोई नया, ऊपर से थोपा हुआ परिष्कार या सौन्दर्य नहीं है, बल्कि वह स्वयं वस्तु का ही अन्तरालवर्ती हृदय है जिसे हम उस वस्तु से अलग नहीं कर सकते। कवि का सत्य खोज है, सृजन नहीं।

क्रोचे ने इस विचार का विरोध किया है कि कविता यथार्थ पर पड़े परदे को हटाकर उसे अनावृत करती है। उसका कहना है कि कविता व्यक्तिगत

मनःस्थिति की अभिव्यक्ति है, और यदि कवि यह दावा करता है कि वह अपनी ग्रहणशील मानसिक स्थिति में वस्तु के यथार्थ रूप को जान लेता है और अपनी सृजनशील मनःस्थिति में उसे अभिव्यक्त करता है, तो वह आत्मप्रवंचना करता है। कविता तत्त्वतः आत्माभिव्यक्ति है। यदि इस विचार को मान लिया जाए तो इस बात की कोई तर्कसंगत व्याख्या कर सकना कठिन है कि एक व्यक्ति के 'स्व' की अभिव्यक्ति दूसरों के लिए क्यों प्रामाणिक या महत्त्वपूर्ण हो सकती है। इसके अतिरिक्त स्वयं क्रोचे ने भी यह स्वीकार किया है कि कला अन्तर्ज्ञान है और अन्तर्ज्ञान हमेशा वास्तविक का या व्यक्ति का होता है। इसका अर्थ यह है कि कवि का अन्तर्ज्ञान भी एक प्रकार से ज्ञान प्रदान करता है। इसके अलावा, यह केवल तभी कहा जा सकता है कि कला हमें आत्मगत इम्प्रेशन देती है, जबकि यह मान लिया जाए कि यथार्थ वस्तु का अस्तित्व हमारे तद्विषयक ज्ञान से सर्वथा भिन्न और पृथक् है। उस अवस्था में यह कहा जा सकेगा कि विज्ञान और सामान्य बुद्धि भी हमें ज्ञान नहीं देते। जिसे प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है वह जरूरी तौर पर यथार्थ नहीं है। आँखों वाला आदमी अन्धे से अधिक जानता है। यदि हमारी एक हजार इन्द्रियाँ हों, जैसी कि वाल्तेयर ने कल्पना की थी, तो भी हम यह भरोसा नहीं कर सकते कि हमें यथार्थ का जो बोध होता है, वह यथार्थ का असली ज्ञान ही है। प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञेय वस्तु प्रेक्षक से पृथक् और स्वतन्त्र नहीं है। गुलाब के रंग का अस्तित्व सिर्फ उसी के लिए है जिसमें मानवीय दृष्टि-शक्ति है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड की वैज्ञानिक तस्वीर भी हमारे ज्ञान के तरीके पर निर्भर है। कम्पन (ध्वनि) और रंग प्रेक्षक की दृष्टि से सापेक्ष हैं। समस्त ज्ञान, चाहे वह प्रत्यक्ष हो चाहे अनुमान, ज्ञाता और ज्ञेय का मिलन-स्थल है। कला में हमें जो ज्ञान होता है वह इस दृष्टि से किसी भी तरह विशिष्ट किस्म का नहीं है। इसमें हमें यथार्थ के प्रति सूक्ष्मग्राही संवेदनशीलता की प्रतिक्रिया मिलती है। कवि का सत्य वैज्ञानिक के सत्य से भिन्न है, क्योंकि वह यथार्थ को उसकी गुणात्मक अद्वितीयता में अभिव्यक्त करता है, परिमाणात्मक सर्वदेशीयता में नहीं। वह वस्तु के परिमेय भौतिक गुणों का बखान नहीं करता, बल्कि उसके आभ्यन्तर सौन्दर्य का वर्णन करता है जो केवल अनुभव की वस्तु है। कविता के सत्यों को स्थूल व्यापक तर्कों में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, उन्हें अधिक सूक्ष्म रूप में ही दूसरों तक पहुँचाया जा सकता है। वस्तु के अन्तर के यथार्थ को देखना सत्य के प्रति दृढ़ विश्वास करना है।

यदि कला आत्माभिव्यक्ति हो तो भी उसमें अभिव्यक्त होने वाली आत्मा मनुष्य की संकीर्ण आत्मा नहीं है। कोण्ट ने अपने ग्रन्थ 'क्रिटीक ऑफ़ जजमैंट' में कहा है कि सौन्दर्य के उपभोग के रूप में हम जो आनन्द पाते हैं, वह व्यक्तिगत होता है और उस अर्थ में वह आत्मनिष्ठ भी होता है। साथ ही वह निःस्वार्थ और अनासक्त होता है, इसलिए उसके सम्बन्ध में हमारा निर्णय सार्वत्रिक होता है। जो कविता सबसे अधिक गहरी होती है उसका आकर्षण भी सबसे अधिक व्यापक होता है।

वैज्ञानिक जब किसी नियम की खोज करता है तो वास्तव में वह प्रेक्षित सत्यों को एक नये क्रम में व्यवस्थित करता है। कलाकार भी ऐसे ही कार्य में रत रहता है। वह हमारे अनुभव को एक नया अर्थ प्रदान करता है और यथार्थ वस्तु में सूक्ष्म गुणों को अनुभव करने की अपनी क्षमता के कारण वह उसे भिन्न तरीके से सघटित करता है। वह हमारे जीवन के अवबोध को बढ़ाता है और हमें यथार्थ की अधिक ऊँची अनुभूति कराता है। वह वस्तुओं में अधिक गहरा सामजस्य स्थापित कर अधिक अच्छा सम्बोध पैदा करता है। गोएते ने एक स्थान पर प्रश्न किया है, 'सबसे पवित्र क्या है?' और फिर उसका उत्तर दिया है, जो अधिक गहराई से अनुभव किये जाने के कारण आज ही नहीं, हमेशा हमें अधिक गहरे सामंजस्य और ऐक्य में स्थापित करता है।'

कला के सबसे बड़े वरदान हैं शान्ति और समन्वय। उन विरले क्षणों में जबकि हम किसी सुन्दर कविता से या किसी महान् कलाकृति से प्रभावित होते हैं, न केवल हम उसमें तल्लीन हो जाते हैं, बल्कि हमारा मन प्रत्यक्ष और अनुमान से भी उच्च स्तर की उस झाँकी को पाकर एक अधिक ऊँचाई पर पहुंच जाता है। हर सुन्दर मूर्ति में एक शान्ति होती है, हर महान् कविता में एक सुकून होता है। किसी कलाकृति को बुद्धि के पैमाने से नापने और उसके पात्रों और *घटनाओं को सर्वथा काल्पनिक कहकर उड़ा देने का कोई लाभ नहीं है।* हो सकता है, किसी नाटक के व्यक्ति और घटनाएँ अवास्तविक हों, फिर भी यह सम्भव है कि उस नाटक का अर्थ और उसके मूल्य वास्तविक वस्तुओं से अधिक ऊँचे और अधिक स्थायी हों। यह हो सकता है कि काल्पनिक व्यक्ति और घटनाएँ 'स्वप्न की तरह अवास्तविक' हों और फिर भी वे हमें यथार्थ और अर्थवान् वस्तु को समझने में सहायता देते हैं। काल्पनिक आकारों में भी जीवन की तरह वास्तविकता दीख पड सकती है। आखिरकार 'नाटक ही असली चीज़ है,' सेप

सब छायाएँ ही है। यह कलाकार का कार्य है कि वह हमारे अन्दर जीवन के महत्त्व और सारवत्ता की भावना पैदा करे। जैसा कि काण्ट ने कहा है, कला 'किसी विशेष उद्देश्य को प्रस्तुत किये बिना' एक सामान्य उद्देश्य को साकार करके हमारे सम्मुख उपस्थित करती है। कला का काम विशिष्ट घटनाओं का विस्तृत औचित्य सिद्ध करना नही है। वह हमें जीवन की सार्थकता की भावना प्रदान करती है, ब्रह्माण्ड के वृहत्तर सौन्दर्य, न्याय्यता और औदार्य के विचार हममे पैदा करती है। कलाकार ससार की वास्तविकताओं से मुँह नहीं मोड़ता। वह उसके दुखो, कष्टो गुणो और सफलताओं को जानता है। ससार में अन्याय और अत्याचार हो सकते हैं, किन्तु उनमे चिन्तित और भयभीत होने की आवश्यकता नही है। ससार अपने अन्तरतम मे अच्छा ही है। कलाकार ससार के अँधेरे पहलू को चित्रित करते हैं, किन्तु वह हमे निराश नहीं करता। जब हम 'हैमलेट' या 'किंग लीयर' जैसे महान् नाटक पढ़ते है तो ऐसा लगता है कि हम ससार के रहस्य के निकट है। कवि ने जीवन के मूल आधार का जो ज्ञान प्राप्त किया होता है उसमे वह हमें भी साझीदार बनाता है। उसके बाह्य परिणाम भले ही विपज्जनक हो, किन्तु मन शान्त रहता है। जुलियट मर जाती है, किन्तु प्रेम की महानता सिद्ध करने के बाद। यदि ओथेलो उसी क्षण मर जाता जबकि उसने अपने ऊपर प्रहार किया था, तो वह दुनिया के खिलाफ एक शिकायत लेकर मरता। किन्तु वह डेसडेमोना की निर्दोषता और निष्कलकता को देखकर मरता है, क्योकि उस समय मृत्यु उसके लिए एक तुच्छ-सी वस्तु हो जाती है। बाहरी पराजये और असफलता जीवन के आन्तरिक अर्थ को स्पर्श नही करती। हमारे मन पर यह सामान्य छाप पडती है कि ससार अन्ततः भला और अच्छा है। 'जेनेसिस' के ईश्वर की भाँति जब हम समस्त सृष्टि की ओर दृष्टिपात करते है तो हम देखते है कि सब मिलाकर ससार अच्छा ही है। हम ससार को केवल अंगीकार ही नही करते, उसमें सुख और अपनापन भी अनुभव करते है। वह हमे सर्वथा निर्दोष और पूर्ण नही लगता। हम उसमे वृद्धि, नैरन्तर्य, स्थायित्व, बढ़ती हुई पीडा और दुखान्त घटनाएँ पाते है, तो भी हमारा यह कर्तव्य होता है कि हम उसकी सामान्य गतिविधि मे हिस्सा लें और उसे आगे बढाएँ। कला अनासक्त व्यक्ति का ससार के साथ बन्धुत्व स्थापित करती है। वह उसकी भावनाओं को शुद्ध करती है, एक प्रकार की पूर्णता और सार्थकता की अनुभूति पैदा करती है। कला द्वारा पैदा की गई द्रुत प्राण-शक्ति के बिना जीवन एक

अप्रिय वस्तु बन जाए। भगवद्गीताकार ने कहा है कि सुख और दुख को समान *समझने वाला ही योगी है। सिर्फ ऐसे यतात्मा ही, जिन्होंने न केवल जीवन को* परखा है, बल्कि जीवन ने भी जिन्हें परखा है, जीवन को हमेशा उस रूप में देख सकते हैं, जिस रूप में हम उनके प्रभाव से उसे कभी-कभी ही देख पाते हैं। *हमारी सबसे दुखी मन:स्थितियों के गीत ही हमारे मधुरतम गीत होते हैं।* हम दुख में जो कुछ अनुभव करते हैं उसी को हम गीत में भर देते हैं।

सौन्दर्य-बोध के लिए समस्त मन के प्रयोग की आवश्यकता होती है, *अकेला तर्क का अवबोध ही पर्याप्त नहीं होता।* उच्चतर अन्तर्दृष्टि की सहायता के बिना हम सौन्दर्य को पूरी तरह हृदयगम नहीं कर सकते। कलाकार जिस संसार को हमारे सामने प्रस्तुत करता है, उसमें हमें साझीदार होना चाहिए। *कविता का पाठक भी कवि के साथ सहृदय या समान हृदय होता है।* शोपनहॉर का कहना है कि कलाकार हमें अपनी आँखें दे देते हैं और हम उन्हीं से देखते हैं। कला को हृदयगम करने के लिए विश्वास और मतैक्य की नहीं, सहानुभूति और *अवबोध की आवश्यकता होती है। क्षण-भर के लिए हमें अनासक्त और अत्यन्त* एकाग्र हो जाना चाहिए। गोएते ने कहा था कि यदि श्लेगेल को यूरीपीडिस की आलोचना करनी पड़ती तो वह घुटने टेककर वैसा करता। तब वह पहले अपने-*आपको उत्सर्ग कर देता, क्योंकि किसी को समझने और हृदयगम करने का वही* एकमात्र उपाय है। सौन्दर्य का सृजन और उसका आनन्दोपभोग दोनों ही बुद्धि और तर्क के विषय नहीं हैं।

५. अन्तर्ज्ञान और नैतिक जीवन :

हमारे नैतिक जीवन में भी उच्चतम स्थिति पर पहुँचने के लिए अन्तर्ज्ञानात्मक दृष्टि अनिवार्य है। साहसपूर्ण पथ का अनुसरण करने वाला वीर उस अनुसन्धान करने वाले आविष्कारक के समान है, जो किसी विज्ञान के बिखरे हुए तत्वों को क्रमबद्ध कर संश्लिष्ट करता है, या वह उस कलाकार के सदृश है जो एक संगीत की रचना करता है या किसी भवन का डिज़ायन तैयार करता है। केवल नियमों के यन्त्रवत् पालन और नमूनों की नकल से हम वहाँ नहीं पहुँच सकते। जीवन की कला पुराने बोसीदा अभिनयों का रिहर्सल नहीं है। ब्लेक ने अपनी एक आकर्षक विरोधाभासपूर्ण उक्ति में कहा था, 'जो व्यक्ति कलाकार नहीं है, वह ईसाई भी नहीं है।' जीवन एक ऐसा खेल है जो तभी समाप्त होता है

जब ध्यान उसमें अवकाश ग्रहण करता है। उसके लिए दक्षता और साहस की आवश्यकता होती है। मार्हमी खिलाड़ी टेक्नीक में निपुण होता है। जब वह स्थिति को समझ लेता है तो वह सुनिश्चित अन्तर्बुद्धि से आगे बढ़ता है। जीवन की शतरंज की फड़ पर अलग-अलग मोहरों की अलग-अलग ताकतें हैं और उनके जोड़े अनेक तरह से बन सकते हैं और उनका भविष्य-कथन पहले से ही किया जा सकता है। अच्छे खिलाड़ी में सही कार्य की भावना होती है और वह यह अनुभव करता है कि यदि वह उस भावना के अनुसार कार्य नहीं करता तो वह अपने प्रति ही झूठा होगा। किसी भी नाजुक स्थिति में आगे चाल चलना एक सृजनात्मक कार्य है। वह अपनी प्रकृति के अनुसार आत्मा के भीतर से उद्भूत होता है। इसमें एक प्रकार की गुप्त और सजीव अनिवार्यता होती है।

नैतिक वीर अपने अन्तर की ताल और लय का अनुसरण करता है, जो उसे आगे की ओर चलने के लिए अनुप्रेरित करती है और उसमें अपनी नियति के आदेश का अनुगमन करने और अपनी आत्मा को पूर्णता प्रदान करने का सन्तोष रहता है। अपनी गहरी आन्तरिक प्रकृति का अनुसरण करने से, वह हममें से उन लोगों को, जो परम्परागत पैमानों का इस्तेमाल करते हैं, या तो मूर्ख प्रतीत होता है, या अनैतिक। किन्तु स्वयं उसके लिए आध्यात्मिक उत्तरदायित्व और कर्तव्य सामाजिक परम्परा से अधिक महत्त्वपूर्ण है। बाहर से थोपे गए नियम की अपेक्षा आन्तरिक संयम अधिक कीमती है। वह परम्परागत रिवाजी औचित्य के बजाय आन्तरिक सत्यता, पूर्ण गम्भीरता और ईमानदारी के लिए लालायित रहता है। वह अपने समाज को अधिक सुदृढ़ बुनियाद पर नये सिरे से ढालने के लिए संघर्ष करता है। यह हो सकता है कि उसका व्यवहार सतर्क परम्परावादियों की शिष्टता की भावना को चोट पहुँचाये और यह देखकर दुःख होता है कि गहरी दृष्टि और सृजन-शक्ति वाले लोगों को समाज के नेताओं के हाथों से उत्पीडन सहन करना पड़ा है, हालांकि यह ठीक है कि उत्पीडन हमेशा अकारण ही नहीं हुआ। ऐसे लोग अपने उदाहरण से इस दुःखद सत्य को सिद्ध करते हैं कि जब कोई व्यक्ति अपने साथियों से अधिक अच्छा हो जाता है तो वह उनकी घृणा का पात्र हो जाता है। हम अपने महान् पथ-प्रदर्शकों और उपदेष्टाओं का सम्मान सूली पर लटकाकर करते हैं। सम्भव है कि दुनियादारी का हिसाब-किताब करके चलने वाले लोग, जो बाहरी प्रदर्शन और आडम्बर में विश्वास करते हैं, बहुत नीचे स्तर पर न उतरें, किन्तु वे ऊँचाई पर भी कभी नहीं उठ सकते। केवल अत्यन्त गम्भीर व्यक्ति ही

अपने-आपको मूर्ख बना सकते हैं। ईसा का सन्देश पुराने यहूदी फारसी लोगों की मान्यताओं के मुकाबले रूढ़ि-विरोधी है। 'प्रेम करो और फिर जो चाहो, सो करो।' प्रेम हमें जीवन के अधिक गुह्य रहस्यों की ओर ले जाता है और सूक्ष्म बौद्धिक ज्ञान और थोड़े-से स्पष्टवादी नैतिक नियम हमें जीवन की जो अखंड दृष्टि प्रदान कर सकते हैं, उससे अधिक अखंड दृष्टि देता है। यद्यपि नैतिकता का तकाज़ा होता है कि हम उसके नियमों का पालन करें, किन्तु संसार की समस्त नैतिक प्रगति का श्रेय नैतिक रूढ़ियों को तोड़ने वालों को ही है।

समाज सब कार्यों को सुविज्ञात सामान्य पैमानों से नापता है। यह मानकर चलना है कि हर वस्तु पर वैज्ञानिक या अवैयक्तिक दृष्टि से विचार और आचरण किया जा सकता है। वह इन्सानों को मशीनें समझता है, हर व्यक्तिगत समस्या को सामान्य समस्या में परिणत कर देता है और प्रत्येक व्यक्तिगत कार्य के नैतिक मूल्य का निर्णय तत्सदृश विशिष्ट परिस्थितियों और नैतिक सूत्रों के अनुसार करता है। हम विचारों की एक यान्त्रिक प्रणाली के दास हैं। नैतिकता के तर्कवादी बौद्धिक नियम लचकीलेपन और उच्चता को शुद्धता और सगतता के आगे बलिदान कर देते हैं। जब हमारे बुद्धिवादी यह दावा करते हैं कि वे सिद्धान्तों पर चलते हैं, तब वे प्राण और ओज के गहरे स्रोतों से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं और उनके अन्तःकरण उनके मन के साथ संघर्ष करने लगते हैं। जीवन-प्रेम और आत्म-बलिदान ऐसी चीज़ें नहीं हैं कि उनकी इस तरह सहज में उपेक्षा कर दी जाए। संसार में कोई भी दो घटनाएँ या दो घटनाओं का परस्पर सम्मिलन एक-जैसा नहीं होता। हमें हरेक घटना को एक अद्वितीय स्थिति के रूप में परिस्थितियों के साथ एक सर्वथा स्वतन्त्र और सजीव समंजन के रूप में, देखना चाहिए, न कि एक पूर्व-कल्पित उद्देश्य के साथ यान्त्रिक समंजन के रूप में। केवल प्रभावग्राही संवेदनशील अन्तःकरण और गहरे प्रेम से युक्त मानव ही, जिन्होंने अपने-आपको एक उच्चतर स्तर पर पाया है, जिनके मन यथार्थताओं की गहरी भावना से निर्देशित हैं और जिन्होंने सत्य और उचित की विवेक-बुद्धि विकसित कर ली है, दूसरों की भावनाओं और समस्याओं को समझ और महसूस कर सकते हैं, वही ऐसे लोग हैं जिनमें अत्याचार को दूर करने में सफल न होने पर भी, उसे सहज करने की क्षमता होती है। उन्हें बुनियादी सत्यों का ज्ञान होता है, उन्होंने काल के बीजों को अपनी रहस्यभेदिनी दृष्टि से देख लिया होता है।

सर्वोच्च मुक्ति और आनन्द के क्षणों में ही हम अपनी आत्मा को अधिकतम

गहराई में या उसके निकट होते हैं। दैनिक जीवन में हम उन उपयोगी परम्पराओं और रिवाजों के अनुसार चलते हैं जिन्हें हमने सामान्य परिस्थितियों के लिए बनाया होता है और महान् संकट के क्षणों में भी हममें से बहुत से लोग अपनी सम्पूर्ण आत्मा के साथ अवसर को पकड़ने में असमर्थ रहते हैं। किन्तु संसार का कोई भी निकृष्टतम कार्य, कोई भी अप्रिय श्रम, कोई भी जघन्यतम आवेश ऐसा नहीं है जो हमारे अन्तर में विद्यमान आत्मा को आविष्ट करके हममें यह शान्त सन्तोष पैदा न कर सके उसके लिए आवश्यकता सिर्फ इस बात की है कि व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना से सजीव हो। सुकरात ने कहा था, 'सत्कर्म ही ज्ञान है।' यह ठीक है कि वह बौद्धिक ज्ञान नहीं है जो दूसरों को सिखाया जा सके। यह ऐसा ज्ञान है जिसका निर्भर मनुष्य की सत्ता के अधिक गहरे स्तर से फूटता है। यह मनुष्य के मन को उदात्त बनाकर, उसकी चेतना को प्रबुद्ध कर प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य आत्मा में जितनी गहराई तक जाता है, उतना ही उसका ज्ञान अपरोक्ष होता है। जिस व्यक्ति में नैतिक चेतना है, उसके लिए कर्तव्य का पथ उतना ही स्पष्ट है जितना कि कोई भी दूसरा ज्ञान। उसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान यथासम्भव पूर्ण सुनिश्चित होता है। नैतिक सत्य का ज्ञान भी हमें एक प्रकार से अन्तर्ज्ञान के रूप में प्राप्त होता है। यह ठीक है कि बाद में हम विचार-विमर्श से उस सत्य के लिए कारण और तर्कों को खोजते हैं।[1] जिसका जीवन-पथ अन्तर्दृष्टि से निर्देशित होता है वह अपनी गहरी चेतना को कवि या कलाकार की भाँति कविताओं और चित्रों में अभिव्यक्त नहीं करता, बल्कि एक उच्चतर किस्म के जीवन में अभिव्यक्त करता है। वह दावों और जवाबी दावों की दुनिया को पीछे छोड़ जाता है। वह ऐसी नैतिकता के प्रति उदासीन रहता है जो प्रतिबन्धों और सन्तुलनों का विषय है। कारण, उसकी सत्ता के लिए उच्चतम किस्म की नैतिकता की आवश्यकता होती है, जो नियम या कानून के रूप में नहीं, बल्कि प्रेम-स्वरूप हो। बुद्ध और ईसा जैसे महापुरुषों के जीवन न केवल सत्यमय और संयमी है, बल्कि उनमें कल्पनातीत सौन्दर्य भी है।

६. धार्मिक चेतना और अन्य मूल्य

धार्मिक चेतना न तो बौद्धिक क्रिया है, न नैतिक, न सौन्दर्य-बोधात्मक

१. तुलना कीजिए : ब्रेडले : 'किसी मामले में क्या सही है, इसका निर्णय हम अपने तात्कालिक निर्णय या अन्तर्ज्ञानात्मक विवेक से करते हैं।' (एथिकल स्टडीज, २२वाँ संस्करण, (१९२७), पृष्ठ १२४)।

और न इन सब क्रियाओं का योग। यदि यह आध्यात्मिक जीवन का एक ऐसा स्वतंत्र रूप है, जो इन सब तत्त्वों का समावेश करते हुए भी इन सबसे ऊपर है, तो धर्म का उद्देश्य न सिर्फ सत्य है, न अच्छाई न सौन्दर्य और न इन सबका मिश्रण, बल्कि उसका उद्देश्य ईश्वर है जिसमें ये सब मूल्य तो निहित हैं ही, साथ ही वह इनसे ऊपर भी है। मानव-मन मूल्यों की खोज करता है। वह ऐक्य और सामंजस्य, सहृश्वरता और सौन्दर्य, योग्यता और अच्छाई को पाने के लिए उद्योग करता है। सत्य, अच्छाई और सौन्दर्य, इन सभी मूल्यों के अपने विशिष्ट स्वरूप और लक्षण होते हैं। हम उनमें कोई पूर्वापर या ऊँच-नीच का क्रम नहीं बाँध सकते और न एक को दूसरे की श्रेणी में रख सकते हैं। हमारे पास इस बात के स्पष्ट प्रमाण और साक्ष्य हैं कि ये मूल्य निरपेक्ष और पूर्ण हैं और इनका अर्थ है ईश्वर में विश्वास। ये ईश्वर के विचार हैं और हम उसी के विचार के अनुसार सोचते हैं। सत्य, सौन्दर्य और अच्छाई सच्ची, सुन्दर और अच्छी वस्तुओं की भाँति पृथक् रूप में विद्यमान नहीं हैं, फिर भी वे उन व्यक्तियों, वस्तुओं और सम्बन्धों के समान ही वास्तविक हैं, जिन्हें उनका कारण बताया जाता है। इन मूल्यों को हम इन्द्रियों और तर्क-बुद्धि से नहीं जानते बल्कि धर्मशास्त्रकारों के शब्दों में हम उन्हें अन्तर्ज्ञान या विश्वास से जानते हैं।[1] सत्य, सौन्दर्य और अच्छाई इस अन्तर्ज्ञान के फलस्वरूप सर्वोच्च यथार्थ सत्ता नहीं रहते, बल्कि ईश्वर के अस्तित्व और तत्त्व के अंग बन जाते हैं। बाह्य मूल्यों से हम एक ऐसे मन पर पहुँचते हैं जो सब मनों का स्तम्भन करता है। जिसमें ये मूल्य निहित रहते हैं। इस प्रकार उनमें एक वस्तुनिष्ठता आ जाती है और वे सिर्फ हमारे व्यक्तिगत मनों पर ही निर्भर नहीं रहते। इस प्रकार ये मूल्य एक ईश्वरीय चेतना में अवस्थित रहने के कारण गतिहीन आदर्श नहीं रहते बल्कि गतिशील शक्तियाँ बन जाते हैं। उस समय धार्मिक चेतना स्पिनोज़ा की 'आमोर डेई इण्टलेक्चुआलिस' (ईश्वरीय प्रेम की भावना) बन जाती है। वह आमोर (प्रेम) इसलिए है क्योंकि उसमें स्पष्टता और

[1]. यह दुर्भाग्य की बात है कि हमें वैज्ञानिक प्रतिभा, कवि की अन्तर्दृष्टि, नैतिक अन्तःकरण और धार्मिक विश्वास, इन सभी के लिए अंग्रेजी में एक ही शब्द 'इण्ट्यूशन' (अन्तर्ज्ञान) का प्रयोग करना पड़ता है। यद्यपि ये सभी विभिन्न गतियाँ मन की अखंड क्रियाएँ हैं तो भी उनमें से कुछ का सम्बन्ध ज्ञान से होता है और कुछ का आनन्दोपभोग या सृजन से हिन्दू दर्शन में 'प्रतिभा' शब्द सृजनात्मक अन्तर्ज्ञान को और 'आर्षज्ञान' ऋषियों के धार्मिक अन्तर्दर्शन को प्रकट करने के लिए व्यवहार में लाया जाता है। (देखिए 'इंडियन फिलासफी' भाग २, द्वितीय संस्करण (१९३१), पृष्ठ ६८)।

आत्मीयता है, वह आनन्दमय और हार्दिक है, वह आमोर इण्टलैक्चुआलिस (प्रेम की भावना) इसलिए है क्योंकि वह एक अधिक तीव्र अनुभूति और अवबोध पर निर्भर है, और वह आमोर डेई (ईश्वरीय प्रेम) इसलिए है, क्योंकि सभी मूल्यों का सम्बन्ध ईश्वर के अस्तित्व में जोड़ा जाता है।

हमारे जीवन के सज्ञानात्मक, सौन्दर्यबोधात्मक और नैतिक पक्ष चाहे कितने ही सप्राण और महत्वपूर्ण हों, किन्तु है वे अलग-अलग पक्ष। परन्तु धर्म में उन सबका समावेश और अन्तर्भाव हो जाता है। विज्ञान उस नियम के सम्बोध का प्रयत्न करता है जो सारे विश्व को थामे हुए है, कला विश्व की रचना में गुँथे हुए सौन्दर्य को अनावृत करने का प्रयत्न करती है और नैतिकता उस अच्छाई (शिव) को साकार करने का प्रयत्न करती है, जिसकी प्राप्ति के लिए यह ब्रह्माण्ड उद्योग कर रहा है। अपनी पूर्ण अवस्था में ये सभी विभिन्न आकांक्षाएं एक दूसरे में विलीन हो जाती है, तो भी प्रक्रिया की दशा में इनमें से हरेक अपूर्ण प्रतीत होती, हालांकि यह सच है कि सच्ची कला, सच्चा दर्शन और सच्ची नैतिकता को अकेले प्राप्त नहीं किया जा सकता, सभी कुछ-न-कुछ मात्रा में परस्पर मिले रहते हैं। मनुष्य की प्रकृति अलग-अलग हिस्सों से बनी हुई नहीं है जो एक-दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र हों। सत्य के लिए हमारी सहजात वृत्ति, हमारी नैतिक बुद्धि और कलात्मक स्पृहा, सब परस्पर एक अंगी के रूप में बँधे हुए हैं, किन्तु जब तक वे अंगी के रूप में आबद्ध नहीं होते, जब तक वे एक पूर्ण अवयवी नहीं होते, तब तक विचार निरर्थक होता है, भावना क्षुद्र रहती है और क्रिया अपरिष्कृत होती है। कला जिस समस्वरता को अभिव्यक्त करती है वह अस्थायी और क्षणिक हो सकती है, एक स्वप्न हो सकती है, सम्भव है, वह आकांक्षा न हो और आत्मार्पण तो हो ही नहीं। हो सकता है कि कलाकार बौद्धिक दृष्टि से दुर्बल और नैतिक दृष्टि से क्षुद्र हो, किन्तु महानतम कलाकार के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। इतिहास के महापुरुष अपने सौन्दर्य-बोध के लिए विख्यात नहीं है और न ही महान् कलाकार नैतिकता के आदर्श नमूने रहे हैं। ठीक-ठीक कहा जाए तो हम यह कह सकते हैं कि जो कला नैतिकता से पूर्णतः रहित है, जिसकी जड़ें हमारी गम्भीरतम नैतिक वृत्ति में नहीं हैं, जो ससार में विद्यमान दिव्यता की ओर प्रवृत्त नहीं होती, वह सच्ची कला नहीं है। यह हो सकता है कि दर्शन की अन्तर्दृष्टि स्थायी और सुनिश्चित न हो, यह भी हो सकता है कि दर्शन के सत्य कला के विचारों से किसी भी तरह जीवन को अधिक प्रोत्साहन और प्रेरणा न दे सकते हों। इसीलिए हमे तीनों

की इकट्ठी आवश्यकता है; मज्ञानात्मक प्रकाश, भावनात्मक स्थिरता और क्रियात्मक शक्ति, आन्तरिक ज्योति, अवर्णनीय सौन्दर्य और उत्साह की तीव्र आग; एक ऐसा जीवन हमें चाहिए जिसमें ये तीनों आपस में सम्बद्ध हों, जिसमें जो कुछ हम देखते हैं, जो हमारी श्रद्धा का विषय है और जो जीवन हम व्यतीत करते हैं, वे सब एक हो जाएँ। यही धर्म का सार है, जिसे हम जीवन का सश्लिष्ट रूप कह सकते हैं। धार्मिक मनुष्य को यह ज्ञान होता है कि संसार में सभी कुछ अर्थपूर्ण है, उसमें यह अनुभूति रहती है कि विग्रहों और विरोधों की तह में भी एक समस्वरता और एकता अन्तर्निहित है। साथ ही उसमें उस अर्थवत्ता और समस्वरता को साकार करने की शक्ति भी रहती है। वह सत्य, शिव और सुन्दर तीनों की पृष्ठभूमि में एक ईश्वर को ही, जो अन्दर भी है और बाहर भी, देखता है। जिस सत्य को हम जानते हैं, जिस सौन्दर्य को हम अनुभव करते हैं और जिस शिव की हम साधना करते हैं, वह ईश्वर ही है जिसे हम आस्तिक न होकर विश्वासपूर्वक जानते हैं। कला या सौन्दर्य या अच्छाई अकेले हममें धार्मिक अन्तर्दृष्टि पैदा न कर सकें, परन्तु परस्पर सश्लिष्ट होकर वे हमें अपने से एक ऊँची चीज की ओर ले जाते हैं। धार्मिक व्यक्ति एक नयी दुनिया में रहता है जो उसके जीवन को प्रकाश से, उसके हृदय को आनन्द से और उसकी आत्मा को प्रेम से भर देती है। ईश्वर को वह प्रकाश, प्रेम और जीवन के रूप में देखता है।

धार्मिक अन्तर्ज्ञान सर्वसमावेशी ज्ञान होता है, जो समस्त जीवन को व्याप्त कर लेता है। मनुष्य में विद्यमान आत्मा अनेक प्रकार से अपने-आपको पूर्णत्व की ओर ले जाती है, किन्तु सबसे अधिक पूर्णत्व धार्मिक जीवन के रूप में होता है। इसी में मनुष्य की चेतना पूर्ण रूप में और एक ही साथ उद्बुद्ध होती है। यद्यपि हरेक प्रतिभाशाली व्यक्ति अपने-अपने ढंग से आत्मा के उत्थान और विकास के क्षेत्र में अग्रणी होता है, तथापि धार्मिक प्रतिभा में हम आन्तरिक जीवन की विभिन्न शक्तियों को एक साथ उदात्त और विकसित रूप में पाते हैं। धार्मिक व्यक्ति समस्त या अधिकतर उच्च और गहन शक्तियों, काल्पनिक दृष्टि, बौद्धिक शक्ति, भावनात्मक उत्साह और क्रियात्मक ऊर्जा का परस्पर सम्मिश्रण करता है। एक अखंड पूर्ण जीवन, जो किसी भी प्रकार के भ्रम, भूल या विकृति से मुक्त हो, सर्वथा अनासक्त, निष्काम और अवैयक्तिक जीवन होगा। कुछ लोग अत्यधिक स्पष्ट और जीवन्त रूप में रचनात्मक होते हैं, जिस समाज में वे रहते हैं, उसे वे अपनी कल्पना और दृष्टि के अनुसार नये सिरे से ढाल सकते हैं।

ये व्यक्ति ऐसी आत्माएँ होते हैं जिनका कायाकल्प हो गया है, नया रूपान्तर हो गया है, जिनकी हरेक शक्ति अपने उच्चतम विकास की दशा में पहुँच गई है। उन्हीं में ब्रह्मांड अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति पाता है, उनमें ईश्वर अपने-आप को दूसरों से ज्यादा अभिव्यक्त करता है। ईश्वर के नशे से मदिर उनकी मुखाकृतियों की रेखाओं में ब्रह्मतेज की दीप्ति होती है। वे बिलकुल अलग किस्म के ही आदमी होते हैं, इस संसार की माया और मोहिनी से बिलकुल विमुक्त। जन-साधारण के साथ उनका सम्बन्ध नहीं होता है, जो कला के पारखियों और प्रेमियों के भारी समुदाय के साथ कला के महान् स्रष्टाओं का होता है। जब कोई प्रतिभा-शाली कलाकार किसी सुन्दर कलाकृति की रचना करता है तो वह कोई व्यक्तिगत अन्तरंग रहस्य नहीं रहती, बल्कि समस्त मानव-जाति द्वारा समादृत सर्व-सामान्य थाती बन जाती है। जब ईश्वर के साथ साक्षात्कार करने वाले धर्म-प्रवर्तक प्रतीकों के द्वारा उन सत्यों को उद्घाटित करते हैं जिनको उन्होंने आविष्कृत किया होता है, तो हम स्वयं आहिस्ता-आहिस्ता और धैर्य से उन्हें पुनः अपने लिए आविष्कृत करते हैं। वे धन्य आत्माएँ, जो समस्त मानव-जाति का पथ-निर्देश करने के लिए पहला कदम उठाती है या दैनिक जीवन में सौन्दर्य लाती हैं, वे अपने ये मूल्य दूसरों को देने का भी प्रयत्न करती हैं और धर्म की भाषा में ईश्वर की महानता और कृपा के अनुरूप जीवन-यापन का प्रयत्न करती है।

जिस प्रकार वैज्ञानिक प्रतिभा और लड़खड़ाकर भारी कदमों से चलने वाला बुद्धि में काव्यात्मक ऊर्जा और तुकबन्दी की योग्यता में, और नैतिक साह-सिकता और परम्परागत अच्छी प्रथा या रूढ़ि में अन्तर होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और धार्मिक बुद्धिवादिता में भी अन्तर होता है। धार्मिक बुद्धिवादिता की मान्यता यह है कि ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाणों से ही धर्म में दिलचस्पी पैदा होती है, जबकि आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि हमें अपनी चेतना को उस स्तर तक ऊँचा उठाने की प्रेरणा देती है जहाँ पहुँचकर वह ईश्वर को देख सकती है। अन्तर्ज्ञानी ऋषि और द्रष्टा नपी-तुली निश्चित बातें नहीं कहते और न बिलकुल स्पष्ट परिभाषाएँ और लक्षण देते हैं।[1] वे प्रतीकों और अलंकारों,

१. तुलना कीजिए, एरेसमस : 'हम युगों से यह विवाद करते आ रहे हैं कि क्या ईश्वर का मानव के प्रति प्रेम और मानव का ईश्वर के प्रति प्रेम एक ही चीज है? हम इस बारे में एकमत नहीं हो सके कि होली फादर (पिता) और होली सन (पुत्र) में क्या भेद है और दोनों का पवित्र आत्मा (होली घोस्ट) से क्या अन्तर है····· और जब तीनों में से कोई भी

कथात्मक उपदेशों और चमत्कारों की भाषा में बात करते हैं। किन्तु यह मानवीय मन का नियम है कि वचनों की भावना खत्म हो जाती है और उनके शब्दों को महत्व मिल जाता है, वाह्य सामग्री कायम रहती है और अर्थ लुप्त हो जाता है। अन्तर्ज्ञान सैद्धान्तिक मान्यता नहीं है। दोनों में मात्रा का ही नहीं, किस्म का भी अन्तर है। यह अन्तर ईश्वर को अनुभव करने और उसे जानने का अन्तर है। हमें ईश्वर का अन्तर्ज्ञान (साक्षात्कार) तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हम अपनी सम्पूर्ण सत्ता से उसके लिए प्रयत्न न करें। अनुभव को अर्जित करना पड़ता है, प्रयत्न, आकांक्षा और तपस्या, विश्वास और संघर्ष की कीमत चुकाकर लेकिन बुद्धिजीवी लोग उसे बहुत सस्ते में प्राप्त करना चाहते हैं। हर धर्म में उसके अनुयायियों की बहुसंख्या यह चाहती है कि सच्चे अर्थों में धार्मिक बने बिना धर्म के आश्वासन और फल का उपभोग कर सकें। वे लोग धार्मिक होते हैं, किन्तु अपने सर्वांग से या अपनी आत्मा से नहीं, बल्कि अपने दिमाग से और कभी-कभी केवल अपने मेरुदण्ड से ही। धर्म-प्रचारक और पुजारी लोग मानव-प्रकृति की कमजोरी का लाभ उठाकर हमें यह उपदेश देते हैं कि यदि हम अपनी रक्षा चाहते हैं तो हमें ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास रखना चाहिए। भावनाहीन यंत्र के समान ईश्वर को सिद्ध करने वाले धार्मिक दर्शन-शास्त्र और जड़ कर्मकाण्ड में वे बहुत व्युत्पन्न होते हैं और अपने क्षेत्र में उनकी क्षमता काफी होती है, परन्तु नाजुक घड़ी आ जाने पर वे पर्याप्त सक्षम सिद्ध नहीं होते। किन्तु जिन धर्म-प्रवर्तक ब्रह्मज्ञानियों में सृजनात्मक भावना होती है उनका धर्म-प्रचारकों और पुजारियों के साथ इस बात को लेकर संघर्ष चलता रहता है कि वे पुरानी बातों की अतिरंजनापूर्ण पुनरावृत्ति करते रहते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य की आत्मा और भावना तभी जीवित होकर व्यापृत होती है जबकि जिस साँचे में वह ढली है, उसे तोड़ दिया जाए। यही कारण है कि वे रूढ़िवादी होने के बजाय रूढ़िभंजक

अपने से भिन्न नहीं है तब उनमें से कोई भी कैसे हो सकता है "इस वहम मुबाहसे और अटकलों में अनेक लोगों की पूरी-की पूरी जिन्दगियां बरबाद हो गईं। इस विवाद को लेकर लोग झगड़ते हैं, गाली-गलौज करते हैं और हाथापाई पर उतर आते हैं... विद्वानों और धर्मशास्त्र के विद्यार्थियों में अनेक पीढ़ियों से यह विवाद चला आ रहा है कि क्या यह तर्क-वाक्य सही है कि ईसा अनादि काल से विद्यमान है, वह दो प्रकृतियों का 'संयोग' है या दो प्रकृतियों का 'समवाय' "और इस सारे मामले को, जिसके बारे में न तो हम कुछ जानते हैं और न हमें कुछ जानने की जरूरत है, वे लोग हमारे समस्त धार्मिक विश्वास का दुर्ग समझते हैं।' (१ टिमोथी I. ६ पर नोट)।

अधिक होते हैं। उन्हें अधार्मिक और समाज-द्रोही समझ लिया जाता है। प्रायः उन्हें बहिष्कार और मृत्यु का शिकार बनना पड़ता है, किन्तु धर्म के क्षेत्र में होने वाली समस्त प्रगति इन उत्पीड़ित आत्माओं के कारण ही होती है। वे संसार में ईश्वर के जीवन को अधिक गहरा और समृद्ध बनाते हैं और जहाँ धर्म-प्रचारक और पुजारी ईमानदार और जिज्ञासु मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकते, वहाँ ब्रह्मज्ञानी लोग उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

कट्टर सिद्धान्तवाद एक बौद्धिक धर्म का खतरा है जो एक ऐसे ससार के लिए, जिसमें हर वस्तु का एक नियत प्रतिमान निश्चित करने की प्रवृत्ति और मात्रा की अधिकता को वैयक्तिकता और किस्म की श्रेष्ठता से अधिक महत्व दिया जाता है, बहुत आकर्षक है। जब कट्टर सिद्धान्तवादिता का ह्रास होने लगता है तो हम घबराने लगते हैं कि कहीं धर्म ही लुप्त न हो जाए। यदि हम धर्म-सम्बन्धी आकारों और औपचारिकताओं को अन्तिम और अपरिवर्तनीय मान लें तो उनकी जड़ें हिलती देखकर हमारा सशयालु और आशंकित होना स्वाभाविक है। किन्तु यह सौभाग्य की बात है कि धर्मों के महान् ऋषि और प्रवर्तक लोग किन्हीं निश्चित और अपरिवर्तनीय सिद्धान्तों या कर्म-काण्डों का विधान नहीं करते। वे आत्मा को अपनी एकाकी तीर्थ-यात्रा के पथ पर आमन्त्रित करते हैं और उसे पूर्ण स्वाधीनता प्रदान कर देते हैं, क्योंकि उनका यह विश्वास है कि ईश्वर को अपनी प्रतिभा के अनुसार स्वतंत्र और निर्बाध रूप से अपनी आत्मा में पाना ही आध्यात्मिक जीवन के लिए अनिवार्य शर्त है। मानव-प्रकृति एक जीवन है जो बढ़ना और विकसित होना चाहता है। वह 'मिट्टी नहीं है जो यह इन्तजार करे कि कोई आकर उसे साँचे में ढाले'। धार्मिक प्रतिभाशाली महापुरुषों के उदाहरण मोटे तौर पर मनुष्य के पथ-प्रदर्शन के लिए उपस्थित रहते हैं और जब उनका सम्बन्ध किन्हीं सगठनों से होता है तो भी वे उसमें जीवन की भावना बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं। उन्हें एक महान् जीवन को ऐसे कट्टर और अपरिवर्तनीय नियम या सूत्र में परिणत करने की, एक गुह्य रहस्य को एक ऐसी दार्शनिक प्रणाली में परिवर्तित करने की जल्दी नहीं होती, जिसे हर व्यक्ति रट सके। यदि हमारे मन्दिर, मस्जिद और गिरजे यह समझें कि उनका मुख्य कार्य हमें पवित्र ज्ञान देने के बजाय हमारी आत्मा को उद्बुद्ध और सजग करना है तो वे ईश्वर के ऐसे मन्दिर बन जाएँगे जिनमें व्यापकता और औदार्य का साहस होगा और जो अपने आध्यात्मिक वातावरण में विभिन्न धार्मिक विचारों और रुचियों के लोगों का

स्वागत कर सकेंगे। वे एक ऐसे अदृश्य धार्मिक सम्प्रदाय की भूमिका तैयार करेंगे जो समस्त सद्भावनाशील मानवों का आलिंगन करेगा। जीवन और वातावरण मान्यता और बँधे हुए धार्मिक विधान की विरोधी वस्तुएँ हैं। जीवन या वातावरण की सम्भावनाएँ अगणित और अपरिमेय हैं और उसमें विभिन्न मतों के लोगों के विचार-भेद के लिए पूरी गुंजायश रहती है। यदि हमारा यह विश्वास हो कि मनुष्य को उसके मन की कोमलता के लिए किसी सहारे की आवश्यकता है तो हम उसे प्रतीक और उदाहरण प्रदान कर सकते हैं, किन्तु उसके बाद शेष सब-कुछ हमें मनुष्य के अन्तर में विद्यमान ईश्वर पर ही छोड़ देना चाहिए। सुकरात की भाँति सच्चा उपदेशक केवल दाई का काम करता है। हिन्दू-धर्म के समान किसी धर्म में निश्चित आकार का जो अभाव है वह मुझे एक उच्चतर किस्म की निश्चितता का द्योतक प्रतीत होता है। धर्म का अर्थ है ब्रह्माण्ड में ईश्वर के साथ चेतन ऐक्य और उसका मुख्य साधन है प्रेम।

७. सृजनात्मक अन्तर्ज्ञान :

संज्ञानात्मक, सौन्दर्य-बोधात्मक, नैतिक या धार्मिक प्रवृत्तियों में जो सृजनात्मकता है वह अन्तर्ज्ञानात्मक विचार या आध्यात्मिक चेतना में उत्तेजित और उद्दीप्त विचार का परिणाम है। जीवन की इस सृजनात्मक ऊर्जा के न होने पर किसी भी क्षेत्र या दिशा में महानता, उदात्तता और पूर्णता नहीं आती। मानव-जगत् के महापुरुष, उसके बुद्ध और ईसा, उसके प्लेटो और पॉल, सभी एक ही साँचे में ढले हैं, जीवन के एक ही स्रोत से उन्होंने प्रेरणा ग्रहण की है। उन्होंने आत्मा की अथाह गहराइयों को स्पर्श किया है और उस अविभक्त, अवैयक्तिक मूलोद्गम में उनकी वाणी प्रस्फुटित होती है, जहाँ से हमारे व्यक्तिगत विचार, भावनाएँ और आकांक्षाएं पैदा होती हैं। विचारक, कलाकार और महापुरुष सच्चे अर्थों में धार्मिक होते हैं, भले ही वे धार्मिक भाषा का उपयोग न करें और भले ही धार्मिक भाषा का कभी-कभी वे तिरस्कार तक कर दें। कारण, वे व्यक्ति और विश्व के बीच की दीवारों को गिरा देते हैं। उनमें वह मधुर भव्यता, वह शान्त त्याग, वह धैर्यपूर्ण विश्वास होता है, जो सिर्फ उन्हीं लोगों में से हो सकता है जो एक दूसरी दुनिया में, आत्मा की दुनिया में, रहते हैं। वे एकाकी रहते हैं, आत्म-केन्द्रित रहते हैं, किन्तु स्वेच्छा से नहीं, बल्कि मजबूरी में। कारण, प्रतिभा और प्रज्ञा सामूहिक कार्य की वस्तु नहीं हैं। कवियों और आत्मज्ञानी साधुओं की

जमातें और कमेटियाँ नहीं होतीं।

८. मानव में अध्यात्म-चेतना :

यदि हम से यह पूछा जाए कि मानव में विद्यमान आत्मा ठीक-ठीक क्या चीज है तो उसका कोई निश्चित उत्तर देना कठिन होगा। हम उसे जानते हैं, किन्तु व्याख्या करके समझा नहीं सकते। वह सर्वत्र अनुभव होती है, दिखाई कहीं नहीं देती। वह न भौतिक देह है, न प्राण, न मन और न इच्छा, बल्कि वह इन सबका अन्तर्निहित आधार है, इन सबको थामे हुए है। वह हमारी सत्ता का आधार और पृष्ठभूमि है, एक सर्वातिव्यापी सत्ता है जो इस या उस आकार और सूत्र में बाँधी नहीं जा सकती। 'जो मन से मनन नहीं किया जाता, बल्कि जिससे मन मनन किया हुआ कहा जाता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो। जिसकी लोक उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है।'[1] उपनिषद् में एक उपमा है जिसमें समान वृक्ष पर बैठे दो सयुज और सखा पक्षियों (ईश्वर और जीव) का वर्णन है, जिनमें से एक स्वादु फल का भक्षण करता है और दूसरा बिना कुछ खाए केवल उसे देख रहा है। आत्मा निष्काम और अनासक्त होकर देख रही है, उसका आनन्द पवित्र और पूर्णतः मुक्त है, और आनुभविक 'आत्मा' (सैल्फ) जीवन के काम-काज में व्याप्त है। इनमें से प्रथम अधिक व्यापक, अधिक गहरी और अधिक सत्य है, किन्तु सामान्यतः वह हमारे ज्ञान से ओझल रहती है। जब महान् ज्योति हमारी बुद्धि को द्योतित और प्रेरित करती है तब हमें प्रज्ञा अर्थात् अन्तर्ज्ञान प्राप्त होता है, जब वह इच्छा को आन्दोलित करती है तो हममें वीर भावना और महानता पैदा होती है, जब वह हृदय के बीच से प्रवाहित होती है तो हममें प्रेम का उदय होता है और जब वह हमारी सत्ता को रूपान्तरित कर देती है तब मानव-पुत्र ईश्वर-पुत्र बन जाता है। आत्मा की आग को किसी भी वेदी पर प्रज्वलित करो, उसकी ज्वाला स्वर्ग तक पहुँचती है। उसकी शक्तियाँ असीम हैं, उसके स्वप्न फरिश्तों के स्वप्न हैं, उसके बोध दिव्य हैं। उसकी अभिव्यक्ति किसी प्राकृतिक सीमा में बँधी हुई नहीं है, उसकी सम्भाव्यताएँ सर्व-समावेशी हैं। जहाँ कहीं प्रतिभा है, उत्साह है, वीरत्व है, वहाँ सृजनकारी आत्मा काम कर रही है, भले ही वह कितने ही कुहेलिकाच्छादित और अपरिष्कृत रूप में हो। उपलब्धि की पूर्णता हमेशा सन्तोषप्रद होती है। वह ईश्वर की, दिव्य की, झाँकी होती है। प्रेरणा

[1] केन उपनिषद्, १.५।

किसी भी रूप में हो, हमारे भीतर विद्यमान विश्व-आत्मा का ही रूप होती है; इस सत्य की चेतना केवल धार्मिक व्यक्ति में ही रहती है।[1] वह जानता है कि उसका सच्चा स्वरूप एक विश्वव्यापी वस्तु है जो उसके सामान्य अहम् को उसकी उच्चतम प्रवृत्तियों में प्रभावित करता है और इसीलिए वह उसके प्रति कृतज्ञता और भक्ति की भावना से अनुप्राणित होता है।

अपने चेतन जीवन की हलचल और कोलाहल में हम अपनी सत्ता के इस रहस्य की ओर ध्यान नहीं देते। हम यह अनुभव नहीं करते कि हममें ऐसी संवेदनशीलताएँ हैं, जो हमारे सामान्य जीवन से भिन्न किस्म की हैं, यथार्थ के बोध की ऐसी विधियाँ हैं जो विशुद्ध रूप में तार्किक नहीं हैं। हममें इस बात की पर्याप्त चेतना नहीं होती कि हम वास्तव में क्या हैं, कौनसे अदृश्य धागे हमें ब्रह्माण्ड से जोड़े हुए हैं। इससे भी बुरी बात यह कि कभी-कभी हम अपने भीतर विद्यमान परम आत्मा को, जो हमारी *अन्तर्दृष्टि की चमक, आकस्मिक अन्तर्ज्ञान* और अप्रत्याशित भावनाओं का कारण है, भूल से अपने अस्तित्व की आद्य और मूल अवस्था समझ लेते हैं। मनोविज्ञानविश्लेषक हमारी उद्दीप्त चेतना के क्षणों को, हमारे भीतर विद्यमान अविकसित शक्ति के उद्बोधन मानने के बजाय, 'भावग्रन्थियों' (कॉम्प्लेक्स) के रूप में उनकी व्याख्या करते हैं। प्रतिभाशाली व्यक्ति वह नहीं है, जो कभी-कभी अपनी सत्ता के आद्य मूल तत्त्वों में पहुँच जाता है, बल्कि प्रतिभाशाली व्यक्ति वह है, जिसमें हम आध्यात्मिक मानव बनने की सम्भाव्यताओं का पूर्वाभास पाते हैं। उसमें दमन की हुई और मथन आद्य नैसर्गिक आकांक्षाओं की चेतना नहीं होती, बल्कि आत्मा की वह उच्चता और महत्ता होती है जो उसे सामान्य व्यक्ति से ऊँचा उठा देती है।

अन्तर्ज्ञानात्मक चेतना के अपने विश्लेषण से हमें यह ज्ञान होता है कि हम स्वयं वह अविभाज्य विश्व-आत्मा हैं और जिस आनुभविक संसार से हम

1. 'एक ग्रीक मूर्तिकार ने अपनी मूर्ति बनायी और जब वह पूरी तैयार हो गई तो वह उसके सामने घुटने टेककर गिर पड़ा। उसने अनुभव किया कि उसका सौन्दर्य उसकी अपनी सृष्टि नहीं है, बल्कि एक दिव्य सौन्दर्य है। मिल्टन ने स्वर्ग की देवी सरस्वती की जो आराधना की थी वह कवि परम्परा नहीं थी। और जिसे हम साहित्य में प्रतिभा की चेतना कहते हैं, वर्ड्सवर्थ के लिए वह वास्तव में विचार और प्रेम की आत्मा के प्रति, जो अपने-आपको प्रकृति में अभिव्यक्त करती है और मानवता के विचार और प्रेम में अधिक पूर्ण रूप में अभिव्यक्त होती है, निर्भरता, भक्ति और उसके साथ ऐक्य की चेतना थी।' (बॅडले : ए मिसलेनी (१९२६), पृष्ठ २३५-२३६)।

परिचित है वह हमारे एक सीमित अंश द्वारा, जो जागृत चेतना में सक्रिय रहता है, पैदा की गई व्यवस्था है। यदि हम अन्तर्मुख होना सीख लें तो हम अपने भीतर विद्यमान परम सत्ता की, जो हमारा अधिक वास्तविक, गम्भीर, शान्त और आनन्दपूर्ण 'स्व' है, जो समस्त दृश्यमान जगत् को थामता और पोषित करता है, पुकार को सुन सकेंगे।

हम आत्मा की यह महानता तब तक नहीं प्राप्त कर सकते, जब तक कि प्रबोधोदय से हमारा नया जन्म न हो। जो लोग उस उच्चता तक पहुँच गए हैं उनका सचमुच ही नया जन्म होता है। यद्यपि यह गुण, यह नया जन्म हमें केवल मानवता के महापुरुषों के जीवनों में ही नजर आता है, तथापि हम सब उससे विरहित नहीं होते। सम्भव है कि हम अपने भीतर उस महानता का विकास न कर सके हों, किन्तु जिन्होंने उसे विकसित कर लिया है, उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए हम सदा उद्यत रहते हैं। महान् पुरुषों के विचार, उनकी समाधि की अवस्थाएँ और उनके महान् कार्य हममें उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा की भावना पैदा करते हैं। यदि हममें उस परम आत्मा का वास न होता तो कला, विज्ञान और जीवन की महान् कृतियों को देखकर हम कभी आनन्द से पुलकित न होते। हम यह दावा करते हैं कि उनमें जो गहरी अर्थवत्ता है, उनमें जो वीरत्व और भव्यता है, उनमें समाहित चित्र की जो दिव्य दृष्टि है, वह हमारी अपनी है। कवि की ताल और लय को हम अपनी आत्मा की ताल और लय में सुनते है, उनके शब्दों की प्रतिध्वनि हमें अपने शब्दों में मिलती है। प्लेटो के शब्दों में, हमारे समूचे जीवन में छायी हुई चमक, हमारे भीतर विद्यमान किन्तु अनावृत परम आत्मा का सहसा हमें प्रत्यास्मरण हो आता है। एक व्यक्ति की हृदय की गहराइयों से निकली वाणी हजारों मूक वाणियों को मुखर कर देती है। कवि के शब्दों को हम अपनी ही स्वाभाविक वाणी कहते हैं; दार्शनिक के विचारों को हम अपने निज के उच्चतम विचार कहते है। सन्त की पूर्णता की अवस्था की प्राप्ति के लिए हम स्वयं भी कामना करते है और यह मानते हैं कि हम भी साधना करें तो उसे प्राप्त कर सकते हैं। हम किसी वस्तु को समझ और हृदयगम तभी कर सकते हैं जबकि उसमें कुछ हमारा अपनापन हो। जब कोई चित्र, कविता या महान् जीवन हमारे भीतर आश्चर्यजनकता का प्रभाव पैदा करता है, तो हमें यह निश्चित विश्वास होता है कि हमारे अन्तर में भी कोई आश्चर्यमय वस्तु है जिस पर उस बाह्य वस्तु की आश्चर्यजनकता की अनुक्रिया होती है।

यदि हममे प्लेटो की भावना न हो तो हम प्लेटो को कदापि नही समझ सकते। ईसा को समझने के लिए हमें ईसा के मन की आवश्यकता है।

क्रोचे का यह विचार, कि सौन्दर्यबोधात्मक अनुभव एक सक्रिय सृजन है, एक महत्त्वपूर्ण सत्य को अभिव्यक्त करता है, हालांकि इसमे उसने कुछ अतिशयोक्ति कर दी है। जब हम कविता का रस लेते हैं तब भी हमारा मन एक सक्रिय अन्तर्ज्ञान और उसकी अभिव्यक्ति मे रत रहता है, भले ही हमे उसका सचेतन भान न हो। हमारी वृत्ति यह रहती है कि कवि का आशय मेरे लिए भी आशय होना चाहिए, वह जिस बिम्ब की ओर सकेत कर रहा है, वह मेरे मन मे भी रहना चाहिए, और उसके विचार मुझे भी सोचने चाहिएँ। किसी कलाकृति मे मैं दूसरे के विचारों को तब तक नही देख सकता जब तक कि वे मेरे अपने न हो जाएं। हम महान् कविता को तब तक समझ नहीं सकते जब तक कि हम स्वय भी उसके सदृश कुछ अनुभव न करें। हमे ईश्वर का या अदृश्य जगत् का ज्ञान तब तक नही हो सकता जब तक कि उसकी वाणी स्वय हमारे हृदयो में सुनायी न पड़े। हममे से किसी के भी अन्तर में परम आत्मा की चिनगारी पूर्णतः बुझी हुई नही है, ईश्वर का बिम्ब पूर्णतः मिटा हुआ नहीं है। शोपनहॉर के शब्दों मे, केवल ब्रह्मज्ञानी ऋषि ही, जिनके भीतर ईश्वर केवल उपस्थित ही नही है, बल्कि जिन्होने उसका साक्षात्कार भी कर लिया है, हमे अपनी आँखें दे सकते हैं और फिर हम उनके साथ ही उसे देखने लगते हैं। वे हमें विश्व को एक नये ढंग मे जानने, प्रेम करने और उसका मूल्यांकन करने की शक्ति देते हैं। हम अपनी क्षमता के अनुसार भव्य और उदात्त जीवन की उनकी झाँकी में हिस्सा बँटाते हैं। जिस प्रकार कला के रसिक और पारखी भी कुछ अंश मे कलाकार होते हैं, उस प्रकार पैगम्बरों और ऋषियो के वचनों को हृदयंगम करने वाले भी अंशतः पैगम्बर और ऋषि होते हैं।

समस्त सच्चे महापुरुषों मे हमे ज्योतित करने, हमारा कायाकल्प करने, हमें क्षुद्र और तुच्छ मे, अस्थायी और सामयिक से मुक्त करने की शक्ति होती है। वे केवल हमारी इन्द्रियों को या हमारे मन के स्वार्थों और रुचियो को ही तृप्त नही करते, बल्कि वे हमारी आत्माओं को स्पर्श करते हैं और हमारे सारे जीवन को बदल देते हैं। उनकी सहायता से हमें जीवन के अर्थ की और अधिक सचेतन प्रतीति होती है। ईश्वर के साथ सन्तों के साक्षात्कार से बढकर आध्यात्मिक जगत् की यथार्थता का और कौनसा निर्णायक प्रमाण हो सकता है। वे हमारे

सशयो को काट देते हैं, उनके जीवन-सत्य को प्रकट करते हैं और उनका खडन नही किया जा सकता। उनका प्रभाव हमे ईश्वर के अस्तित्व को मानने के लिए विवश कर देता है, क्योकि वे दूसरो की बातें नही कहते बल्कि अपने ही अनुभव का अधिकारपूर्वक वर्णन करते है।[1]

ये अन्तर्ज्ञानी व्यक्ति, जिनके कांपते हुए होंठो से समाधि और अन्तर्ज्ञान की अवस्था मे प्राप्त किये गए अनुभव के भाव-विह्वल शब्द निकलते है, हमे उस भावी नियति का कुछ पूर्वाभास कराते है जिसकी ओर समस्त मानवो को जाना है। वे अपरम्पार सत्ता के आगमन के उद्घोषक और भावी मानव के प्रथम फल होते हैं। वे स्वय और उनके द्वारा हमारे मन मे पैदा की जाने वाली विशेष स्थितियाँ भविष्य मे मानव-समाज द्वारा आध्यात्मिक क्षेत्र मे पाई जाने वाली सफलताओ की एक झाँकी है। ये लोग नये उद्बुद्ध व्यक्ति हैं, एक नयी मानवीय प्राणि-जाति है, जीव-विज्ञान के शब्दो मे वे एक नयी 'स्पोर्ट' (प्राणि-जाति) हैं, जिनमे एक नये किस्म के मानव का उदय हो रहा है। हम सभी का एक नया जन्म होगा, हमे अपने भीतर विद्यमान ईश्वरीय सन्तानत्व को अभिव्यक्त करना होगा,[2] अपने अन्तर्वर्ती ईश्वरीय स्वरूप को पूर्णता तक पहुँचाना होगा,[3] भले ही आज विकास और ज्ञान की एक दीर्घ प्रक्रिया ने हमे अपने उस लक्ष्य से अलग कर रखा है। बुद्ध और ईसा मे जीवन की एक नयी झाँकी, अन्तरंग और बहिरग

१. प्लेटो की 'रिपब्लिक' पुस्तक में (३८२ एफ) एक आश्चर्यजनक वाक्य है जिसमें एडीमैंटस सुकरात के इस कथन को स्वीकार करता है कि ईश्वर तत्वत. अच्छा है। वह कहता है कि सुकरात के यह बात कहने के साथ ही उसे उसके कथन का सत्यता अनुभव हो जाती है। 'मैं स्वय यही सोचता हूँ और अब आप भी यही कहते हैं।' जॉन १. ४३-५१ मे भी हमें व्यक्तिगत प्रभाव का ऐसा ही एक उदाहरण मिलता है। फिलिप ने जब अपने भाई नैथेनियल को बताया कि एक नया उपदेष्टा आया है जो इजराइल का प्रतिज्ञात मसीहा सिद्ध हो सकता है, तो उसे विश्वास नहीं हुआ। किन्तु जब वह ईसा से मिला और उसके वचन सुने तो उसके सन्देह मिट गए और उसे उसके ईश्वरीय मिशन और उसकी प्रामाणिकता का विश्वास हो गया। जब एक पेगन दार्शनिक से, जिसे एक अनपढ देहाती ने ईसाई धर्म में दीक्षित कर दिया था, पूछा गया कि ऐसा कैसे हुआ तो उसने कहा कि उस बूढ़े देहाती में कुछ ऐसी पवित्रता थी कि वह उसके सामने टिक नहीं सका, हालाँकि वह उसकी सब युक्तियों का उत्तर दे सकता था। महान् पैगम्बरो की साधारण मानव पर ऐसी प्रतिक्रिया होती है।

२. रोमन्स VIII १७।

३. एफेसियन्स III १६।

की प्रकृतियों की एक नयी एकता साकार हुई है।

यदि हम यह याद रखें कि उनकी विकास की प्रक्रिया में कैसे-कैसे आश्चर्य और चमत्कार घटित हुए हैं तो हमारा यह आशा करना अयुक्तियुक्त नहीं होगा कि हम भी इस महान् स्थिति को एक दिन प्राप्त कर सकते हैं। डार्विन के एप को, अपना वन्य-जीवन व्यतीत करते हुए कभी यह कल्पना करना भी सम्भव प्रतीत नहीं हुआ होगा कि किसी दिन वह विकास की प्रक्रिया में ऐसा प्राणी बन जाएगा जो एक नयी तर्क और बुद्धि की शक्ति का उपयोग कर सकेगा, पृथ्वी और उसकी मानसिक एवं भौतिक परिस्थितियों पर शासन कर सकेगा, प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग कर सकेगा, समुद्र और आकाश को लाँघ सकेगा और सबके बढ़कर अपने घरेलू, राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में व्यवहार के नैतिक नियमों से अपने जीवन को नियन्त्रित कर सकेगा। उसी प्रकार आज के मानव के लिए भी यह कल्पना करना उतना ही कठिन है कि वह किसी दिन दिव्य स्थिति प्राप्त कर सकेगा, ऐसा ज्ञान प्राप्त कर सकेगा जो सर्वथा अभ्रान्त होगा, दुःख-ताप से ऊपर उठ सकेगा, दुर्बलताहीन शक्ति उपलब्ध कर सकेगा और निष्कलुष और असीम पवित्रता और बाहुल्य की स्थिति प्राप्त कर सकेगा। मानव-समाज का ऐसा कायाकल्प ही मनुष्य का, स्वर्ग का, ईश्वर के राज्य का स्वप्न है। सृजनात्मक प्रक्रिया और मानव के सम्बन्ध में हम यह कह सकते हैं कि वे क्या होंगे, इसका अभी से कुछ पता नहीं है।' हमारी तर्क-बुद्धि हमें बताती है कि जो कुछ सम्भव है वह सिर्फ़ सापेक्ष ज्ञान, चिन्तामिश्रित आनन्द, सोपाधिक और ससीम शक्ति तथा सीमित अच्छाई ही है, किन्तु अन्तर्दृष्टि के क्षण ईश्वर के राज्य की एक झाँकी देकर हमें प्रेरणा देते हैं और यह आशा प्रदान करते हैं कि जिस प्रकार एन्थ्रोपोयड एप (नर-वानर) मानव बन गया, उसी प्रकार मानव-प्राणी देवता भी बन सकता है। हमने पचास शताब्दियों में, जो युगों की प्रक्रिया में एक घण्टे से बड़ी कालावधि नहीं है, जो प्रगति की है, उस पर यदि हम दृष्टिपात करें तो हमारे लिए अधीर होने का कोई कारण नहीं है। काल की घड़ी में घण्टे की ये सुइयाँ हमें तब तक घुमाते रहनी पड़ेंगी, जब तक कि सब तरफ़ से विजय की आह्लादक ध्वनि नहीं सुन पड़ेगी। सन्त पॉल के रोमनों को दिये सन्देश के आठवें अध्याय में दिये गए इस वाक्य जैसे प्रेरणाप्रद वाक्य हमें अवश्य उत्साह और साहस प्रदान करेंगे: 'मेरा ख़याल है कि इस वर्तमान काल के कष्ट उस महान् भव्यता के साथ तुलनीय नहीं हैं जो हममें प्रकट होगी। सृष्टि उत्कंठित

होकर ईश्वर के पुत्रों को ज्ञान की प्राप्ति का इन्तज़ार कर रही है।'

जब तक यह ज्ञानोपलब्धि नहीं होती तब तक कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को पूरी तरह सुव्यवस्थित नहीं कर सकेगा, क्योंकि सुव्यवस्था केवल आभ्यन्तर ही नहीं, बाह्य भी है। हमें अपनी निज की प्रक्रियाओं और शक्तियों को अपने इर्द-गिर्द की सर्वोत्तम परिस्थितियों और परिवेश के साथ सुव्यवस्थित करना है। इस पारस्परिक क्रिया से युक्त सक्रिय ऐक्य की पूर्ण उपलब्धि ही 'भरपूर जीवन' है और वह तभी सम्भव है जबकि विश्व पूर्णता की अवस्था को प्राप्त कर ले और मानव और अधिक विकसित होकर सत्ता की उच्चतर स्थिति प्राप्त कर ले। अपने सजातीय प्राणियों के प्रति घृणा और उपेक्षा के भाव से दर्प के साथ अलग खड़े रहना किसी के लिए सम्भव नहीं है। हम सत्ता की तराज़ू में अधिक भारी स्थिति तभी पा सकते हैं जबकि शेष सबको भी अपने भीतर समा लें। यद्यपि व्यक्ति को अपने बगीचे को स्वयं सँवारना है, अपने 'स्व' को अखण्ड बनाना है तो भी यह 'स्व' शेष संसार से किसी भी तरह पृथक् नहीं है, यह बगीचा बाड़ लगाकर शेष ब्रह्माण्ड से अलग नहीं किया गया है। विश्व ही वह उद्यान है, और हम तब तक स्वत: पूर्ण नहीं हो सकते जब तक कि स्वयं विश्व ही आत्मपूर्ण न बन जाए।

६. आत्मैक्य :

अन्तर्ज्ञानात्मक अन्तर्दृष्टि, चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो, एक समग्र दृष्टि है, जिसमें कि मानव अपने सम्पूर्ण रूप में सत्य को जानने के लिए आगे बढ़ता है। इस अविभक्त ऐक्यपूर्ण जीवन की प्राप्ति, जिससे कि बुद्धि और भावना, कल्पना और अभिरुचि का उदय होता है, आध्यात्मिक जीवन का सार-तत्त्व है। सामान्यतः हम सम्पूर्ण मानव, यथार्थ व्यक्ति नहीं है। हमारी अनुक्रियाएँ आकारिक और हमारे कार्य अनुकरणात्मक होते हैं। हम आत्माएँ नहीं हैं, बल्कि स्वयंचालित मानवीय यन्त्र हैं। इसीलिए हमारे जीवनों में सौन्दर्य, गहराई और शक्ति नहीं होती। मनुष्य के लिए अपने-आपको एक पूर्ण और सन्तुलित प्रकृति में बदलने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी नैसर्गिक वृत्ति और बुद्धि को, भावना और इच्छा को, जो विकासमान व्यक्तित्व से किसी भी तरह भिन्न नहीं हैं, परस्पर संगठित कर एक अखण्ड रूप प्रदान करे। इस प्रक्रिया का अर्थ केवल मनुष्य के विश्वास और मत को बदलना ही नहीं है। हमें चतुराई की नहीं, विवेक की

आवश्यकता है, बौद्धिक दक्षता की नहीं, आत्मा की पवित्रता की आवश्यकता है, यथार्थ सत्ता की प्रकृति से घनिष्ठ परिचय प्राप्त करने और उसके निकट सम्पर्क में रहने की आवश्यकता है। इन्द्रियों को हम कितना भी प्रशिक्षित कर लें और दक्ष बना लें, फिर भी इन्द्रियाँ विचार को प्रत्यक्ष नहीं अनुभव कर सकतीं, इसी प्रकार हम अपनी बुद्धि को कितना भी दक्ष और प्रशिक्षित कर लें, उससे हम अन्तर्ज्ञानात्मक अनुभव प्राप्त नहीं कर सकते। हमें चेतना का एक नया स्तर प्राप्त करना चाहिए जिसमें उच्चतम सत्य उसी तरह प्रकट हो जिस प्रकार विचार में संकल्पनाएँ और ऐन्द्रियिक ज्ञान में रंगों की अभिव्यक्ति होती है। आत्मिक जीवन तत्त्वतः सृजनात्मक जीवन है। जिस प्रकार एक फूल किसी निश्चित सूत्र (फार्मूले) के आदेशानुसार विकसित नहीं हो सकता, उसी प्रकार बुद्धि की कसरत भी सृजन नहीं कर सकती। सृजन 'स्व' के विकास, चेतना के विस्तार का परिणाम है। इसके लिए हमें धर्म की आवश्यकता है, एक ऊँचा उठाने वाली शक्ति के रूप में, न कि ईश्वर-विश्वास की स्वीकृति या ईश्वर के प्रमाण के रूप में। न धर्म विज्ञान है और न गिरजाघर एक इल्मी संस्था। धर्म का अर्थ है सान्त और ससीम में नित्य की अनुभूति।

मनोविज्ञान-विश्लेषण हमें बताता है कि मानव-मन परस्पर-विरोधी शक्तियों का, जिन्हें किसी एक शक्ति के अधीन लाने की आवश्यकता है, अखाड़ा है। आद्य नैसर्गिक वृत्तियों का नियन्त्रण, इसके अनुसार, तीन प्रकार से होता है: (१) आत्मरक्षात्मक प्रतिक्रिया : चेतन मन एक ऐसी अभिवृत्ति ग्रहण करता है, जो अवचेतन सहज वृत्ति के ठीक विपरीत होती है। (२) स्थानापन्नत्व : सहज वृत्ति का दमन करने के बजाय मन उसे दूसरी प्रणालियों में मोड़ देता है, जैसा कि उस समय होता है जबकि सहज-यौन-वृत्ति कला की साधना के मार्ग में अपने-आपको अभिव्यक्त करती है। (३) उदात्तीकरण : इसमें सहज-वृत्ति का न तो दमन किया जाता है, न उसे किसी दूसरे मार्ग की ओर मोड़ा जाता है, बल्कि वह एक उदात्त उच्चतर वृत्ति के रूप में बदल जाती है। यौन-प्रेम आध्यात्मिक भक्ति में परिवर्तित हो जाता है। दांते ने जिसे आध्यात्मिक वासना कहा है, वह इसका एक उदाहरण है। इन सब स्थितियों में मन जो ऐक्य प्राप्त करता है वह केवल ऊपर की सतह की एकता होती है। दमन की हुई सहज-वृत्तियाँ पृष्ठभूमि में सजीव रूप में पड़ी रहती हैं और अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त अवसर की खोज में रहती हैं। वृद्ध स्त्रियों में, जिन्होंने आत्मत्याग का सम्मानपूर्ण जीवन

व्यतीत किया है, सहसा अनियन्त्रित विकार और वासना का उद्दीपन दिखाई देने लगता है। उनकी प्रकृति के अप्रयुक्त तत्त्व उनके अवचेतन की कोठरी में बन्द पड़े रहते हैं और आत्म-सन्तुष्टि के लिए चीखते-चिल्लाते रहते हैं। प्रेम और मैत्री के लिए अपनी उत्सुकता और उत्कण्ठा में, वे अपना प्रेम पालतू बिल्लियों और कुत्तों पर उँडेलते हैं। प्रेम के इन स्थानापन्न पात्रों से भी जब उन्हें सन्तोष नहीं होता तो वे पागल और विक्षिप्त हो जाते हैं। इन उपायों से मन वह सन्तुलन की शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता जो एक पूर्णतः शान्त और अविचल आत्मा में होनी चाहिए। योग की विधि हमारी समूची प्रकृति को ही बदलने का प्रयत्न करती है, जो व्यक्तिगत इच्छा के चेतन नियन्त्रण मात्र से सम्भव नहीं है।

योग की हिन्दू प्रणाली में यम, नियम, आसन आदि की ऐसी अनुशासन-प्रणाली का विधान है, जिससे हमारी प्रकृति के सब भाग, शरीर, इन्द्रियाँ और मन नियन्त्रित और परस्पर संघटित हो जाते हैं और उसमें आत्मा, जिसके ये सब विभिन्न विकास हैं, मुक्त होकर सृजनात्मक प्रवृत्ति में रत हो जाती है। रोग मनुष्य के भौतिक 'स्व' और उसके परिवेश के ऐक्य में बाधा उपस्थित करता है। भ्रम और अज्ञान तार्किक मन और तर्क के संसार के ऐक्य में बाधा डालता है। पाप और बुराई मानवीय इच्छा और ब्रह्माण्ड की इच्छा के ऐक्य में रुकावट पैदा करते हैं। जब आत्मा की विभिन्न शक्तियाँ अलग-अलग कार्य करने का प्रयत्न करती हैं तो आत्मा और ब्रह्माण्ड में अनैक्य और विभेद हो जाता है। हम संसार की वस्तुओं को अपने आवेशों और स्वार्थों के माध्यम से देखने लगते हैं जो प्रकाश की किरणों की दिशा को मोड़ देता है। जब हम अपने-आपको उनके बन्धन से मुक्त कर लेते हैं तभी हमारी आँखों से परदा हटता है और हम वस्तुओं को उनके यथार्थ रूप में देखते हैं। योग के रूप में धर्म हमें अपनी विभिन्न शक्तियों पर विजय पाने की शक्ति देता है। जब हमसे यह कहा जाता है कि हम अपनी वृत्तियों का निरोध कर अपनी ऊपरी चेतना से अन्तर की गहराई में डुबकी लगाएँ तो उसका अभिप्राय विराट्, शक्तिशाली और ज्योतिर्मय आत्मा को अपनी प्रकृति को अभिव्यक्त करने के लिए अवसर देना ही होता है। ध्यान ही वह विधि है जिसके द्वारा हमारे निश्चयात्मक ज्ञान हमारी अस्थि-मज्जा में विधते हैं, हमारा श्वास-प्रश्वास बनते हैं और अनावश्यक चेतन हस्तक्षेप के बिना बढ़ते हैं।

१०. सहज-वृत्ति और अन्तर्ज्ञान :

आध्यात्मिक जीवन और सहजवृत्तिक या अचेतन जीवन एक नहीं हैं। यह ठीक है कि धार्मिक उपदेष्टा हमें यह बताते हैं कि हम स्वर्ग या ईश्वर के राज्य में तब तक प्रवेश नहीं कर सकते जब तक कि हम छोटे अबोध शिशुओं के समान न हो जाएं। जो लोग अन्तर्ज्ञान का उल्लेख करते हैं वे उसके कुछ ऐसे गुणों की ओर संकेत करते हैं जो सहज-वृत्ति में भी होते हैं, जैसे कि अपरोक्षता, स्वतःस्फूर्तता और जीवन के साथ निकट सम्पर्क। सहज-वृत्ति वीर्य और ओज का स्रोत है और वही वह बन्धन है जो व्यक्ति को समस्त मानव-जाति में बांधता है। संसार के साथ ऐक्य की अनुभूति मनुष्य की चेतना में उस सहजवृत्तिक ऐक्य की प्रतिच्छाया है, जो हमारे चेतन जीवन का आधार है। विकास के निचले स्तरों में हम सहज-वृत्ति के द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं। आदिम मानव में प्रकृति की गतिविधि का ज्ञान असाधारण और आश्चर्यजनक था, जैसा कि आज हमें प्राप्त नहीं है। जो ज्ञान हम बड़े-बड़े तर्क और बुद्धि लगाकर प्राप्त करते हैं, जानवरों को वह सहज-वृत्ति से ही प्राप्त हो जाता है। जब हम प्रकृति की गोद में होते हैं तो हमारे जीवन बड़े सीधे-सादे और सुनिश्चित होते हैं। किन्तु अचेतन के रूप में सहज-वृत्ति का क्षेत्र सीमित है। सहज-वृत्ति से निर्देशित प्राणी बिना हिचकिचाए ठीक-ठीक कार्य करते हैं, किन्तु अपरिचित परिस्थितियों में वे असहाय हो जाते हैं। कारण, वे यह जाने बिना कार्य करते हैं कि वे ऐसा क्यों कर रहे हैं। वे अपने आपको अभिव्यक्त नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त जीवन का अचेतन ऐक्य, जिसके कारण सहज-वृत्तिक ज्ञान सम्भव होता है, बुद्धि के विकसित होते ही समाप्त हो जाता है, जो हमें अपने-आपको जानने और प्रकृति की शक्तियों को नियन्त्रित करने में सहायता देती है। आदिम ऐक्य के भंग होने पर मनुष्य अनिश्चय और असमञ्जस की दशा में पड़ जाता है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा सम्पर्क प्रकृति से कट गया है और हम सन्देहपूर्ण, कृत्रिम और आत्मकेन्द्रित जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यदि बुद्धि को जीवन के निकट लाना है तो उसके साथ सहजवृत्तिक ज्ञान का सम्मिश्रण अवश्य होना चाहिए। यह मिश्रण हम अन्तर्ज्ञान में पाते हैं। इसमें सहजवृत्तिक ज्ञान की अपरोक्षता और ऐक्य तो होता ही है, बौद्धिक ज्ञान की चेतना भी रहती है। वह गड़बड़ायी हुई या विभ्रमपूर्ण अतार्किकता और उत्तरदायित्वहीन रहस्यवाद नहीं होता।

'ब्रह्मज्ञानी और पैगम्बर लोग जिस बाल-सुलभ निर्मल दृष्टि का उल्लेख

करते है, उससे उनका अभिप्राय अन्तर्ज्ञान के बाद प्राप्त निर्मल दृष्टि से होता है, न कि उससे पूर्व की निर्मल दृष्टि से। बच्चे मे उत्पन्न होने वाला स्वत स्फूर्त ज्ञान अन्तर्दृष्टि का स्थान नही ले सकता। जो भावना हमारे जीवन का अचेतन प्रारम्भ है वही हमारे जीवन का चेतन अन्त होनी चाहिए। बच्चों में एक निर्दोषता, गाम्भीर्य, अखडता और ईमानदारी होती है जो अपने जीवन के साथ उनके ऐक्य से उत्पन्न होती है। उनका जीवन शान्तिपूर्ण होता है; वे झूठ नहीं बोलते, कोई बुरा काम या अन्याय नही करते। वे अपने स्वत स्फूर्त ज्ञान के अनुसार चलते है। उनका व्यवहार उनके अस्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति होता है। हमारी बौद्धिक चेतना ने हमे अपनी सत्ता की पूर्णता से बाहर निर्वासित कर दिया है। उस पूर्णता और अखडता को फिर से पाना, उस उच्च जीवन को अधिगत करना, जहां ज्ञान और अस्तित्व अलग-अलग नही है, वास्तव मे मानव के विकास का सार तत्त्व है। इस खोयी हुई एकता को फिर से पाना ही मानव का नया जन्म है। यही आध्यात्मिक जीवन और ईश्वर के राज्य का रहस्य है।

मादक द्रव्यो, सम्राहर औषधों और अन्य सहायक वस्तुओं से पैदा की गई असामान्य मानसिक अवस्था उन लोगो की आध्यात्मिक अभिवृद्धि से भिन्न होती है जिन्होने जीवन की अखडता और पूर्णता प्राप्त कर ली है। ये असामान्य मानसिक अवस्थाएँ सर्वथा निरर्थक नही है, क्योंकि वे इस बात का सकेत अवश्य करती है कि मनुष्य के भीतर विश्व के साथ एकत्व की एक प्रसुप्त भावना अवश्य है। विश्व के साथ एकता की यह भावना हमारे जीवन के महान् क्षणों तक ही सीमित नही है। उपनिषदो मे कहा गया है कि मनुष्य के जीवन का ग्रह-नक्षत्रों और भौतिक वस्तुओं एव वनस्पतियो और प्राणियों के साथ सम्बन्ध है। विश्व के साथ अभिन्नता की यह सामान्य भावना हम पर प्रबल रूप से उस समय प्रकट होती है, जबकि हम गहरी निद्रा की अवस्था मे होते है। विश्व के साथ हमारी एकता हमेशा हमारे साथ बनी रहती है, चाहे वह हमारी सामान्यतम स्थिति में हो और चाहे उच्चतम प्रवृत्ति मे। यह अवश्य ठीक है कि हमारे सामान्य जीवन में जो विभाजन और सघर्ष है उनमे खाई रहने के कारण वह प्रकट नही होती। हम हजारों तरह मे अनन्त की गोद मे डूब सकते या मूर्च्छित हो सकते है। इस प्रकार सहज-वृत्तिक जीवन या अचेतना मे डूब जाना मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा को ऊँचा उठाने और विश्व-आत्मा के साथ उसके पुनरेकीकरण से सर्वथा भिन्न है। आध्यात्मिक जीवन जडता या उदासीनता नही है, बल्कि वह आलोक, मुक्ति, शान्ति और

शक्ति है। आध्यात्मिक चेतना मानसिक आदि से उत्पन्न उन्माद की अवस्था या मादक द्रव्यों से उत्पन्न नशे से भिन्न चीज़ है, क्योंकि आत्मद्रष्टा का जीवन एक नयी गहराई और सगति तथा चरित्र की असाधारण वृद्धि प्राप्त करता है। आत्म-दर्शन से व्यक्तित्व अधिक समृद्ध होता है। उसमें सजीवता बढ़ती है, घटती नहीं।

मनोविज्ञान-विश्लेषकों का मत है कि कला, धर्म और दर्शन की आधार-भूत अन्तर्दृष्टियाँ चेतन मन के कारण प्राप्त नही होतीं, बल्कि उनकी जड़ें अचेतन में होती हैं, जो अधिक गहरा और अधिक जीवन्त मन है और चेतन मन जिसकी एक विशिष्ट अवस्था है। चेतन और अचेतन के बीच सम्बन्ध की तुलना समुद्र की सतह पर रहने वाली लहरों और उसके नीचे की गहराई के बीच सम्बन्ध से की जा सकती है। जो महान् अन्तर्ज्ञान हमें अपनी विस्मयकारिता और अर्थवत्ता से चकित कर देते हैं, वे अचेतन से पैदा नही होते, बल्कि हमारे भीतर विद्यमान परम आत्मा से, हमारे सम्पूर्ण 'स्व' से, जिसमें चेतन और अचेतन दोनों सम्मिलित है, पैदा होते हैं। ये अन्तर्ज्ञान केवल चेतना मे पैदा नही होते, बल्कि परम आत्मा से उत्पन्न होते हैं, इसलिए वे अधिक मजबूत आधार पर प्रतिष्ठित होते हैं, क्योंकि ज्ञान की दृष्टि से परम आत्मा चेतन आत्मा से अधिक उत्कृष्ट स्थिति में होती है। अचेतन वह अवस्था नही है जिसमें हमारी प्रकृति में उद्दीप्त किन्तु हमारी सामान्य चेतना मे ठुकरायी गई कामनाएँ उस अवसर की प्रतीक्षा मे पड़ी रहती हैं जबकि वे शक्तिशाली होकर सामान्य चेतना के प्रतिबन्ध को उलट सकें। वह बहिष्कृत कामनाओं का आश्रय-स्थल नहीं है, बल्कि वह हर प्राणी का अद्वितीय व्यक्तिगत स्वभाव है, जो प्रकृत्या अविश्लेष्य है। जो कुछ हम करते या सोचते हैं, वह जो कुछ हम हैं, उसका परिणाम है, न कि उसका जो कुछ हम अपने-आपको समझते हैं।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उस तरीके पर रोशनी डालता है जिसमें कि हमारे आन्तरिक दबाव हमारी चेतन अभिवृत्ति को प्रभावित करते है। संसार की बहुत सी घटनाएँ, जिनकी ओर हमारी जागृत चेतना ध्यान नहीं देती, हमारे मन पर अपने चिह्न छोड़ जाती हैं और हमारे व्यवहार को प्रभावित करती हैं। यदि अन्तर्ज्ञानात्मक बोध पूर्ण अनुभवित मन द्वारा पूर्ण वस्तु का ज्ञान है तो हमारे सम्पूर्ण मन को अनावृत्त करना और उसे मज्जित अवस्था में रखना आवश्यक है। अचेतन मन पर पड़ने वाली छापें नियन्त्रित होनी चाहिएँ। हम सबके अन्तर में जो एक दबा हुआ जीवन छिपा रहता है, वह खींचकर प्रकाश में लाया जाना

चाहिए और हमारे चेतन जीवन का अग बनाया जाना चाहिए।

व्यवहारवादी मनोविज्ञान मे भी अबौद्धिक मन की सम्भाव्यताओ और शक्तियो पर बल दिया गया है। उसका कहना है कि जब मनुष्य सोचता है तः प्रच्छन्न रूप से उसका सारा शरीर-यन्त्र-कार्य करता है। समस्त चिन्तन समग्र मानव का चिन्तन होता है जिसमे मानव समग्र रूप से चिन्तन के विषय पर प्रसक्त रहता है। शरीर और मन परस्पर मिल जाते हैं और हमारी समूची प्रकृति उद्बुद्ध होकर सघन बन जाती है और उसका जीवन चिन्तनीय विषय को अपने आश्लेष मे आबद्ध कर लेता है। मनुष्य की आत्मा के इस समग्र एकीभाव में, कठोर चिन्तन के इस स्नायविक स्वरूप मे कुछ-कुछ वैसा ही लैंगिक वासनामय नशा होता है जिसकी परम्परा कुछ निम्न श्रेणी के सम्प्रदायो मे पाई जाती है। इस एकीभाव मे हमसे देह या इन्द्रियो को विलुप्त कर देने के लिए नही कहा जाता, बल्कि उनकी स्वतन्त्रता का परित्याग कर देने और अविकल आत्मपूर्णता की स्थिति प्राप्त करने के लिए कहा जाता है जिसमे शरीर बाधा नही रहता और हमारे 'स्व' (समग्र आत्मा) का ही एक अग बन जाता है।

मनोविज्ञान-विश्लेषको का कहना है कि धर्म के सत्य अचेतन मे दबे हुए भयो और आकाक्षाओ की अभिव्यक्ति है। उनका यह कथन उस हद तक तो सही है जिस हद तक उनका अभिप्राय यह है कि धार्मिक सत्य विज्ञान मे पाए जाने वाले चेतन तर्क से नही पाए जाते। किन्तु उनकी यह मान्यता सही नहीं है कि वैज्ञानिक तर्क के विषय ही यथार्थ हैं और बाकी सब कल्पना-मात्र हैं। जब मनोविज्ञान-विश्लेषक यह कहता है कि धार्मिक व्यक्ति आत्म-प्रवचना करता है, तब वह स्वय अपनी मनोविज्ञान की सीमा लाँघकर दर्शन के क्षेत्र में कदम रखता है। धार्मिक प्रत्यय अवश्य ही उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओ के कारण बनते हैं जो आत्म-चेतन तर्क मे विद्यमान होती है। किन्तु जैसा कि हमने देखा है, विज्ञान भी तब तक अपना कार्य नही कर सकता, जब तक कि वह अपनी सीमा के पार से कुछ स्वतःसिद्ध स्वीकृत सिद्धान्तो को ग्रहण न कर ले। कल्पनाहीन, सौन्दर्य-बोध से रहित और प्रकृतिवादी दृष्टि को वस्तु जिस प्रकार की प्रतीत होती है उसीको यथार्थ बताने की आवश्यकता नही है। मनोविज्ञान-विश्लेषण यह बात स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि सजीव अनुभव तार्किक ऊहापोह से अधिक व्यापक होता है। जीवन की जडे आत्मा की अचेतन गहराइयो मे होती हैं। मनोविज्ञान-विश्लेषक व्यक्ति की सत्ता के अधिक गहरे केन्द्र के लिए जिस 'लिबिडो' (वासना)

शब्द का प्रयोग करते हैं वह दुर्भाग्यपूर्ण है। धार्मिक विश्वास मनुष्य की सम्पूर्ण प्रकृति में उत्पन्न होता है। यह कोई ऐसी रहस्यपूर्ण वस्तु नहीं है जो सिर्फ बच्चों, स्नायविक विकृति वालों या असभ्य लोगों तक ही सीमित हो।

यद्यपि हमने संसार और मानव-स्वभाव के सम्बन्ध में अपना ज्ञान असाधारण रूप में बढ़ा लिया है, तो भी यह मान्यता उचित नहीं है कि हमारे पूर्वज शताब्दियों पहले मानवीय आत्मा के सम्बन्ध में जो-कुछ जानते थे आज उसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान उससे अधिक है। आत्मा के क्षेत्र में हमारा अज्ञान आज उस समय से किसी भी तरह कम नहीं है। मूर्खतापूर्वक निश्चिन्त होकर बैठने वाले लोग ही संसार के महान् वाङ्मय, साहित्य, दर्शन और धर्मों में, जो हमारे जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण वस्तुओं से भरपूर हैं, निहित सच्चे ज्ञान से अपनी आँखें मूँदे रखते हैं। ये सत्य ज्ञान के भण्डार शायद मानवीय आत्मा की *अन्य उपलब्धियों से, जिनमें स्वयं मनोविज्ञान-विश्लेषण भी शामिल है,* अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे हमें आत्मा के विकास के बारे में बताते हैं और हमारी सत्ता की अधिक गहरी पूर्णता और ऐक्य पर बल देते हैं, जो वस्तुओं के महत्त्व को ठीक-ठीक जानने के लिए एकमात्र अनिवार्य आवश्यकता है।

शरीर के अंगों की भांति आत्मा की शक्तियाँ भी प्रयुक्त न किये जाने अथवा गलत प्रयुक्त किये जाने से नष्ट हो जाती या मारी जाती हैं। मनुष्य के भीतर विद्यमान आध्यात्मिकता के विकास के लिए सभी धर्मों में जिस अभ्यास का विधान किया गया है, वह है ईश्वर की पूजा और प्रेम एवं संवेदना का विकास। उपासना और ध्यान, प्रार्थना और भक्ति ऐसे कार्य हैं जो अकेले शरीर या मन के नहीं बल्कि सम्पूर्ण आत्मा के हैं। हम शरीर या मन से नहीं बल्कि आत्मा में और सत्य में अवस्थित होकर पूजा करते हैं। हमारा मन प्रार्थना को समझता है, हमारा शरीर उसमें भाग लेता है परन्तु पूजा इन दोनों से भी बड़ी चीज है। यह मनुष्य की आत्मा का विश्व की आत्मा के साथ संयोग है, दिव्य प्रकाश के साथ अपरोक्ष और अनिर्वचनीय सम्बन्ध है, प्रमाता और प्रमेय के सम्बन्ध से भी अधिक आभ्यन्तर और पूर्ण सम्बन्ध है, जिसे मन या शरीर की क्रियाएँ अत्यन्त दुर्बल रूप में ही अभिव्यक्त कर सकती हैं।

धर्म हमें ऐसे अनुष्ठान और ऐसी रूढ़ियाँ प्रदान करता है जो हमारी भावनाओं को आकृष्ट और प्रभावित करती हैं। किन्तु अनेक धर्म हो जाने पर उनमें से अनुष्ठान और आचार-विधियाँ मृत और तर्कहीन हो जाती हैं। सुकरात

ने भी मरते समय कहा था : 'मैं एस्कुलाव के एक मुर्गे का कर्जदार हूँ।' एक बुद्धियुक्त तार्किक विश्वास का उन मानव-विरोधी प्रथाओं और आचारों से कोई सरोकार नहीं, जो एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से अलग करते हैं और जीवन के सौहार्दपूर्ण व्यवहार, सुकोमल प्रेम और निर्द्वन्द्व आनन्द की मर्यादा को क्षति पहुँचाकर कठोर और निर्मम की मर्यादा को ऊँचा उठाते हैं। जो धार्मिक संहिताएँ दुर्बल पुण्यों और काल्पनिक पापों का आविष्कार करती हैं, वे जीवन की स्वस्थ गति को विक्षुब्ध और विचलित कर देती है और एक सच्चे धर्म का अभाव और निषेध की इस भावना के साथ कोई साम्य नहीं है।

विज्ञान या आलोचनात्मक बुद्धि का ऐसे धर्म के साथ कोई विरोध या विद्वेष नहीं है, जो आत्मा के एक ऐसे अदृश्य धार्मिक सम्प्रदाय की घोषणा करता है जो सद्भावना रखने वाले नर-नारियों की एक बिरादरी होगा, जिन्हें पाखण्ड और ढोंग के सिवाय किसी वस्तु से घृणा नहीं होगी और जो हृदयहीनता के सिवाय और किसी काम को अनैतिक नहीं मानेंगे। किन्तु आज जिस धर्म का पालन किया जाता है, उसे इस महान् लक्ष्य तक पहुँचने के लिए बहुत लम्बा सफर तय करना होगा। हमने देखा है कि मनुष्य और प्रकृति में प्रेम और सौहार्द का अभाव भय का कारण है और वह भय ही धर्म को जन्म देता है। आदिम धर्म में इस भय की शान्ति के लिए अन्य लोकान्तरों, भूत-प्रेतों और धार्मिक प्रतीकों एवं जादू-मन्त्र आदि की कल्पना कर ली गई है। विज्ञान और धर्म एक-दूसरे के विरोधी और प्रतिमुख बन गए हैं, क्योंकि विज्ञान के विषय ऐसे तथ्य हैं जिनकी खोज की जा सकती है और धर्म के विषय कुछ ऐसी प्राक्कल्पनाएँ हैं जिनकी पुष्टि नहीं की जा सकती। प्रारम्भ में धर्म का आविष्कार मनुष्य के सामान्य और स्वस्थ जीवन की सहायता के लिए किया गया था, किन्तु वही बाद में बोझ बन जाता है, तर्कपूर्ण विचारों में अवरोध पैदा करता है, जीवन को पतन की ओर ले जाता है और दुःख को स्थायी बना देता है। आज भी लोकप्रिय प्रचलित धर्म में ओझा स्त्री-पुरुष हैं, मन्त्र-तन्त्र से रोगों की चिकित्सा है, जादू-टोने हैं, भूत-प्रेत हैं और पुजारियों के मिथ्या पाखण्ड हैं। आज भी भारी संख्या में लोग धर्म के नाम पर अन्धविश्वासों से चिपटे हुए हैं और उन पण्डे-पुजारियों में विश्वास रखते हैं, जो यह जानने का दावा करते हैं कि मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है, ईश्वर और उसके अनुयायियों का रूप-रंग कैसा है, आसमान में सितारे क्यों टँगे हुए हैं और उन्हें वहीं क्यों लटकाए रखा गया है और मनुष्य के भाग्य एवं

नियति पर उनका क्या प्रभाव है ? यदि 'मानव की मूर्खता का इतिहास' के नाम से मानव-जाति का इतिहास लिखा जाए तो वह बड़ा दिलचस्प और जानकारी से भरा होगा, जिसमें यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार उस ज़माने से, जबकि हमने अपने कामों का विवरण लिखना आरम्भ किया, हमारे धार्मिक परीक्षण और साहसिक कृत्यों का इतिहास, एक के बाद एक इस या उस भ्रम के फल-स्वरूप लड़े गए धर्म-सम्बन्धी युद्धों का वर्णन-मात्र है। अपने-आपके प्रति, अपनी बुद्धि और अन्तःकरण के प्रति हमारी वफादारी का तकाज़ा है कि हम उन तर्क-वाक्यों को स्वीकार न करें, जो हमारे अन्तःकरण और हमारी विवेक-बुद्धि को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। हम कितने धार्मिक बन सकते हैं, यह इस बात पर इतना निर्भर नहीं है कि हम विश्वास करने के लिए कितने तैयार हैं, जितना इस बात पर निर्भर है कि हम सन्देह करने के लिए कितने तैयार हैं। हमें बौद्धिक प्राणी के रूप में अपनी प्रतिष्ठा का सम्मान करना चाहिए और इस प्रकार पाखण्ड की शक्ति को कम करना चाहिए। दास होने की अपेक्षा स्वतन्त्र होना, अज्ञानी होने के बजाय ज्ञानी होना बेहतर है। ईश्वर के सम्बन्ध में हमें जो गलत शिक्षाएँ दी जाती हैं, या हम जो गलत विश्वास करते हैं, उन्हें अस्वीकृत और तिरस्कृत करने में तर्क हमें सहायता देता है। वह हमारे इस गलत विश्वास को कि ईश्वर खुफिया अफसर है या स्वेच्छाचारी निरंकुश शासक है, या एक महान् अध्यापक है, खण्ड-खण्ड करने में मदद देता है। इसलिए यह आवश्यक है कि हम धार्मिक विश्वासों को तर्क की कसौटी पर कसें।

११. धार्मिक अनुभव का तर्क :

धर्म के सम्बन्ध में मानवीय तर्क ईश्वर के अस्तित्व के सर्वोत्तम प्रमाण नहीं हैं, बल्कि इस विषय में सबसे कीमती बातें हमें उन ब्रह्म साक्षात्कार करने वाले पैगम्बरों से प्राप्त होती हैं जो अपने गम्भीरतम विश्वासों को अपनी खोजों या आविष्कारों के रूप में हमारे सामने नहीं रखते, बल्कि अपनी आत्माओं में ईश्वर की आत्माभिव्यक्ति के रूप में रखते हैं।[1] ईश्वर-सम्बन्धी दार्शनिक तर्क

1. सिमियास फीडो में कहता है : 'सुकरात, मैं तुम्हें अपनी कठिनाई बताता हूँ। मैं समझता हूँ, और मेरा ख्याल है कि तुम भी समझते हो, कि इन विषयों का ज्ञान इस जीवन में प्राप्त कर सकना बहुत कठिन है, लगभग असम्भव है। फिर भी मैं उस व्यक्ति को दयनीय समझता हूँ, जो इन विषयों पर कही गई सब बातों को हर दृष्टि से नहीं परखता और तब तक उनकी परीक्षा जारी नहीं रखता, जब तक कि उसके परीक्षण के सब साधन खत्म न

और नैतिक प्रमाण का महत्त्व इसलिए है कि हमारे गम्भीरतम विश्वास ह
अन्तिम यथार्थ सत्ता का विश्वसनीय ज्ञान प्रदान करते है; सम्भवतः ईश्वर
सम्बन्ध मे वही एकमात्र सम्भव ज्ञान है। ईश्वर के अस्तित्व की प्रामाणिक
किसी बाह्य अथवा आकस्मिक वस्तु पर निर्भर नही, बल्कि वह हमारे भीत
विद्यमान आत्मा द्वारा अनुभव की जाती है। दार्शनिक युक्ति अनुभव का विव
है। हमें तब तक कोई प्रत्यय नही हो सकते, जब तक कि उन वस्तुओ का ह
कुछ अनुभव न हो जिनके वे प्रत्यय है। ऐसी अवस्था मे प्रत्ययों मे उनकी विषय
भूत वस्तुओ पर जाना अयुक्तियुक्त नही है। हमे पूर्ण यथार्थ सत्ता का को
प्रत्यय न होता, यदि हमारा उसके साथ अव्यवहित सञ्ज्ञानात्मक सम्बन्ध न होता
यदि हमे अन्तर्ज्ञान के द्वारा उसकी चेतना न होती। सत्ता का प्रमाण अनुभव पर
आधृत है। अन्तिम सत्ता-सम्बन्धी दार्शनिक तर्क को यदि अनुमान पर आधृत तर्क
के रूप मे माना जाए तो वह दोषपूर्ण होगा। पूर्णतम सत्ता का प्रत्यय और उसके
अस्तित्व की अनुभव से पुष्टि अलग-अलग चीजे है। दार्शनिक तर्क जो अर्थ अभि
व्यक्त करना चाहता है वह यह है कि ईश्वर का प्रत्यय किसी प्रमाण से उपलब्ध
नही होता, वह स्वत सिद्ध प्रत्यय है। इस विश्वास को बिलकुल सुनिश्चित
तार्किक रूप मे प्रकट नही किया जा सकता, इसीलिए इसमे विविधता और
अनिश्चितता रहती है। एन्सेल्म का तर्क यह है कि एक पूर्ण सत्ता के प्रत्यय में
उस सत्ता का विद्यमान होना अनिवार्य रूप से अन्तर्निहित है। यदि हम पूर्ण
सत्ता को एकमात्र प्रत्यय या कल्पना के रूप मे ही माने तो हमारी यह मान्यता
आत्म-विरोधी होगी। हमे उस सत्ता को यथार्थ मे विद्यमान मानना ही होगा।
एन्सेल्म का कहना था कि ईश्वर का सचमुच अस्तित्व है, यह सिद्ध करने के लि
यही अकेला तर्क काफी है और उसे किसी अन्य तर्क की आवश्यकता नहीं है।[1]

हो जाएँ। हमारा कर्तव्य है कि हम इन दो में से कोई एक कार्य करें। या तो हम इ
विषयों के सत्यों को जानें और उन्हें अपने लिए स्वयं खोजें, और अगर यह असम्भव
तो हम मानवीय सिद्धान्तों में से सर्वोत्तम और अखण्डनीय सिद्धान्तों को स्वीकार कर
और उनके बेडे पर सवार होकर जीवन की खतरनाक महासागर यात्रा के लिए निकल
और तब तक तैरते रहें, जब तक कि कोई अधिक शक्तिशाली जहाज, कोई ईश्वरीय म
हमें न मिल जाए, जिस पर हम अधिक सुरक्षितता और निश्चिन्तता के साथ अपनी य
कर सकें। ('ट्रायल एण्ड डैथ ऑफ सोक्रेटीज,' चर्च द्वारा अंग्रेजी अनुवाद (१६१
पृष्ठ १५६-१५७)।

१. 'प्रोस्लोगियम' की भूमिका। देखिये बेली : दि इण्टरप्रिटेशन ऑफ रिलिजन (१६२
पृष्ठ ७६।

किन्तु एक्विनस इसे एक 'ऐसा कुतर्क' मानता है 'जो सिद्ध नहीं किया जा सकता।' देकार्त ने इस पर इस तर्क को जब दूसरे रूप में पेश किया तो काण्ट ने उसकी आलोचना की। हेगेल का कहना है कि इस तर्क में उससे अधिक गहरा अर्थ निहित है जितना कि काण्ट जान सका। इस तर्क की वैधता और प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए यह जानने की आवश्यकता है कि प्रत्यय कैसे उत्पन्न होते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाए कि हम जीते हैं या जाग रहे हैं, यह हम कैसे जानते हैं, तो हम केवल यही कह सकते हैं कि हमारा मन ही हमारे इस ज्ञान का स्रोत है। ठीक यही बात हम इस सम्बन्ध में भी कह सकते हैं। यह हो सकता है कि ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में दी जाने वाली इस दार्शनिक युक्ति की भी कुछ हद तक यह आलोचना की जा सके कि धार्मिक वस्तुएँ हमारी सहज-वृत्ति का ही प्रक्षेप हैं, किन्तु इस मामले में असली प्रश्न यह है कि इस प्रक्षेप का कारण क्या है? क्या यह केवल व्यक्ति की आत्मनिष्ठ कल्पना है जिसे वह अपने जगत् से परे के परदे पर प्रक्षिप्त करता है या यह उसकी प्रकृति की गम्भीरतम आवश्यकता है?

यदि ईश्वर एक ऐसी पूर्ण सत्ता है जिसे अन्तर्ज्ञानात्मक ज्ञान पुष्ट करता है तो भी, जैसा कि अरस्तू ने अपने 'पोएटिक्स' में कहा है, कोई भी वस्तु ऐसी पूर्ण वस्तु नहीं है जो तार्किक दृष्टि से सगत और समजस न हो। खोज तब प्रमाण बनती है जबकि अन्तर्ज्ञान में ज्ञात वस्तु की निरन्तर चिन्तन की मन्दतर प्रक्रियाओं से पुष्टि हो जाती है। अब हमें यह सिद्ध करना है कि ब्रह्माण्ड का सामान्य स्वरूप, जैसा कि हम उसे जानते हैं, ईश्वर के इस अन्तर्ज्ञानात्मक निश्चय के साथ सर्वथा सगत है। यही एकमात्र तरीका है जिससे हम उन लोगों की विशाल बहुसख्या को, जिनके लिए धर्म एक विश्वास और अनुमान की चीज है, धार्मिक सत्यों पर विश्वास करने के लिए कह सकते हैं। यही एक तरीका है जिससे कि हम अनालोचित अन्तर्ज्ञानों और कट्टर सिद्धान्तवाद से, जो अपनी इच्छानुसार सब-कुछ पाने को तैयार है, अपनी रक्षा कर सकते हैं।

६. भौतिक वस्तु, जीवन और मन

१. विश्वास और निश्चय .

अन्तर्ज्ञान उन अनेक तरीको मे से एक है जिनसे विश्वास पैदा होते हैं। किसी वस्तु का विश्वास जो अव्यवहित निश्चयात्मकता पैदा करता है उसी के कारण हम उस पर विश्वास करते है। प्रायः हम दूसरों के साक्ष्य पर विश्वास करते है, और इस प्रकार का साक्ष्य अन्ततः व्यक्तिगत विश्वास का परिणाम होता है। हम किसी खास बात पर विश्वास तब करते है जब हम अन्य क्षेत्रों मे अपनी जानी वस्तु के साथ उसकी सगति देखते है, या जब उस विश्वास की मान्यता से उत्पन्न परिणाम हमारे विश्वास का औचित्य सिद्ध करते है। 'यदि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार आचरण करेगा तो वह मेरे सिद्धान्त को जान सकेगा, चाहे वह ईश्वर के सम्बन्ध मे हो और चाहे मैं अपनी ही बात कह रहा होऊँ।'[१] यदि विश्वास मन के क्षेत्र मे कार्यरत हो या ज्ञान के क्षेत्र मे, जीवन के क्षेत्र मे हो या व्यवहार के क्षेत्र मे, तो वह सच्चा होता है; अन्यथा वह मिथ्या होता है। हम पूर्णतः तार्किक निश्चय पर तब पहुँचते है जबकि जिसे हम सच समझते है, उसका दूसरे भी समर्थन कर दे या जबकि वह ज्ञान के साथ सगत हो और जीवन मे व्यवहार्य हो। धार्मिक अन्तर्ज्ञान के लिए भी यह आवश्यक है कि ब्रह्माण्ड के वैज्ञानिक विवरण के साथ उसकी सगति हो।

२. विज्ञान और दर्शन :

किन्तु विज्ञान और दर्शन मे एक अन्तर है। उनके प्रेरक तत्त्व और विधियाँ अलग-अलग है। विज्ञान अनुभव के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करता है, और दर्शन समग्र रूप मे अनुभव के अर्थ और उसके फलितार्थों की व्याख्या करता है। दर्शन के दो पक्ष होते है—एक व्याख्यात्मक और दूसरा वर्णनात्मक,

१. जॉन, VII, १७।

एक दार्शनिक और दूसरा आनुभविक। किन्तु विज्ञान विशुद्ध रूप मे वर्णनात्मक होता है। यदि विज्ञान किसी तथ्य के वर्गीकरण द्वारा उसका वर्ग निश्चित कर दे; यदि वह यह बता दे कि अमुक पौधा किस जाति का है; यदि वह यह स्पष्ट कर दे कि वह तथ्य या वस्तु विकास के किस चरण मे है; यदि वह किसी प्रपंचात्मक घटना के बारे मे यह बता सके कि वह किन परिस्थितियों का परिणाम है, जैसे कि वह ध्वनि को तरंगों का कारण बताता है, या यदि वह कुछ घटनाओं को सुविज्ञात नियमों के अन्तर्गत ले आए, जैसे कि न्यूटन ने केपलर की खोजों की गुरुत्वाकर्षण के नियम के अन्तर्गत व्याख्या की थी, तो उसकी तसल्ली हो जाती है। विज्ञान जो कुछ घटित होता है, उसका सामान्य इतिहास हमे बताता है; वह यह प्रश्न नहीं उठाता कि वस्तुएँ जिस रूप मे हैं, उस रूप मे उनके होने का कारण क्या है। इसके अलावा भौतिक वस्तु, जीवन, चेतना और मूल्य अनुभव के ऐसे तथ्य हैं जिन्हे विज्ञान उनकी अमूर्त वियोजित (पृथक्) अवस्था मे अध्ययन करता है, जबकि दर्शन के लिए ये सब तथ्य परस्पर-सम्बद्ध हैं, उसी तरह जैसे कि वे मानवीय व्यक्तित्व मे परस्पर-सम्बद्ध रूप मे विद्यमान हैं। हम एक हैं, इसलिए विश्व भी एक है। दर्शन जिस अनुभव का अध्ययन करता है वह मूर्त और पूर्ण है, जबकि विज्ञान की विषय-वस्तु अमूर्त और आंशिक होती है। दर्शन किसी ऐसी वस्तु को प्रकट नही करता जो पूर्णतः अनुभव के परे हो, किन्तु वह स्वय अनुभव के क्रम और सत्ता को हमारे सामने पेश करता है।

३. वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाएँ :

वैज्ञानिक ज्ञान की सीमाओं को जानना आवश्यक है। वह हमे उस ससार के, जिसमे हम रहते हैं, मात्रा और परिमाण के नाप देता है। वह इस उक्ति के आधार पर चलता है कि '*कोई भी वस्तु केवल मात्रा या परिमाण के रूप मे अथवा* मात्रा या परिमाण के द्वारा ही पूर्णतः जानी जा सकती है। विज्ञान उन प्रक्रियाओं में ही ठीक बैठता है जो दोहरायी जा सकती हैं, या उन प्रणालियों मे ही वह सफल होता है जिनका पुनर्जनन या तथाकथन किया जा सकता है। प्रकृति का नियम है कि 'हर वस्तु जो कुछ है वही (अद्वितीय) है, और कुछ नहीं है।' विज्ञान का नियम है कि हर वस्तु एक विशिष्ट वर्ग का उदाहरण है।

इसके अतिरिक्त, विज्ञान द्वारा अध्ययन किये गए विषयों का चुनाव *अनुभव मे किया जाता है। प्रत्यक्ष अनुभव की दत्त सामग्री का अध्ययन इस ढग*

से किया जाता है मानो वह प्रत्यक्ष अनुभव की दुनिया से बिलकुल अलग हो। उदाहरण के लिए भौतिक विज्ञान का यह विश्वास है कि घटनाएँ मानवीय प्रेक्षकों की अपेक्षा से जो विशेष रूप अख्तियार करती है, उनकी भौतिक विज्ञान की दृष्टि से निर्धारित सरचना से कोई सगति नही है। विज्ञान मे हम अध्ययन के लिए घटनाओं के कुछ खास पहलू चुन लेते है। उदाहरण के लिए, मनुष्य का विज्ञान की दृष्टि से अध्ययन करने के लिए या तो हम उसे कुछ निश्चित स्तर और लम्बाई-चौडाई वाली एक भौतिक रासायनिक सत्ता मान लेते है, या मानव-जाति की एक जीव वैज्ञानिक इकाई या मनोवैज्ञानिक, नैतिक अथवा धार्मिक सत्ता। विज्ञान के अध्ययन की विषय-वस्तु यथार्थ से तैयार किये गए अमूर्तकरण हैं, ठोस वस्तु से तैयार किये गए स्तरीय रेखाचित्र है। विज्ञान अनुभव के कुछ खास पहलुओं का काफी सच्चा प्रतिपादन होता है और कुछ विशिष्ट प्रयोजनों के लिए वह उपयोगी भी होता है। किन्तु जो उपयोगी है, वह सत्य भी होगा, यह आवश्यक नही है। यह बात अब स्वीकार की जाने लगी है कि विज्ञान से हमें कुछ वस्तुओं की मात्रा और परिमाण के नाप, संकेत और प्रतीक मिलते हैं। विज्ञान के नियम हमारे सामने औसत या सम्भावित परिणाम ही प्रस्तुत करते है, अर्थात् अमुक-अमुक परिस्थितियो मे अमुक-अमुक घटनाएँ घटित होती है। ये नियम उस क्रिया के बारे मे कोई राय नही देते जिससे कि उक्त घटनाएँ घटती है। विज्ञान ब्रह्माण्ड की अन्तिम सरचना को नही जानता। हो सकता है कि विज्ञान उसे जिस रूप मे समझता है, वह उससे बहुत भिन्न हो। न्यूटन ने ससार की एक यन्त्र के रूप मे जो सकल्पना की थी और आइन्स्टाइन ने उसकी जैसी सकल्पना की वह एक आदर्श तस्वीर है, एक सकल्पनात्मक नमूना है, किन्तु इन सकल्पनाओं की व्यावहारिक सफलता इस बात की गारटी नही है कि वे उसकी वास्तविक सरचना के सही प्रतिपादन हैं। हम बेतार यन्त्र को उसकी यान्त्रिक सरचना को जाने बिना भी इस्तेमाल कर सकते है।

विचार मे यह प्रवृत्ति देखी गई है कि वह सापेक्ष सत्यों को निरपेक्ष सत्यो मे, तात्कालिक प्राक्कल्पनाओं को अन्तिम कथनों मे परिणत करने का प्रयत्न करता है। वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं की सफलता की परीक्षा के लिए उसके परिणामों को ऐसे क्षेत्रों मे लागू करके देखा जाता है, जिनसे उनका उद्गम नहीं हुआ होता। यदि कोई सिद्धान्त, जो एक सीमित क्षेत्र से निकाला जाता है, कुछ नये क्षेत्रों और नये सन्दर्भो मे भी सगत पाया जाता है तो उस सिद्धान्त की

प्रामाणिकता अधिक प्रभावोत्पादक रूप से सिद्ध हो जाती है। सामान्यीकरण की यह प्रवृत्ति बहुत सावधानी से क्रियान्वित की जानी चाहिए। भौतिक विज्ञान जिन मनोहीन बलों का अन्वेषण करता है उनके बारे में जो बातें सही हैं वे मानव प्राणियों के बारे में सही नहीं है। यदि विज्ञान तथ्यों को ऐसे सिद्धान्तों में जबरदस्ती बैठाने का आग्रह करे जो उनके साथ अनुकूल नहीं है, तो वह अन्धविश्वास बन जाता है। भौतिक विज्ञान या जीव-विज्ञान का कोई सिद्धान्त प्रकृति का दर्शन (फिलॉसफी) नहीं है। *जब हम यथार्थ की वैज्ञानिक दृष्टि पर आते हैं तो हमें यह* याद रखना चाहिए कि विज्ञान की पद्धति आगमनात्मक है उसकी विषय-वस्तु तत्त्वतः अमूर्त होती है, वह निरन्तर सांख्यिकी की प्रक्रियाओं का उपयोग करती है और व्यावहारिक उपयोगों के लिए अनिवार्य बौद्धिक विश्लेषण का आश्रय लेती है।

४. संसार :

हिन्दू विचारधारा का सम्बन्ध आम तौर पर इस सिद्धान्त से रहता है कि यह दुनिया एक 'संसार' है, घटनाओं की एक अन्तहीन शृङ्खला है, अनवरत प्रवाह है। 'काल-चक्र', 'जन्म-मरण का चक्र', 'सदा प्रवहमान धारा', अथवा 'संसार', 'प्रवाह' और जगत् आदि शब्द दुनिया की असारता और अस्थिरता को प्रकट करने के लिए प्रयोग में लाए जाते हैं। संसार में जो कुछ है, परिवर्तन-शील है। हर वास्तविक वस्तु अनित्य और निरन्तर परिणामी है और तत्त्वत. परिवर्तन-धर्मी है। कोई भी आनुभविक वस्तु नित्य नहीं है। समस्त जीवन *निरन्तर नया-नया जन्म ले रहा है और जन्म लेने वाली हर वस्तु का मरण* निश्चित और अनिवार्य है। जो पैदा होता है, वह मरता है और मरकर फिर जन्म लेता है। दुनिया 'जगत्' अर्थात् गतिमान है और यदि गति रुक जाए तो वह नष्ट हो जाएगी। संसार की गति का ज्ञान भ्रम नहीं है, भ्रम स्थिति का ज्ञान है। बौद्ध धर्म ने 'संसार' की यह संकल्पना हिन्दू विचारधारा से ली और उसी को केन्द्र बनाकर उसने अपनी समस्त विचार-प्रणाली की रचना की। उसकी दृष्टि में सत्ता केवल एक प्रक्रिया है, जन्म के बाद मृत्यु और मृत्यु के बाद जन्म का क्षण-क्षण में बदलने वाला क्रम है। 'प्रतीत्य समुत्पाद' का सिद्धान्त यह सिद्ध करता है कि यह विश्व नित्य नहीं है, बल्कि अनित्य और अपने कारण पर निर्भर है। वह 'हेतु प्रत्ययापेक्ष' अर्थात् कारणों पर आश्रित है। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी

दोनों प्रकार की वस्तुएँ अनित्य और क्षणिक है। हिन्दू और बौद्ध दोनों की दृष्टि मे विश्व की क्षणिकता वैज्ञानिक सत्य की अपेक्षा आनुमानिक संकल्पना अधिक है, कम-से-कम भौतिक जगत् के सम्बन्ध मे ऐसा ही है।

यदि ससार एक प्रक्रिया-मात्र है तो उसका दैशिक विभाजन नही किया जा सकता, कालिक विभाजन किया जा सकता है। ससार में जो कुछ हम देखते हैं वह सत्ता के क्षेत्र नही क्रिया के कालांश है। प्रकृति की प्रक्रिया एक अखण्ड और अनवरत है, वह निश्चित गुणों वाली स्थितिशील सत्ताओं की एक अनवरत शृङ्खला नही है। यथार्थ सत्ता के कोई निश्चित विभाजन और खण्ड नहीं है।

५. भौतिक वस्तु (मैटर) :

अनुभव के सम्बन्ध मे व्यवहार का सबसे स्पष्ट तरीका यही है कि उसे घटनाओं का जगत् समझा जाए। इन घटनाओं मे से भौतिक घटनाएँ तो स्वतः सत् होती है, उनके अस्तित्व का सम्बन्ध किसी ज्ञाता मन के साथ नही है। ब्रह्माण्ड के विकास की प्रारम्भिक मंजिलों मे किसी ऐसे ज्ञाता मन का अस्तित्व नही था जो भौतिक जगत् को जानता या उसकी प्रकृति पर विमर्श करता। यदि विश्व 'ससार' है, गति-चक्र है, तो हमे भौतिक प्रकृति मे भी सक्रमण, परिवर्तन और वर्गीकरण दृष्टिगोचर होना चाहिए।

यद्यपि मानसिक जगत् के सम्बन्ध मे यह स्वीकार किया जाता था कि वह एक अनवरत गति है, मानसिक जगत् की घटनाएँ एक के बाद एक होती रहती हैं, और जीवन के जगत् की गतिशीलता के सम्बन्ध मे भी कुछ अधिक सन्देह प्रकट नही किया गया था, किन्तु वस्तु (भौतिक पदार्थ) के सम्बन्ध मे यह समझा जाता था कि वह अपरिवर्तनशील है। भौतिक वस्तु के सम्बन्ध मे सामान्य सकल्पना यह थी कि वह एक स्थायी द्रव्य है जो समान रूप मे प्रवहमान काल में एक स्थितिशील देश के बीच से गति करता है। पुराने परमाणु सिद्धान्त के अनुसार वस्तु परमाणुओं या छोटे-छोटे कणों की बनी हुई है जिनका और अधिक विभाजन नही किया जा सकता। भौतिक वस्तुएँ परमाणुओं या अविभाज्य कणों के विविध प्रकार के मेल है। भौतिक वस्तुओं मे परिवर्तनों का कारण उनके परमाणुओं के क्रम और व्यवस्था मे परिवर्तन है, उनकी आन्तरिक रचना मे परिवर्तन नहीं, क्योंकि परमाणुओं का स्वरूप अपरिवर्तनीय माना जाता था।

किन्तु भौतिक विज्ञान मे हाल मे जो नये अनुसन्धान हुए हैं, उन्होने ठोस

परमाणु को भी खण्डनीय सिद्ध कर दिया है। जे० जे० थामसन ने परमाणुओं को और भी सूक्ष्म खण्डों में विभाजित किया और यह सिद्ध किया कि ये खण्ड भी वैद्युतिक इकाइयाँ हैं और उनका द्रव्यमान (मास) विद्युच्चुम्बकीय गति का सिर्फ एक कारण है। रदरफोर्ड ने यह स्पष्ट किया कि रेडियमधर्मिता का कारण परमाणु का विघटन है। रेडियमधर्मिता का सम्बन्ध एक तत्त्व के दूसरे तत्त्व में परिवर्तन से भी है। यदि परमाणु को अपरिवर्तनशील मान लिया जाए तो इस बात की सगति कभी नहीं बिठाई जा सकती। रदरफोर्ड ने परमाणु को जिस रूप में चित्रित किया है उसमें मध्य में एक धनात्मक नाभि (न्यूक्लियस) है और उसके चारों ओर ऋणात्मक इलैक्ट्रान चक्कर काटते है। भौतिक वस्तु अब पहले की तरह सघन वस्तु नहीं रही, अब वह एक खुली हुई सरचना मानी जाती है, जिसके बीच में खाली जगह होती है और वैद्युतिक आवेश (चार्ज) एक-दूसरे से जुड़े हुए नहीं, बिखरे हुए रहते हैं। प्रत्येक परमाणु एक सरचना है, जो विभिन्न मात्राओं में सकीर्ण इलैक्ट्रानों और प्रोटानो से बनी होती है।[1] किसी भी तत्त्व के रासायनिक गुण उसमें चक्राकार गति करने वाले इलैक्ट्रानो की सख्या पर निर्भर हैं और उसी से तत्त्वों की तालिका में तत्त्वों की परमाणविक क्रम व सख्या निर्धारित होती है। प्रोटान और इलैक्ट्रान स्वय विकिरण या तरग-समूहों के स्रोत हैं, यह विकिरण और तरग-समूहों का निकलना एक ऐसी घटना है जो केन्द्र से बाहर की ओर प्रवाहित होती है। वास्तव में इलैक्ट्रान, जो वस्तु का अन्तिम घटक है, विकिरणों के एक समूह का प्रकल्पित केन्द्र है। हम उसे पहचान नहीं सकते, पहचान हम सिर्फ विकिरणों के समूह को ही सकते हैं। तत्त्व के केन्द्र (नाभि) में क्या वस्तु विद्यमान है और तरगों को ले जाने वाला माध्यम कौनसा है, बशर्ते कि कोई माध्यम माना जाए, इस सम्बन्ध में हम प्रायः कुछ भी नहीं जानते। इलैक्ट्रान केवल तरगों के आकार प्रतीत होते हैं। यदि हम यह मान लें कि वे केवल सघटित विकिरण समूह ही नहीं हैं, उससे कुछ भी अधिक चीज हैं, तो वह केवल हमारी कल्पना होगी। इलैक्ट्रान एक ऐसा क्षेत्र है, जिसमें ऊर्जा का विकिरण होता है। बोर के मतानुसार वह एक छोटा-सा वलयाकार कण है, 'विद्युत का एक अपिण्डित आवेश है।' एडिंगटन ने इसे 'कोई ऐसी वस्तु' कहा है जिसका गणितीय परिमाण दिया जा सकता है। यह वस्तु कार्य करती है, किन्तु क्यों करती है, यह

१. यहाँ जिस परमाणु सिद्धान्त का उल्लेख किया गया है, उसमें अभी हाल के अनुसन्धानों से कुछ संशोधन हो गया है। (सम्पादक)

ज्ञात नहीं है।

यदि इलैक्ट्रान परमाणु के केन्द्र (न्यूक्लियस) के चारों ओर घूमते हैं, जैसे ग्रह सूर्य के इर्द-गिर्द घूमते है, तो उनमे सभी तरगायामो (वेव लेंग्थ) की किरणे निकलनी चाहिएँ और तरगायाम जितना छोटा हो, उसकी ऊर्जा उतनी ही अधिक होनी चाहिए। किन्तु क्योकि ऐसा होता नही है, इसलिए मैक्स प्लैंक का कहना है कि विकिरण होता तो है किन्तु वह ससीम पैकेटो या निश्चित क्वाण्टमो मे अभिशोषित हो जाता है। परमाणु जब ऊर्जा का विकिरण या अभिशोषण करता है, उस समय उसके क्वाण्टम मे होने वाले परिवर्तन असतत होते है।[1] इलैक्ट्रान अभी एक जगह होता है और उसके बाद फिर दूसरी जगह चला जाता है, और उसकी यह गति अन्य अव्यवहित इलैक्ट्रानो को लाँघे बिना होती है। वह एक निश्चित कक्षा मे दूसरी कक्षा मे कूद जाता है, और उसकी यह प्लुति नियमित किन्तु असतत रूप से होती है। इस समय भौतिक वैज्ञानिको को कुछ कामो के लिए क्वाण्टम के सिद्धान्तो को और कुछ अन्य प्रयोजनो के लिए पुराने तरग-गति के सिद्धान्त को काम मे लाना पडता है, हालाकि दोनो का आपस मे कोई सम्बन्ध नही है। क्वाण्टम सिद्धान्त प्रकाश के वर्ण-क्रम मे विघटन की कोई व्याख्या नही कर सकता, जबकि पुराना तरग गति सिद्धान्त कर सकता था।[2]

कुछ लोगो का यह भी कहना है कि परमाणु का आकार कैसा है, इसका भौतिक दृष्टि से कोई महत्त्व नही है। परमाणु को एक असीम ढाचे मे क्रमबद्ध सख्याओ की द्विगुणित असीम सख्या मानना शायद अधिक सही है और परमाणु के सम्बन्ध मे जो कुछ हम जानते हैं, वह इस ढाचे मे ही निहित है। ठीक-ठीक कहा जाए तो हमारे लिए वे समीकरण ही पर्याप्त है, जो प्रेक्षणीय प्रपचात्मक घटनाओ के आपसी सम्बन्धो को प्रकट करते है, किन्तु साथ ही यह बात भी है

१. श्रोडिगर इस विचार को स्वीकार नहीं करते। देखिए रसेल : ऐन आउटलाइन ऑफ फिलॉसफी (१९२७), पृष्ठ ११२।

२. क्वाण्टम की कल्पना के प्रथम रचयिता मैक्स प्लैंक ने कहा है : 'भौतिक शास्त्र के कुछ अंग ऐसे है और उनमें व्यक्तिकरण प्रपचों का एक व्यापक क्षेत्र भी है, जिनमें पुराना सिद्धान्त सब बारीकियों में भी प्रामाणिक और सही सिद्ध हुआ है, यहा तक कि बहुत सूक्ष्म परिमापों में भी वह बिलकुल सही पाया गया है। दूसरी ओर क्वाण्टम सिद्धान्त कम-से कम अपने वर्तमान स्वरूप में इस क्षेत्र में सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हुआ है।' (मैक्स प्लैंक : दि यूनिवर्स इन दि लाइट ऑफ माडर्न फिजिक्स, अग्रेजी अनुवाद (१९३१), पृष्ठ ९५, देखिए पृष्ठ ३० भी)।

कि हम इन समीकरणों के बारे में कुछ अधिक नहीं जानते।

वस्तु ऊर्जा-इकाइयों की एक संरचना है जो देश-काल में अपरिमेय वेगों के साथ चक्राकार घूम रही है और परमाणु में विद्यमान इन इकाइयों की संख्या और क्रम में परिवर्तन के कारण ही विभिन्न तत्त्व बनते हैं। इस संख्या और क्रम में परिवर्तन किया जा सकता है, इसलिए एक तत्त्व का दूसरे में रूपान्तरण भी सम्भव है, जैसा कि रेडियमधर्मिता में हम देखते हैं। तत्त्वों का परमाणु-भार और उनकी संख्या का सम्बन्ध परमाणुओं में विद्यमान इन ऊर्जा-इकाइयों की संख्या और उनके रचना-सम्बन्धी क्रम के साथ है। वस्तु ऊर्जा या क्रिया का ही एक रूप है। भौतिक वस्तुएँ प्रतिक्षण घटती घटनाएँ हैं। वे स्वतः पूर्ण अपरिवर्तनीय नित्य सत्ताएँ हैं, बल्कि सतत गतिशील बिन्दु हैं। प्रकृति घटनाओं की एक जटिल संरचना है, प्रक्रियाओं का एक ढाँचा है। घटनाएँ मूर्त सत्ता का कारण हैं। वे काल से व्यतिरिक्त देश में अवस्थित नहीं हैं, बल्कि देश-काल में अवस्थित हैं और उनमें देश और काल के सम्बन्ध हर समय इतने सतत रूप से बदलते रहते हैं कि यह ब्रह्माण्ड अनन्त रूप से बदलती देश-काल-प्रणालियों का एक समूह बन गया है। देश कोई ऐसा खाना नहीं है जिसमें वस्तु के ठोस खण्ड इधर-उधर घूमते रहते हैं और न ही भौतिक वस्तु एक ऐसी वस्तु है जो देश में स्थापित है और काल में भी स्थायी है। स्थायी वस्तु से भिन्न ब्रह्माण्डीय देश या ब्रह्माण्डीय काल जैसी कोई वस्तु नहीं है। देश-काल और वस्तु मूर्त तथ्य से, जो घटनाओं का एक समूह है, निर्धारित किये गए अमूर्तकरण हैं। वे तीनों एक मूर्त वास्तविकता के रूप में इकट्ठे रहते हैं। आइन्स्टाइन के अनुसार घटनाएँ एक पूर्ण-निरपेक्ष चतुर्विमितीय (फोर-डाइमेंशनल) सातत्य में अवस्थित तथ्य हैं और इस तथ्य की रेखागणितीय संरचना ही उसका आन्तरिक स्वरूप है। आइन्स्टाइन ने इस सातत्य को 'सान्त किन्तु असीम' माना है।

स्थायी देश और ब्रह्माण्डीय काल, इन दो पृथक् वस्तुओं के स्थान पर देश-काल (स्पेस-टाइम) को रख देने से ही सापेक्षता का सिद्धान्त निकलता है। सापेक्षता के सिद्धान्त के आविष्कार से पूर्व भौतिक विज्ञान यह मानता था कि यदि दो घटनाएँ अलग-अलग स्थानों पर घटती हैं तो उनके एक ही समय में घटने की व्याख्या सहज में की जा सकती है। किन्तु अब यह माना जाता है कि हर घटना-शृङ्खला का अपना अलग समय-क्रम होता है, और एक घटना का दूसरी के साथ सम्बन्ध जोड़ना कठिन है, क्योंकि कोई एक सर्वसामान्य निश्चित समय (कॉमन

स्टैंडर्ड टाइम) नहीं है। जब तक हम प्रेक्षक और प्रेक्षणीय वस्तु की सापेक्ष गतियों को दृष्टि मे न रखे तब तक सही नाप नही किये जा सकते। नाप की कोई एक नियत इकाई न तो है और न हो सकती है। किसी वस्तु का स्वरूप क्या है, यह केवल उसकी प्रकृति पर ही नहीं, उस प्रेक्षणीय वस्तु के साथ प्रेक्षक के सम्बन्ध की प्रकृति पर भी निर्भर है। दूरियाँ, लम्बाइयाँ और आयतन-सम्बन्ध विशिष्ट ढाँचे के साथ सापेक्ष होते है।[1] सापेक्षता का सिद्धान्त रेडियमधर्मी परमाणु से लेकर अन्तरिक्ष मे विद्यमान नक्षत्रो तक सभी वस्तुओं पर लागू होता है।

घटनाओं के दो पहलुओं—आकारिक और वस्तु-सम्बन्धी—मे हम भेद कर सकते है। देश-काल का सम्बन्ध आकारिक पहलू से है। हर घटना की, चाहे वह कैसी भी हो, एक निश्चित अवस्थिति होती है, एक नियत दैशिक-कालिक स्वरूप होता है। वह सीमित होती है, असीम और निरपेक्ष नहीं; वह अस्थायी होती है, नित्य नही। हर घटना ससीम और परिवर्तनशील होती है और देश एव काल ससीमता और परिवर्तनशीलता की स्वाभाविक उपाधि है। देश-काल एक यथार्थ समजातीय सरचना नही है, बल्कि वह यथार्थता का एक अभिन्न पहलू है। वह कोई ऐसा रगमच नही है जिस पर विभिन्न वस्तुएँ अपना नृत्य प्रदर्शित करती है, बल्कि वह कुछ नियमो और पद्धतियों का समूह है जिनमे कि गतिशील घटनाओं के ब्रह्माण्ड के भीतर कुछ व्यापकतम आकार और सम्बन्ध व्यक्त किये जाते है। देश-काल के साथ सम्बन्ध और सापेक्षता समस्त प्रकृति पर लागू होती है और उसे ऐक्य प्रदान करती है। सम्बद्धता और सापेक्षता अपने-आपमे कोई तथ्य नहीं है, इसलिए प्रकृति के अन्तिम तथ्य की कल्पना एक प्रक्रिया के रूप मे, एक काल-परिवर्तन के रूप मे, जो एकाकी है बहुशाखीय नही, की जाती है। 'घटना' (ईवेंट) शब्द इस प्रक्रिया के हिस्सो या पहलुओं के लिए प्रयोग मे लाया जाता है। प्रकृति तत्वतः एक अविश्लेष्य और व्यक्तिगत परिवर्तन-शृङ्खला है जिसमे कुछ आकारिक गुण, जिन्हे हम देश-काल कहते है, और कुछ भौतिक गुण, जिन्हे हम वस्तु या जीवन आदि के नामो से पुकारते है, परस्पर एक-दूसरे के साथ और

१. 'एक नक्षत्र पर विद्यमान प्रेक्षक द्वारा नापी गई दूरी जितनी सही है, दूसरे नक्षत्र पर विद्यमान प्रेक्षक द्वारा नापी गई दूरी भी, चाहे वह पहले नक्षत्र के प्रेक्षक की अपेक्षा से कुछ भिन्न हो, उतनी ही सही है। हम दोनों प्रेक्षकों के बीच मतैक्य की आशा नहीं कर सकते। कारण एक दूरी एक ढाँचे की अपेक्षा से है और दूसरी दूसरे की अपेक्षा से। किसी ऐसी पूर्ण निरपेक्ष दूरी की कल्पना करना, जो किसी भी ढाँचे के साथ सापेक्ष न हो, निरर्थक है।' (एडिंग्टन : दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड (१६२८), पृष्ठ २१)।

साथ ही समग्र के साथ अनेक सम्बन्धों में अवस्थित होते हैं।

गणितीय विज्ञान घटनाओं के आकारिक पहलू का अध्ययन करते हैं। उनका अध्ययन प्रात्ययिक अमूर्तकरणों का अध्ययन होता है, और उनका तर्क आकारिक और फलितार्थों का होता है। शुद्ध गणितशास्त्र देश-काल की परिस्थितियों में भी अमूर्तकरण करता है और क्रम एवं संरचना की शुद्ध संकल्पनाओं पर उसके अमूर्ततम सम्भव आकार में विचार करता है। इकाइयाँ लक्षणरहित होती हैं और उनकी आन्तरिक प्रकृति में ज़रा भी हस्तक्षेप किये बिना उनको हिलाया-डुलाया जा सकता है। इस प्रकार गणित एक आदर्श विज्ञान है।

वह भौतिक विज्ञान की अपेक्षा तर्कशास्त्र के अधिक निकट है। यूक्लिडेतर रेखागणित, बीजगणित और अंकगणित की खोज, समूहों के सिद्धान्त और प्रक्षेपीय रेखागणित आदि अरागिक विषयों का अनुसन्धान गणित के शुद्ध आकारिक रूप को सिद्ध करते हैं। व्हाइटहैड का कहना है कि 'गणित अपने व्यापकतम रूप में सभी प्रकार के आकारिक, आवश्यक और निगमनात्मक तर्क का विकास है।'[1] यह विचार काण्ट के इस विश्वास से मेल नहीं खाता कि गणित के सिद्धान्त संश्लेषणात्मक हैं, जबकि तर्कशास्त्र के सिद्धान्त आकारिक और विश्लेषणात्मक हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्बन्ध में शुद्ध और प्रयुक्त गणितशास्त्र में कुछ विभ्रम हो गया है। काण्ट विशुद्ध तार्किक अन्तर्ज्ञानों की सम्भावना को स्वीकार नहीं करता, इसलिए उसने देश और काल के प्रागनुभव अन्तर्ज्ञानों की, जिनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञेय जगत् में है, सम्भावना प्रकट की है। रसेल और व्हाइटहैड ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपिया मैथमैटिका' में यह मत प्रकट किया है कि इस तर्क-वाक्य का कि सात और पाँच का योग बारह होता है (७ + ५ = १२) प्रमाण वैसा ही विशुद्ध तार्किक है, जैसे कि अन्य तार्किक प्रमाण। यह ठीक है कि हममें से बहुत से लोग गणित की सिद्धियों को प्रतीकों और रेखाचित्रों के बिना नहीं समझ सकते, तथापि ये प्रतीक और रेखाचित्र सिद्धियों के अंग नहीं हैं। गणित का स्वरूप वैसा ही नहीं माना जा सकता, जैसा कि भौतिक शास्त्र का है।

कुछ लोग ऐसे हैं जिनका विश्वास यह है कि देश-काल अनुभव से निकृष्ट आकारिक अमूर्तकरण नहीं हैं, बल्कि वह अपने-आपमें सत्ता का एक अत्यन्त प्राथमिक तथ्य है। एडिंगटन का यह मत प्रतीत होता है कि वस्तु को मात्र देश-काल सम्बन्धों में परिणत किया जा सकता है, उसके बाद देश-काल-सम्बन्धों के

१. यूनिवर्सल एलजब्रा, पृष्ठ ६।

अतिरिक्त कुछ शेष नही रहेगा।[1] उनकी राय मे देश-काल ही अन्तिम तथ्य है और उसी के द्वारा शेष सब वस्तुओं की व्याख्या की जा सकती है। प्रकृति मे अन्तिम वस्तु जो कुछ भी है वह भौतिक नही, तार्किक या गणितीय है। यथार्थ जो प्रेक्षक से अलग और स्वतन्त्र है, घटनाओ की ऐसी शृंखला नही है, जो इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य हो, बल्कि वह सम्बन्धो की एक प्रणाली है जो केवल विचार द्वारा सकल्पित ही की जा सकती है। यथार्थ का मूल नित्य और अपरिवर्तनीय गणितीय सम्बन्ध हैं। द्रव्य और बल विशुद्ध मनोवैज्ञानिक आभास है जो उनके उपाधिभूत नित्य-सम्बन्धो और प्रेक्षक की पारस्परिक क्रिया के परिणाम है। इस प्रकार वस्तु (मैटर) विचार मे परिणत हो जाती है और भौतिक विज्ञान गणितशास्त्र मे।[2]

अलेग्जेण्डर की दृष्टि मे देश-काल ही अन्तिम यथार्थता है और उसीमे से देश और काल के अमूर्तकरण किये जाते है। देश-काल एक प्रकार की ब्रह्माण्ड व्यापी गति है और मूर्त वस्तुएँ इस ब्रह्माण्डीय प्रणाली के भीतर ही गति के भिन्नीकृत सम्मिश्र है। देश-काल मे अस्तित्व, पूर्ण व्यापिता और क्रम-व्यवस्था आदि कुछ व्यापक या निरुपाधिक गुण हैं, जो सभी वस्तुओ मे पाए जाते हैं। अन्य आनुभविक गुण, जो विभिन्न वर्गो की वस्तुओं मे भेद करते है, विशिष्ट परिस्थितियो मे ही पैदा होते है। अलेग्जेण्डर के अनुसार, देश-काल स्वतः ही बिन्दु-क्षणो की सान्त सह-स्थितियो मे बँट जाता है। इन सह-स्थितियो मे से सरलतम सह-स्थितियाँ विभिन्न वेगो वाली गतियाँ और गतियो की इयत्ता (व्याप्ति) हैं। ये सह-स्थितियाँ कुछ खास आकृतियाँ बनाती है तब वस्तुत्व का गुण पैदा होता है। और जब उनमे कुछ अन्य परिस्थितियो या उपाधियो का भी समावेश हो जाता है तो रग आदि पैदा होते है।

भौतिक अनुभव और गणितीय समीकरण का ज्ञान दोनों एक-जैसे नहीं हैं। रग या प्रकाश का प्रत्यक्ष अनुभव किसी गणितीय साम्य के ज्ञान के समान नही है। देश-काल-सम्बद्धता का घटनाओ से अलग अस्तित्व सम्भव नही है। अत्यधिक आद्य रूप मे भी घटनाएँ केवल दैशिक-कालिक ही नहीं भौतिक भी है।

१. स्पेस टाइम एण्ड ग्रेविटेशन (१९२१); पृष्ठ १९७।
२. सर जेम्स जीन्स : दि मिस्टीरियस यूनिवर्स। तुलना कीजिए : एक प्राचीन हिन्दू गणितशास्त्र में भी कहा गया है, 'इस मद का विस्तार से व्याख्या करने का क्या लाभ है? तीनों चराचर लोकों में जो कुछ भी है, वह नाप से अलग कुछ भी नहीं रह सकता।'

उनमें देश-काल सम्बद्धता के अलावा कुछ अन्य निश्चित अन्तर्वस्तु भी है। वह विद्युत् की चमक हो सकती है, एक सुन्दर वस्तु हो सकती है या कोई ज्ञेय वस्तु। आनुभविक जगत् में हम संसार की भौतिक घटनाओं को जब अनुभव करते हैं तब हमें प्रतीत होता है कि हम उसके तल तक पहुँच गए हैं। देश-काल सम्बद्धता का गुण तो सभी घटनाओं में पाया जाता है। कारण, कोई भी घटना देश-काल के बिना नहीं रह सकती। घटनाएँ स्पष्ट और पृथक् प्रत्यय हैं, किन्तु तत्त्वतः वे अस्तित्व की प्रक्रिया में आन्तरिक तत्त्व हैं और विचार के द्वारा मूर्त्त क्रिया से निकाले गए अमूर्त्तकरण हैं। अन्य सब घटनाओं की भांति भौतिक घटनाएँ भी केवल देश-काल में ही घटित होती हैं। वे 'यहाँ' घटित होती हैं 'वहाँ' नहीं, 'अब' घटित होती है 'तब' नहीं।

दार्शनिक दृष्टि से इस बात का सबसे अधिक महत्त्व है कि पहले जिस ठोस अविभाज्य वस्तु (परमाणु) को अन्तिम तत्त्व माना जाता था, उसका स्थान अब वैद्युतिक प्रभावों (इलैक्ट्रान) ने ले लिया है। वस्तु (मैटर) अब कोई चीज नहीं रही, वह अब परस्पर सम्बद्ध घटनाओं की एक प्रणाली या संरचना बन गई है। पुराना विचार यह था कि वस्तु (मैटर) एक स्थायी द्रव्य है जिसमें कुछ गुण हैं, जो विभिन्न सम्बन्धों में अवस्थित है, और वह कुछ निश्चित कार्य कर रहा है। किन्तु अब उसका स्थान इस विचार ने ले लिया है कि वस्तु कुछ अस्थिर घटनाओं का समूह है। पहले वस्तु को जड़ या क्रियाहीन और जीवन को क्रियाशील; वस्तु को प्रत्यावर्त्य (जो लौटाया जा सके) और जीवन को अप्रत्यावर्त्य (जो लौटाया न जा सके) माना जाता था, किन्तु यह भेद अब विलुप्त हो गया है। अब वस्तु और जीवन में यह अन्तर नहीं रहा कि इनमें से एक सक्रिय है और दूसरा निष्क्रिय; अब दोनों ही दो अलग-अलग किस्म की क्रियाएँ हैं। न्यूटन ने अपने पहले नियम में जिस निष्क्रियता (इनर्शिया) को इतना महत्त्व दिया था, वह स्वयं वस्तु की आन्तरिक क्रिया का परिणाम है। वस्तु में जो रेडियम-सक्रियता (विकिरण क्रिया) हम देखते हैं वह जीवन में आंगिक क्रिया के समान ही है; अन्तर सिर्फ यह है कि पहली में प्रतिगति भी हो सकती है जबकि दूसरी में केवल प्रगति ही सम्भव है। रसायनशास्त्र की तत्त्वों की तालिका और वनस्पतिशास्त्र और प्राणिविज्ञान की प्रणालियाँ—दोनों में हम परिवार, जाति, उपजाति आदि की संकल्पनाएँ समान रूप से लागू कर सकते हैं। भौतिक वस्तु और जीवन के

बीच में कोई अनुल्लंघनीय खाई नहीं है।[1] परमाणु, अणु, कलिल (कोलोयड), प्रोटोप्लाज्म (जीवाणु), सैल (जीवकोष)—ये सभी एक ही सतत प्रक्रिया के प्रतीत होते हैं। वस्तु सकेन्द्रित सरचनात्मक ऊर्जा है जिससे नये आकार, नयी सरचनाएँ और नये टाइप बनाये जा सकते हैं। वह भी उतनी ही सृजनात्मक है जितने कि जीवित जीव या मन। जब परमाणु (ऐटम) मिलकर एक अणु (मौलीक्यूल) बनते हैं तो उनका एक नया स्वरूप हो जाता है। उस समग्र पूर्ण के कारण, जिसके साथ उनका सम्बन्ध होता है, उनमें नये गुण आ जाते हैं, जो मिलकर अणु के रूप में आने से पहले उनमें नहीं आ सकते थे।

६. द्रव्य :

दर्शन का सारा इतिहास एक अर्थ में द्रव्य की आलोचना कहा जा सकता है। यद्यपि ग्रीक दर्शन का आरम्भ एक ऐसी स्थायी सत्ता की संकल्पना से हुआ था जो भिन्न भिन्न रूपों और आकारों वाली सभी वस्तुओं में विद्यमान है, किन्तु बाद में पैथागोरस और हेराक्लिटस ने इससे भिन्न दार्शनिक विचारों को जन्म दिया। उनका मत था कि यथार्थ वस्तु कोई अपरिणामी द्रव्य नहीं है, बल्कि कुछ स्थायी गुण ही यथार्थ वस्तु है, जो सब घटनाओं या उत्पत्तियों में विद्यमान रहते हैं। पैथागोरस के अनुसार वस्तुओं का असली तत्त्व संख्या है। हेराक्लिटस का मत था कि द्रव्य कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो उत्पत्ति या घटना से बाहर हो, बल्कि वह एक विश्वव्यापी नियम है जो समस्त उत्पत्ति या घटनाओं में व्याप्त है और उसे उसका आकार प्रदान करता है। काण्ट की दृष्टि में द्रव्य अवधारणा की एक संकल्पना है और ह्यूम का कहना है कि वह हमारी आनुभविक आदत और साहचर्य का परिणाम है। यह एक कल्पना है जो एक नियमित क्रम में बहुधा घटित होने वाली घटनाओं को मिलाकर एक प्रत्यय का रूप प्रदान करती है। ऐवेनेरियस और माख द्रव्य को विचार को सरल बनाने वाला एक संकल्पनात्मक साधन मानते हैं। द्रव्य की एकता नाम-मात्र की है। वास्तव में किसी वस्तु की एकता एक कल्पना-मात्र है। जब हम किसी वस्तु के सम्बन्ध में यह कहते हैं कि यह वस्तु वही है, तो उसका अभिप्राय सिर्फ यही होता है कि कुछ सम्बन्ध

१. 'विज्ञान आज केवल संघटित रचनाओं (आर्गेनिज़्म) का अध्ययन है। जीव-विज्ञान बड़ी संघटित रचनाओं का अध्ययन है, जबकि भौतिक विज्ञान छोटी संघटित रचनाओं का।' (व्हाइटहैट : साइंस एण्ड दि माडर्न वर्ल्ड (१९२६), पृ० १४५)।

स्थिर रूप से विद्यमान है। हमारे मनों की रचना इस प्रकार की है कि वे कुछ परस्पर सम्बद्ध परिस्थितियों को एकत्व मान लेते है और उन परिस्थितियों को उसका गुण समझते हैं। हम वस्तुओं मे भेद उनके गुणों से करते हैं। हम किसी वस्तु को एक ही या वही वस्तु तभी तक मानते है जब तक कि उसमें एक ही या वही गुण होते हैं। द्रव्य क्या है इसका सबसे ज्यादा सन्तोषजनक उत्तर लोत्जे के इस स्मरणीय वाक्य मे मिलता है कि कोई वस्तु जो-कुछ करती है, वही वह है। जिस ढंग से वह व्यवहार करती है वही उसकी प्रकृति है। लोत्जे ने अपने 'मेटा-फिजिक्स' मे बताया है कि किस प्रकार एक द्रव्यात्मक यथार्थ सत्ता की, जो उसमे विद्यमान गुणों को वस्तु के स्थायित्व और स्थिरता का रूप प्रदान करती है,' सकल्पना निरर्थक है।[1] किसी वस्तु का आन्तरिक तत्त्व और अन्त.सार क्या है, यह हम नहीं जानते। हम किसी वस्तु को वास्तविक, यथार्थ या एक-जैसी तभी कहते हैं जबकि वह एक खास ढंग से व्यवहार करती है, जब वह एक विशिष्ट नियत क्रम मे बदलती है। किसी वस्तु की यथार्थता वह नियम है जिसके अनुसार परिवर्तमान घटनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई है, वह सूत्र है जो उसके इतिहास को सार रूप मे प्रस्तुत करता है, वह क्रम है जो उसके व्यवहार को प्रकट करता है। लोत्जे ने वस्तु के सार-तत्त्व की तुलना एक राग से की है जिसमे एक के बाद एक स्वर एक तारतम्य के नियम का पालन करते हैं। हम किसी वस्तु को द्रव्य तभी कहते हैं जबकि उसके गुण परस्पर समन्वित हो, जब उसके उत्तरोत्तर परिवर्तन एक ऐतिहासिक मार्ग का अनुगमन करे। किसी वस्तु की सत्ता उसकी उत्पत्ति या घटनात्मक रूप है। व्हाइटहैड का कहना है कि किसी आणिक वस्तु में स्थायी वस्तु 'द्रव्य' नहीं बल्कि 'आकार' है, और आकारों के सम्बन्धों का परिवर्तन होता रहता है।[2] देश-काल के सीमित क्षेत्रों मे प्रायः ऐसे गुण होते है जो न्यूनाधिक स्पष्टता से एक-दूसरे से अलग किये जा सकते है, और जो दीर्घकाल तक स्थायी बने रहते है और यदि उनमें परिवर्तन होता भी है तो व्यवस्थित ढंग से और आहिस्ता-आहिस्ता। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि परिवर्तन एक नमूने (टाइप) के अन्तर्गत होते हैं। आधारभूत सरचना मे परिवर्तन नहीं होता। 'भौतिक वस्तु' शब्द का अर्थ ऐसे विस्तृत, गुणात्मक देश-काल क्षेत्र ही हैं। भौतिक जगत् की वस्तुएँ इसी अर्थ मे 'द्रव्य' हैं। उनमे हमें कोई ऐसा स्थायी अधिष्ठान

१. अंग्रेजी अनुवाद, भाग १, अध्याय ३, पृ० ५७-७५।
२. प्रोसेस एण्ड रियेलिटी (१९२९), पृ० ४०।

(सबस्ट्रेटम) नहीं मिलता जो अपने गुणों और सम्बन्धों के परिवर्तन का साहसिक कार्य करे और साथ ही इन परिवर्तनों में स्वयं वैसा-का-वैसा बचा रहे। वास्तव में द्रव्य से हमारा अभिप्राय एक घटनावली होता है।

क्वाण्टम सिद्धान्त ने एक स्थायी द्रव्य की संकल्पना को भौतिक विज्ञान की दृष्टि से असंगत बना दिया है। वस्तु वास्तव में एक स्थान या केन्द्र से पड़ने वाले प्रभावों का समूह है और यह स्थान या केन्द्र भी अपने आपमें विशुद्ध प्राक्कल्पना-मात्र है। ठीक-ठीक कहा जाए तो हम सिर्फ घटनाओं का समूह ही देखते हैं, जो किसी नाटक के दृश्यों या किसी राग के स्वरों की भाँति एक के बाद एक आते हैं। ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो किसी भी क्षण सम्पूर्ण रूप में विद्यमान हो या सारे समय अनुजीवित रहे। यहाँ तक कि एक इलेक्ट्रॉन के बारे में भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु का एक ऐसा कण है जो सारे समय एक-जैसा रहता है और एक निश्चित देश-क्षेत्र में अवस्थित है। वस्तु का आत्मैक्य (वह एक या वही है, ऐसा भाव) अपेक्षाकृत दीर्घकाल तक औसत रूप में एक-जैसा रहने की प्रक्रिया का परिणाम है। एक इलेक्ट्रॉन भी सांख्यिकी की दृष्टि से अपरिवर्तित तत्त्व है, अर्थात् वह औसत रूप में एक-जैसा रहता है। उसकी द्रव्यात्मकता का कारण एक उच्चतर समन्वयकारी शक्ति है; क्योंकि कोई भी सतत रूप से रहने वाली वस्तु किसी उच्चतर समन्वयकारी शक्ति का ही परिणाम होती है। किसी वस्तु की एकता का अर्थ उसके इतिहास की एकता होता है।[1] कारण-कार्य सम्बन्ध वस्तु को काफी ऐक्य प्रदान करता है जिससे उस वस्तु को एक पृथक् नाम दिया जा सकता है। दुर्भाग्य से एक नाम एक ही वस्तु की ओर संकेत करता है और यदि सम्बद्ध घटनाएँ एक ही स्थान पर घटित नहीं होतीं तो हम कहते हैं कि वह वस्तु वहाँ से दूसरे स्थान पर चली गई है।

यदि वस्तुएँ घटनाओं की शृङ्खलाएँ हैं तो एकता का अर्थ है सम्बद्ध सातत्य। यदि परिवर्तन आहिस्ता-आहिस्ता होते हैं और उनमें वस्तु की संरचना नहीं

१. बर्ट्रेण्ड रसेल ने कहा है: 'हमें द्रव्य और कारण दोनों की अपनी कल्पनाओं को बदलना होगा। यह कहना कि परमाणु स्थायी है ऐसा ही है जैसा कि यह कहना कि एक धुन स्थायी है। यदि एक धुन को बजाने में पांच मिनट लगते हैं तो हम उसे सारे समय विद्यमान एक ही वस्तु नहीं मानते, बल्कि उसे स्वरों की एक शृङ्खला मानते हैं जो इस ढंग से परस्पर जुड़ी हुई होती है कि उसका आकार एक हो जाता है। धुन की एकता सौन्दर्य-बोधात्मक होती है और परमाणु की एकता कारणात्मक होती है।' (ऐन आउटलाइन ऑफ़ फ़िलासफ़ी (१९२७), पृ० ११८)।

बदलती तो उनमें विद्यमान सातत्य को एकत्व समझ लिया जाता है। यदि परिवर्तन एकाएक और सम्पूर्ण रूप से होते हैं और उनसे वस्तु की संरचना बदल जाती है तो हम कहते हैं कि वस्तु का एकत्व भंग हो गया है और वह बदल गई है। वस्तु की योजना या क्रम में स्थायित्व एक निश्चित समय तक ही रहता है। यदि वह अधिक समय तक रहता है तो हम कहते हैं कि यह वस्तु अधिक द्रव्यात्मक है। किन्तु उसका अर्थ द्रव्य का स्थायित्व नहीं होता। हम किसी वस्तु के बारे में यह बात, कि यह वही है, तभी कहते है जबकि उसके तत्त्व मे सामान्य परिवर्तनों के साथ-साथ उसके आकार मे स्थायित्व होता है। उदाहरण के लिए, मानव-देह को लीजिए। उसमे सारभूत वस्तु किन्ही दो क्षणों में एक-जैसी नही रहती, फिर भी हम उसे तब तक एक ही या वही कहते हैं, जब तक कि उसका बाह्य आकार और उसके व्यवहार के विशिष्ट तरीके कायम रहते हैं। ऐसे भी उदाहरण हैं, जहाँ सातत्य होता नही, किन्तु हम उसका आरोप करते हैं। उदाहरण के लिए, हम अपने-आपको एक ही मानते है और यह भी मानते हैं कि हमारे परिवेश एक ही है, हालांकि हम अपने परिवेश का खयाल भी नही करते और हमारे चेतन जीवन मे भी नीद के समय व्यवधान पड जाता है। कभी-कभी हमारे सातत्य के प्रत्यय भ्रमपूर्ण और उलझे हुए होते हैं। सिनेमा में एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न घटनाओ में भी हमे सातत्य का अनुभव होता है। द्रुत कम्पनों को हम स्थायी रग मान लेते हैं। क्वाण्टम का सिद्धान्त भी हमें यही सिखाता है कि प्रकृति मे अन्ततः असातत्य विद्यमान हैं। फिर भी तर्कशास्त्र की दृष्टि मे पदार्थों के श्रेणी-विभाजन मे आने वाला द्रव्य एक सातत्य है जिसे या तो हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं या अनुमान से जानते है।

हम द्रव्य किसे मानते हैं, यह हमारी दिलचस्पी और प्रयोजन पर निर्भर करता है। कुछ प्रयोजनो के लिए मानवीय व्यक्ति ही द्रव्य है। अन्य प्रयोजनो के लिए उसके शरीर का कोई भी अंग द्रव्य हो सकता है। दार्शनिक प्रयोजन के लिए प्रकृति समग्र रूप से द्रव्य हो सकती है। यदि द्रव्यत्व का चिह्न स्वतन्त्र सत्ता है तो कोई भी ससीम वस्तु द्रव्य नही है, भले ही हम किसी भी घटना-शृङ्खला को अपने परम्परागत प्रयोजनो के लिए एक व्यक्ति की संज्ञा दे दें। वस्तु घटनाओं के एक समूह का नाम है, जिसमे कुछ अपेक्षया स्थायी आदर्श और शक्तियाँ निहित हैं।

७. कारण :

कारण की सकल्पना मे भी सशोधन की आवश्यकता है। किसी भी विज्ञान की सम्भावना के लिए यह अनिवार्य शर्त है कि हमारे सम्मुख उपस्थित घटनाओ मे कुछ वास्तविक सम्बन्ध हो, वे सम्बन्ध केवल द्रष्टा की कल्पना-मात्र न हो। काण्ट इसका एक सरल उदाहरण देता है। उसका कहना है कि जब मैं किसी घर को देखता हूँ, तो उसके सम्बन्ध मे मेरा बोध कही भी प्रारम्भ हो सकता है और कही भी खत्म। वह ऊपर के सिरे से प्रारम्भ होकर नीचे के तल पर या नीचे के तल से प्रारम्भ होकर ऊपर के सिरे पर समाप्त हो सकता है। किन्तु जब हम धारा मे बहते हुए जहाज को देखते है तो उसे अनुभव करने का क्रम निश्चित होता है; हम उसे न तो बदल सकते है और न उलट। काण्ट का कहना है, कि कारणता का नियम एक सश्लिष्ट प्रागनुभव सिद्धान्त है। कभी-कभी यह कहा जाता है कि प्रत्यय प्रयत्न के अव्यवहित अनुभव में उदय होता है, जिसे हम वस्तुनिष्ठ विज्ञान मे व्याख्यात्मक सिद्धान्त के रूप मे इस्तेमाल करते है। यदि इच्छात्मक निमित्तता ही कारणता की सकल्पना का आधार है तो निष्प्राण वस्तुओ को निमित्त कारण नही माना जा सकता। इसके अलावा इच्छात्मक निमित्त कारणता चाहे हमारे लिए कितनी ही सुपरिचित वस्तु हो, किन्तु हम सहज में उसकी व्याख्या नही कर सकते। कारण, इच्छात्मक निमित्तकारणता मे कठोर सम्पर्क अन्तर्निहित है, जबकि सघन रूप से परस्पर जुडी हुई स्थितियो मे भी वह विद्यमान नही होता। इसके अतिरिक्त कारणता की सकल्पना में एक यह बात भी अन्तर्निहित प्रतीत होती है कि ससार विभिन्न वस्तुओ का एक समूह है, जबकि वास्तव मे वह वैसा नही है। सिर्फ इसलिए कि सकल्पनाएँ स्पष्ट और निश्चित है, यह नही कहा जा सकता कि जिन स्थितियों के साथ उनका सम्बन्ध है वे भी उतनी ही स्पष्ट और निश्चित है। मूर्त सत्ताओ पर गणित के फारमूले लागू कर हम यह निष्कर्ष निकालते है कि कार्य कारण के बराबर ही होता है, उससे अधिक नही। किन्तु यदि कारण और कार्य दोनों एक-जैसे अथवा समान होते है तो समस्त सृजनात्मकता और प्रगति का अन्त हो जाएगा। घटनाएँ कुछ नियमो के अनुसार घटती है। ऐसी कोई आवश्यकता नही है कि वे उसी ढग से हों, किन्तु स्थिति यह है कि वे होती उसी ढग मे है। हम नही जानते कि हाइड्रोजन और ऑक्सीजन के मिलने से ही पानी क्यो बनना चाहिए, और तत्त्वों के मिलने से क्यों नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब बिना किसी तर्क के मनमाने ढग से होता है। प्रकृति

में वस्तुएँ किसी आवश्यकता से विद्यमान नहीं होती। किसी भी वस्तु का होना 'अनिवार्य' नहीं है और न किसी वस्तु के होने का कोई 'औचित्य' है। तथ्य सिर्फ इतना ही है कि वस्तुएँ 'हैं'। ह्यूम ने बहुत पहले यह सिद्ध कर दिया था कि कारण और कार्य में विश्वास करने का इसके सिवाय कोई उचित तर्क नहीं है कि हम कुछ चीजों को कुछ चीजों के बाद होते देखते हैं। चाहे हम कुछ घटनाओं को कितनी ही बार एक नियत क्रम से होते देखें, हम उनसे कुछ नहीं सीखते। पौर्वापर्य क्रम के नियम प्रेक्षित तथ्य हैं, उनमें तार्किक अनिवार्यता या आवश्यकता कुछ नहीं है। जब हम कहते हैं कि 'क' के बाद 'ख' जरूर आता है, तो उसका अभिप्राय यही होता है कि बहुत से उदाहरणों में 'क' और 'ख' का यह सम्बन्ध हम देखते हैं और हमें इसके विपरीत कोई उदाहरण ज्ञात नहीं है। यह कहना कि 'ख' 'क' से पैदा होता है, सिर्फ उनके क्रम को बताना है। उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं होता कि 'ख' 'क' ही है या 'क' के बराबर है। कार्य कारण का ही दूसरा रूप नहीं है। अन्त प्रारम्भ का ही वेश-परिवर्तन नहीं है। हम किसी को 'कारण' नहीं कह सकते, क्योंकि कारण-जैसी कोई चीज़ नहीं है, सिर्फ कारण-सम्बन्धी कुछ नियम हैं, कुछ ऐसे चुने हुए क्रम है जिन्हें हम एक-सा पाते हैं, कुछ पौर्वापर्य के अनुभूत नियम हैं। घटनाएँ परस्पर-सम्बद्ध होती है और कारण-कार्य नियम हमें उन घटनाओं के आपसी सम्बन्ध बताते हैं।

८. क्रम और प्रगति :

ब्रह्माण्ड का हम वैज्ञानिक अध्ययन और विवेचन कर सकते हैं, क्योंकि प्रकृति परस्पर-सम्बद्ध घटनाओं का एक ताना-बाना है। हर घटना का एक व्यक्तिगत और एक समष्टिगत स्वरूप होता है। उसमें अपनी एक विशिष्टता एक अद्वितीयता होती है और साथ ही अन्य घटनाओं के साथ उसका सम्बन्ध भी होता है। हर घटना जो कुछ है वही है, किन्तु वह जो कुछ है वह तब तक नहीं हो सकती जब तक कि अन्य घटनाओं का प्रभाव और सहायता उसे प्राप्त न हो। घटनाएँ किसी भी तरह दूसरी घटनाओं से बिलकुल विच्छिन्न, एकाकी और खिड़की-झरोखे के सम्पर्क से रहित नहीं हैं। व्यक्ति से उसका परिवेश अलग या पराया नहीं है। परमाणु की पुरानी संकल्पना में परमाणु अपने स्वरूप में तो पूर्णत: स्वतन्त्र और व्यतिरिक्त होते थे और उनके सम्बन्ध बिलकुल बाह्य, परकीय और आकस्मिक थे। उस संकल्पना के अनुसार परमाणु के इर्द-गिर्द परिवेश ही

या न हो और हो तो चाहे कैसा भी हो, परमाणु बदलेगा नहीं, वैसा ही रहेगा। किन्तु अब इलैक्ट्रॉन की संकल्पना ने परमाणु को एक सामष्टिक रूप भी प्रदान कर दिया है। यदि हम उसे एक पृथक् अमूर्त व्यष्टि के रूप में ही मानें तो हमें उसका बोध हो ही नहीं सकता। इलैक्ट्रॉन मिलकर समूह या समग्र की रचना करते हैं और उनके सम्बन्धों का बोध हमें तभी हो सकता है जबकि हम उन्हें समग्र के अंग या सदस्य के रूप में देखें। एक सजीव शरीर के भीतर विद्यमान इलैक्ट्रॉन उससे बाहर के इलैक्ट्रॉन से भिन्न होता है, क्योंकि शरीर की योजना और व्यवस्था में उसका भी हिस्सा होता है। परमाणु के भीतर प्रोटानों और इलैक्ट्रॉनों के पारस्परिक सम्बन्ध बाह्य या आकस्मिक नहीं हैं, वरन् स्वयं परमाणु की सामान्य संरचना के ही परिणाम हैं। अणु (मौलीक्यूल) आदि अधिक सम्मिश्र संरचनाएँ उनके गुणों को निर्धारित और निर्दिष्ट करती हैं। भौतिक स्तर पर भी यथार्थता स्वतन्त्र और एक-दूसरे से अलग वस्तुओं का समूह ही नहीं है, बल्कि वह उनसे बना हुआ एक समग्र पूर्ण अवयवी है और इसीलिए उसकी एक नियत संरचना है जो उसके अंगों के सम्बन्धों और गुणों को निर्दिष्ट करती है। समग्र पूर्ण अवयवी द्वारा नियन्त्रण एक विशिष्ट आश्चर्यजनक तथ्य है। हम उसके एक अंग से दूसरे का अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि घटनाएँ पारस्परिक सम्बन्ध का ही एक संसार है। किसी भी एक मंजिल में यह समस्त ब्रह्माण्ड एक विश्व-स्थिति है और उसका कोई एक भाग उसकी समूची पृष्ठभूमि है।

संसार में केवल क्रम ही नहीं है, प्रगति भी है। भौतिक संसार की दो विशिष्टताएँ हैं—सातत्य और परिवर्तन, अतीत के साथ सम्बन्ध और भविष्य में सृजनात्मक प्रगति। काल एक सम्बन्ध है, केवल पौर्वापर्य ही नहीं है। अतीत मरता नहीं, वर्तमान में जीवित रहता है और वर्तमान भविष्य में प्रवाहित होता रहता है। हर घटना का सम्बन्ध केवल अतीत से ही नहीं भविष्य से भी होता है। चेतन-स्तर पर यदि हम देखें तो हम पायेंगे कि हमें न केवल अतीत का स्मरण होता है, बल्कि भविष्य की कल्पना भी होती है। भौतिक स्तर पर भी अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना-जैसी चीजें होती हैं—एक भौतिक स्मृति और दूसरी अन्ध-भविष्य कल्पना। संसार की कोई भी घटना अपने-आपमें पूर्ण नहीं होती। वह अपनी पूर्णता एक अनिश्चित भविष्य में देखती है। प्रकृति की समग्र प्रक्रिया में हमें सृजनात्मकता अथवा नवीन का जन्म दिखाई देता है, जिसे हम फिर से पुरातन में लौटा नहीं ले जा सकते और न पुरातन

का परिणाम ही कह सकते है। अपने वर्तमान के ज्ञान के आधार पर हम भविष्य का प्राक्कथन नही कर सकते। परमाणु की विकिरण प्रक्रियाएँ और रासायनिक सम्मिश्रण स्थायी यौगिक (कम्पाउड) पैदा करते हैं। हाइड्रोजन के दो परमाणु, जो एक-दूसरे से कुछ दूर हैं *और जिनमें एक अणु बनाने के लिए आवश्यक* पूर्ण ऊर्जा है, वाह्य प्रभावों का हस्तक्षेप न होने पर आकर्षण के अप्रतिरोध्य नियम के अन्तर्गत एक-दूसरे की ओर गति करते हैं। दोनों परमाणु एक निश्चित उद्देश्य के लिए कार्य करते हैं, हालांकि वे यह बात जानते नही। प्रकृति मे हमेशा कुछ-न-कुछ नया घटित होता रहता है। हर घटना एक नयी सम्भावना को वास्तविक बनाती है जो अतीत मे निहित नही होती। वस्तु अपनी प्रगति की कूच मे कुछ नये सरचनात्मक समूह और सयोग बनाती है जो न केवल हमारे लिए मूल्यवान् हैं, अपितु ब्रह्माण्ड की क्रम-व्यवस्था में भी मूल्यवान् हैं। लॉयड मॉर्गन का कहना है कि प्रकृति मे ऐसी सर्वथा नयी उद्भूत होने वाली वस्तुएँ हैं—इनके लिए उन्होंने *जी० एच० लुइस का 'इमर्जेण्ट' शब्द प्रयोग किया है*—जिन के स्वरूप और लक्षणो के बारे मे उनके विभिन्न घटकों के स्वरूप को देखकर पहले से कुछ नही कहा जा सकता। इन नयी सरचनाओं के स्वरूप और प्रकृति को उनके उद्भव या उत्पत्ति के बाद अध्ययन और परीक्षणों से ही जाना जा सकता है। जो वस्तुएँ एकाधिक वस्तुओं के मिलने के परिणामस्वरूप बनती हैं (रिजल्टेंट) उनकी प्रकृति तो उनके घटकों से मिलती-जुलती है किन्तु सर्वथा नयी उद्भूत होने वाली वस्तुओं (इमर्जेण्ट) की प्रकृति और सरचना सर्वथा भिन्न, अकल्पित और नयी होती है। यदि विकास (एवोल्यूशन) का अर्थ एक ऐसी वस्तु को अनावृत करना है जो पहले से विद्यमान है तो उद्भव (इमर्जेंस) का अर्थ एक ऐसी वस्तु का उद्भूत या आविर्भूत होना है जो स्वय उसके भीतर पहले से निहित, किन्तु छिपी हुई थी, किन्तु विकास का अर्थ एक सर्वथा नयी वस्तु का अस्तित्व मे आना किया जाता है, जिसका प्राक्कथन उसके अस्तित्व मे आने से पहले नही किया जा सकता।

यद्यपि प्रत्येक घटना हर दूसरी घटना से भिन्न होती है और उसका एक अपना अलग और विशिष्ट स्वरूप होता है, तो भी हम अपना ध्यान आकार, बनत या सरचनात्मक सघटन पर केन्द्रित करते हैं और जब तक वह यही रहता है तब तक हम उन परिवर्तनों की परवाह नही करते, जो वैज्ञानिक वर्गीकरण की दृष्टि से नगण्य होते हैं। किन्तु जब कोई नया सरचनात्मक सघटन उद्भूत होता है तो वह हमारा ध्यान आकृष्ट करता है और हम कहते हैं कि एक नया आकार पैदा

हुआ है। एकाधिक वस्तुओं के मिलन के परिणामस्वरूप होने वाली प्रगति और एकाधिक वस्तुओं से एक नयी वस्तु के उद्भव से होने वाले विकास का अन्तर केवल उनकी कार्यविधि का अन्तर है, दार्शनिक दृष्टि से वह अन्तर नहीं होता। दोनों अवस्थाओं में काल में कुछ-न-कुछ सृजनात्मक प्रगति होती है, चाहे वह थोड़ी हो या अधिक। वस्तु का स्वरूप तत्वतः सृजनात्मक होता है और उसकी प्रक्रियाएँ अप्रत्यावर्तनीय होती हैं। इसीलिए उसे ब्रह्माण्ड की जननी कहा जाता है। सृजनात्मकता केवल प्राणमय और मनोमय पहलुओं तक ही सीमित नहीं है, वस्तु भी सृजनात्मक परिवर्तन है। उसकी अप्रत्यावर्तनीय प्रक्रियाओं का अर्थ है कि उनके निश्चित आयोजन और उद्देश्य है, भले ही वस्तु को उनका ज्ञान न हो। भौतिक जगत् स्वयं एक ऐसे भविष्य के लिए तैयारी करता है जो अपूर्ण और अधूरा रह गया है। एक निश्चित समय पर पृथ्वी की सतह पर प्रभूत मात्रा में कार्बन, हाइड्रोजन और ऑक्सीजन आए और उन्होंने जीवन के उद्भव के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कीं। इन भौतिक परिस्थितियों और परिवेश की प्रक्रियाओं की तब तक कोई युक्तियुक्त व्याख्या नहीं की जा सकती, जब तक यह न मान लिया जाए कि जिस जीवन की तैयारी के लिए वे हुई थीं, उनका कोई निश्चित उद्देश्य है।

अतीत से वर्तमान की व्याख्या नहीं की जा सकती। हर घटना एक रहस्य है। सत्ता एक सतत चमत्कार है। भौतिक विज्ञान यदि एक चमत्कार को एक समीकरण (इक्वेशन) में परिणत करने का प्रयत्न करे तो वह सफल नहीं होगा। वह सिर्फ यह बताता है कि पिण्ड किस ढंग से व्यवहार करते हैं, किन्तु वह यह नहीं बताता कि वे ऐसा क्यों करते हैं। हमारे भौतिक और रासायनिक प्रतीक कार्य के लिए आवश्यक साधन हैं और वे हमारे लिए अत्यधिक उपयोगी हैं। किन्तु ये प्रतीक सिर्फ यथार्थता और वास्तविकता के एक ही पहलू का प्रतिपादन करते हैं और वह भी बिलकुल नपे-तुले रूप में नहीं, बल्कि मोटे तौर पर। हमारा यह खयाल हो सकता है कि हम वस्तु के बारे में सब-कुछ जानते हैं, उसका अस्तित्व असन्दिग्ध है और उसकी प्रकृति और स्वरूप को समझा जा सकता है, परन्तु वास्तव में हम जो कुछ जानते हैं, वह वस्तु का हम पर पड़ने वाला प्रभाव ही है। जब हम उस पर विचार करते हैं तो हम देखते हैं कि वह कुछ भावनाओं और उनके आपसी सम्बन्धों के सिवाय और कुछ नहीं है। वह अनुभव और सम्भावित अनुभव-मात्र है।

६. भौतिक विज्ञान और आत्मनिष्ठतावाद :

यह हो सकता है कि वस्तु की संरचना उससे अधिक सम्मिश्रित और जटिल हो और उसकी सम्भावनाएँ उससे अधिक सूक्ष्म हों जितनी कि हम कल्पना करते हैं, फिर भी वस्तु वस्तु ही है और कुछ नहीं। वस्तु को वैद्युतिक ऊर्जा बताने का अर्थ उसे मन के समकक्ष बताना नहीं है। किन्तु कुछ वैज्ञानिक दार्शनिकों की पुस्तकों में भौतिक वस्तु की मानसिक वस्तु के रूप में व्याख्या करने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। इसका उत्तरदायित्व मुख्यतः आधुनिक भौतिक विज्ञान के दो मुख्य सिद्धान्तों—सापेक्षतावाद और क्वाण्टम सिद्धान्त—पर है। दार्शनिक विचार के इतिहास का अध्ययन करते हुए हम यह बात देखते हैं कि उसमें सापेक्षतावाद और आत्मनिष्ठतावाद को आम तौर पर एक ही समझ लिया जाता है। वस्तुओं के परिवर्तनीय लक्षणों का कारण प्रायः द्रष्टा की दृष्टि समझ लिया जाता है। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण हम प्रधान और गौण गुणों के भेद में पाते हैं। यह माना जाता है कि 'गौण' गुण अर्थात् वस्तुओं के परिवर्तनीय लक्षण कर्ता या द्रष्टा की प्रवृत्ति पर निर्भर होते हैं। किन्तु अब क्योंकि 'प्रधान' गुण भी सापेक्ष माने जाते हैं इसलिए वे भी आत्मनिष्ठ कल्पित किये जाते हैं। वे सब गुण, जो किसी वस्तु या प्रणाली में किसी अन्य वस्तु या प्रणाली के सम्बन्ध में किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों में होते हैं, सापेक्ष कहलाते हैं, जबकि वे गुण, जो किसी वस्तु में किसी बाह्य वस्तु के साथ सम्बन्ध के बिना, उनकी अपनी सत्ता में होते हैं, वे निरपेक्ष कहलाते हैं। जो गुण किसी समय निरपेक्ष और स्वाभाविक कहे जाते थे वे अब सापेक्ष और परिवर्तनीय माने जाते हैं। वे सही मानों में यथार्थ के गुण और स्वरूप नहीं हैं, बल्कि द्रष्टा की दृष्टि के परिणाम हैं। इसके अतिरिक्त, मानवीय परिप्रेक्ष्य या साम्यानुमान घटनाओं की सापेक्षता की व्याख्या में भी अपनाया जाता है। यदि भौतिक सम्बन्धों में सापेक्षता है तो मानवीय परिप्रेक्ष्यों की आत्मनिष्ठता भी उनमें होनी चाहिए।[1] यदि हम प्रकृति की

१. एडिंगटन का कहना है : 'भौतिक जगत् की वस्तुएँ किस प्रकार व्यवहार करती हैं, इसका जो विवरण हम देते हैं, उस पर हमारा अपना, हमारी परम्पराओं की और हमारी रुचियों की छाया उससे कहीं अधिक रहती है जितना कि हम महसूस करते हैं। एक वस्तु पर जब परम्पराओं की एक शृंखला की दृष्टि से विचार किया जाता है तो वह बड़े विशिष्ट और असाधारण ढंग से व्यवहार करती प्रतीत होती है, किन्तु इसी को जब हम कुछ अन्य परम्पराओं की दृष्टि से देखते हैं तो हमें उसमें कुछ असाधारणता या विशिष्टता नजर नहीं आती।' (दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड (१९२८), पृष्ठ १५२)

एकरूपता में विश्वास करते हैं तो उसका कारण यह है कि हम हर वस्तु को सरल रूप में चाहते है, उसका कारण यह नहीं कि प्राकृतिक दृष्टि से वैसा होना आवश्यक है। हमारे द्वारा निर्धारित नियम प्रकृति की सरचना या योजना के अग नहीं हैं। 'यह तथ्य, कि पृथ्वी के लिए देश और काल से गुजरने के लिए एक ऐसा मार्ग निर्धारित कर दिया गया है, जिसकी पहले से ही भविष्यवाणी की जा सकती है, उसके व्यवहार पर कोई वास्तविक प्रतिबन्ध नहीं है बल्कि यह प्रतिबन्ध तो हमारी उस आकारिक विचार और गणना-प्रणाली का अग है जिसके द्वारा हम पृथ्वी के गति सम्बन्धी व्यवहार की व्याख्या करते हैं।'[1] चेतना महज 'एक ऐसी अतात्विक वस्तु नहीं है जो कभी कभी विकासोन्मुख इतिहास की किसी उत्तरवर्ती मजिल में अजीविक प्रकृति के मध्य में पाई जाती हो,' बल्कि वह समस्त अनुभव के लिए आवश्यक और अनिवार्य तत्त्व है। भौतिक विज्ञान अपनी विचारणीय वस्तुओं में जो गुण आरोपित करता है, वे मुख्यत. विचारक मन की उपज है। भौतिक विज्ञान एक ऐसी सरचना है जिसे हम अपने मन पर अनुभव किये जाने वाले प्रपत्र और उनके आधार पर बनाये गए नियमों से खडी करते है। इसके अतिरिक्त स्वय भौतिक जगत् में भी कुछ स्वतोभावित्व है। अपूर्व निर्धारितत्व और आकस्मिकता का सम्बन्ध आम तौर पर मानवीय इच्छा से जोडा जाता है। प्राकृतिक घटनाएँ सामान्यतः अपूर्व निर्धारित मानी जाती हैं। हाईसेनबर्ग के अपूर्वनिर्धारितता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में एडिंगटन ने कहा है, 'भौतिक विज्ञान किसी पूर्व-निर्धारित नियम से बँधा हुआ नहीं है।'[2] भौतिक यथार्थता और सरचनात्मक कारणता के विवाद के सम्बन्ध में आइन्स्टाइन को उद्धृत करते हुए एडिंगटन ने कहा है कि 'भविष्य अतीत में विद्यमान कारणों के प्रभावों का एक सम्मिश्रण है, किन्तु उसमें कुछ ऐसा तत्व भी मिला है जिसको हम पहले से नहीं बता सकते—और उसे पहले से न बता सकने का कारण सिर्फ यह नहीं है कि इस प्राक्कथन के लिए आवश्यक दत्त सामग्री प्राप्त करना क्रियात्मक दृष्टि से सम्भव नहीं है, बल्कि उसका कारण यह है कि ऐसी कोई दत्त सामग्री है ही नहीं जो उनकी कारण-कार्य शृङ्खला को हमारे अनुभव में ला सके।'[3] एडिंगटन का यह विश्वास प्रतीत होता है कि यह अपूर्व निर्धारितत्व मानसिक क्रिया का, चुनाव की स्वतन्त्रता का चिह्न

१. दि नेचर आफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ १४८।
२. दि नेचर आफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ २६४।
३. दि नेचर आफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ २६४-२६५।

प्रतीत होता है। क्योंकि भौतिक विज्ञान के नियम सही मानों में किन्हीं कारण कार्य-सम्बन्धों पर आवृत नहीं हैं और क्योंकि ऐसी कोई भी चीज नहीं है जो परमाणु के क्वाण्टम सिद्धान्तों को, जो न्यूनाधिक दिमाग से सोच-विचार कर किये गए चुनावों के समान प्रतीत होते हैं, पूर्व-निर्धारित करती हो, इसलिए परमाणु की तह में जो कुछ है उसे मस्तिष्क की तह में विद्यमान वस्तु के साथ सतत रूप में विद्यमान कहा जा सकता है। 'जहाँ तक मस्तिष्क का सम्बन्ध है, हम देखते हैं कि बाह्य सकेतकों के अध्ययन के पीछे एक मानसिक जगत् भी है जिसे हम अपनी अन्तर्दृष्टि से देख सकते हैं, और उस जगत् में हम निर्णय या निर्धारण के तथ्य की एक नयी तस्वीर देखते हैं, जिसके बारे में हम यह मान सकते हैं कि वह उसके यथार्थ स्वरूप को अभिव्यक्त करती है—बशर्ते कि 'यथार्थ स्वरूप' जैसी कोई चीज हो। किन्तु परमाणु के सम्बन्ध में हमें ऐसा कोई अन्तर्ज्ञान नहीं है कि बाह्य सकेतकों के पीछे क्या है। हम यह विश्वास करते हैं कि समस्त सकेतकों के पीछे एक पृष्ठभूमि है जो मस्तिष्क की पृष्ठभूमि के साथ सतत रूप में विद्यमान है।'[1]

एडिंगटन ने जो दूसरी युक्ति दी है वह यह है कि वैज्ञानिक सत्यों की परीक्षा और पुष्टि केवल मूर्त और सम्मिश्रित घटनाओं में ही की जा सकती है, जिनके समग्र स्वरूप की केवल समीकरणों से ही परीक्षा और निर्धारण नहीं किया जा सकता। भौतिक विज्ञान के नियमों का सम्बन्ध ऐसे अमूर्तीकरणों, 'सकेतकों के सकेतों' के परिमाणात्मक सह-सम्बन्धों के साथ है, जो सम्भावित ससारों में से किसी एक में लागू हो सकते हैं। ऐसे ससारों की अनिश्चित संख्या में से, जो इस बात का उदाहरण है कि प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत क्या-कुछ सम्भव है, एक ससार ऐसा है जो उन नियमों की पूर्ति में भी कुछ अधिक करता है। उसका ऐसा करना एक ऐसा गुण है, जिसकी व्याख्या स्पष्टतः प्रकृति के किसी भी नियम से नहीं की जा सकती, और जिसे हम 'वास्तविकता' का नाम देते हैं, और इस शब्द का प्रयोग हम किसी विशिष्ट अर्थ को बताने के लिए नहीं करते, उसे एक *अनिश्चितता के प्रभामण्डल से मण्डित रखते हैं। हम किसी ससार को वास्तविक* इसलिए मानते हैं क्योंकि वही एकमात्र ऐसा संसार होता है, जिसके साथ चेतना पारस्परिक क्रिया करती है।'[2] 'वास्तविक और अवास्तविक का भेद केवल मन

१ दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ ३११-३१२।
२. दि नेचर ऑफ दि फिजिकल वर्ल्ड, पृष्ठ २६५-२६६।

की दृष्टि से होना है।'[1] घटनाओं जो वास्तविक मानेतर पदार्थ होता है वह मानसिक पदार्थ है। 'संसार का पदार्थ मन का पदार्थ है।'[2] यहाँ मन व्यापक अर्थ में लिया जाता है। 'चेतना की कोई निश्चित व्याख्या नहीं है, वह अवचेतना में छिप जाती है, और उससे परे हमें किसी अनिश्चित वस्तु को स्वीकृत करना चाहिए, जो अनिश्चित होते हुए भी हमारी मानसिक प्रवृत्ति के साथ सतत रूप से विद्यमान है। इसे मैं विश्व का पदार्थ मानता हूँ।'[3] रहस्यवादियों के रहस्यमय अनुभवों में भी यही अनुभव होता है कि भौतिक संसार और चेतना एक ही हैं।[4]

सापेक्ष और परिवर्तनशील लक्षण अनिवार्यतः आत्मनिष्ठ नहीं हैं। विशिष्ट और परिवर्तनशील लक्षण भी वैसे ही वास्तविक हैं, जैसे कि सामान्य और व्यापक लक्षण। सापेक्षता का सिद्धान्त ऐसे समीकरण स्थापित करने का प्रयत्न करता है जो सभी प्रेक्षकों के लिए सही हों और जो व्यक्तिगत मान्यता से सर्वथा स्वतन्त्र और मुक्त हों। नया भौतिक विज्ञान वस्तुनिष्ठता को एक नयी व्यवस्था में प्रस्तुत करता है किन्तु वह आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ के भेद को खत्म नहीं करता। इसके अलावा, यह दृष्टिकोण स्वीकार करना कठिन है कि पृथ्वी की सापेक्ष स्थिति आदि वस्तुनिष्ठ प्रतीत होने वाले तथ्यों का घटित होना या न होना मनुष्य की सुविधा पर निर्भर है। सूर्य की गति सिर्फ इसलिए आइन्स्टाइन की भविष्य-गणना के अनुसार नहीं होती कि वह ऐसा चाहता था। अन्तरिक्ष के ग्रह-नक्षत्रों की वास्तविक और निर्धारित गतियाँ निर्धारित भौतिक कारणों की वजह से होती हैं। इस मान्यता का, कि भौतिक विज्ञान के सामान्य नियम घटनाओं के वास्तविक क्रम और परिस्थितियों को निर्धारित नहीं करते, बल्कि वे सिर्फ उनका वर्णन करते हैं, अर्थ यह नहीं है कि हम उनकी वस्तुनिष्ठता को अस्वीकार करते हैं। समय के हमारे माप—सेकंड, मिनट और घंटा—केवल मानव द्वारा रचित हो सकते हैं, किन्तु प्रकृति की लयबद्ध प्रक्रियाओं में इसमें कोई

१. दि नेचर ऑफ दि फ़िज़िकल वर्ल्ड, पृष्ठ २६७।
२. दि नेचर ऑफ दि फ़िज़िकल वर्ल्ड, पृष्ठ २७६।
३. दि नेचर ऑफ दि फ़िज़िकल वर्ल्ड, पृष्ठ २८०।
४. 'हमारे मन संसार से और हमारी हर्ष एवं विषाद की भावनाओं से अलग नहीं होते, और हमारी और अधिक गहरी अनुभूतियाँ भी सिर्फ हमारी अपनी ही अनुभूतियाँ नहीं होतीं, बल्कि हमारी चेतना की संकीर्ण सीमाओं से भी परे विद्यमान यथार्थ की झाँकियाँ होती हैं—प्रकृति की समस्वरता और उसकी सुन्दरता मूलतः मनुष्य के आह्लाद और हर्ष के साथ एक और तदात्मा होती है।' (दि नेचर ऑफ दि फ़िज़िकल वर्ल्ड, पृष्ठ ३२१)।

अन्तर नहीं आता कि हम उन्हें किस रूप में देखते हैं। सौर-परिवार हमारे मन की सृष्टि नहीं, बल्कि वास्तविक वस्तु है, हालांकि हम लोग अनेक दृष्टिकोणों से उसे देखते-परखते हैं। यही नहीं, ज्योतिर्विज्ञान की अनेक प्रणालियों में उसका स्थान है। एक तरह से देखा जाए तो यह बात बहुत सही है कि हम प्रकृति का निर्माण करते हैं। हम स्थायित्व को मूल्यवान् समझते हैं और प्रतीयमान द्रव्य का एक सभार रचते हैं। किन्तु इसमें हम तथ्य की अनिवार्यता की उपेक्षा नहीं कर सकते। तथ्य के नियन्त्रण में ही हम अपने विज्ञानों का भवन खड़ा करते हैं। यदि हम उसकी उपेक्षा कर दें तो विचार महज कल्पना-मात्र रह जाएगा। वस्तु की सकल्पना के लिए अवश्य ही मानवीय मन उत्तरदायी है, किन्तु वह उसका स्रष्टा किसी भी तरह नहीं है।

मनुष्य के कार्यकलाप और गति विधि निर्धारित नियम से नहीं होने, इससे हम यह अनुमान नहीं कर सकते कि मानव स्वतन्त्र है। प्राकृतिक घटनाएँ भी कुछ लिहाज से निर्धारित नहीं होती, हालांकि उनकी सामान्य सरचना के नियम पूर्णतः निर्धारित होते हैं। किन्तु इस अनिर्धारितता का अर्थ यह नहीं है कि प्रकृति बिना किसी नियम के मनमाने ढंग से कार्य करती है, जैसा कि हम मानव के बारे में कहते हैं। अनिर्धारितता का सिद्धान्त सिर्फ यही सिद्ध करता है कि भौतिक नापों का कोई एक निश्चित समूह ऐसा नहीं है जो प्राकृतिक तथ्य को, जो अनेक चीजों का मिश्रित और जटिल रूप है, पूरी तरह निर्धारित कर सके। हाइसेनबर्ग का अनिर्धारितता का नियम सिर्फ यही बताता है कि क्रियात्मक नापों की भी एक सीमा है। उसका अर्थ निर्धारितता का अभाव नहीं है। सभी अमूर्त्त निर्धारण सम्पूर्ण घटना की दृष्टि से आंशिक हैं, यहाँ तक कि परमाणु के भीतर जो निर्धारित नियम का कभी-कभी व्यतिक्रम हो जाता है वह भी मानव को स्वतन्त्र मानने की मान्यता में किसी भी कदर सहायक नहीं है। इससे यह कहना कि परमाणु में विद्यमान इलेक्ट्रॉन 'स्वतन्त्र' हैं, स्वय स्वतन्त्रता को नीचे गिराना है।

यह सत्य है कि विज्ञान के निष्कर्षों की पुष्टि केवल परीक्षणों द्वारा ही की जाती है। किन्तु जब हम यह कहते हैं कि जो-कुछ घटित होता है वह सापेक्ष रूप से वास्तविक है तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि वह आत्मगत मन की अपेक्षा से वास्तविक है। विज्ञान अपने निष्कर्षों की पुष्टि के लिए जिस अनुभव को आधार बनाता है, वह मानसिक दत्त सामग्री की कोई व्यक्तिगत प्रणाली नहीं है। वास्तविकता का पता स्वयं घटनाओं के प्रवाह से लगता है, घटनाओं के

आन्तरिक स्वरूप के बारे में हमारी अनुभूतियों या धारणाओं से नहीं। भौतिक जगत् के भीतर गहराई में एक अज्ञात अन्तर्वस्तु या अन्तःसार है जिस तक भौतिक वैज्ञानिकों के तरीके पहुँच ही नहीं पाते। किन्तु वस्तुओं की आन्तरिक प्रकृति का अपरोक्ष ज्ञान हमें केवल चेतन जीवन में ही होता है सिर्फ इसीलिए हम यह नहीं कह सकते कि यह अन्तर्वस्तु हमारी चेतना की सामग्री है।

एडिंगटन के अनुभूत जगत् को जिसे भौतिक विज्ञान के समीकरणों में नहीं बांधा जा सकता, मानसिक जगत् की सृष्टि बताने का इस आधार पर जो प्रयत्न किया है, कि आकस्मिकता, सापेक्ष वास्तविकता और अनिर्धारितता मानसिक प्रपंच के लक्षण हैं उसके प्रति महानुभूति रखते हुए भी हमारे लिए अनुभव के उन स्थायी और आग्रही पहलुओं की, जो सिर्फ ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं किये जा सकते, उपेक्षा करना कठिन है। आनुभविक दृष्टि से उनके स्वरूप और लक्षण इतने भिन्न हैं कि उनमें से एक को दूसरा बताने का प्रयत्न करना अयुक्तियुक्त है। मानवीय मन के अनुभव भी वैसे ही प्राकृतिक जगत् के लक्षण हैं, जैसे कि अणुओं की गतियां।[1] वस्तु की सकल्पना ही यह सिद्ध करती है कि अनुभूत जगत् का एक ऐसा पहलू भी है जो मानसिक जगत् से सर्वथा भिन्न है और जिसकी अभिव्यक्ति के लिए मानसिक माध्यम से भिन्न माध्यम का आश्रय लिया जाता है। वस्तु का अपेक्षाकृत ठोस होना मन की अभिव्यक्ति में सहायता करता है और साथ ही उसकी क्रिया को सीमित और प्रतिबन्धित करता है। वस्तु के नकारी (अभावात्मक) कार्य पर चिन्तन के इतिहास में बहुत बल दिया गया है। हाड़-मास का क्षय होने पर आत्मा का काम भी खत्म हो जाता है। जैसा कि प्लेटो ने कहा है शरीर आत्मा का मकबरा है। आधुनिक भौतिकशास्त्रियों ने यह जो आशंका व्यक्त की है कि भौतिक जगत् की कालावधि खत्म हो रही है और कोई भी मानव या अतिमानव-जाति हमेशा कायम नहीं रह सकती, वह वस्तु के नकारी कार्य पर आधृत है। मूर्त्त अनुभव में मन और भौतिक वस्तु का परस्पर सम्बन्ध

१. तुलना कीजिए : मैक्स प्लैंक : 'तर्क बुद्धि हमें यह बताती है कि व्यक्ति और समस्त मानव-जगत् ही नहीं, वह सारा संसार, जिसे हम अपने ऐन्द्रियिक बोध से जानते हैं, विराट् प्रकृति के एक छोटे से टुकड़े से अधिक नहीं है, और इस प्रकृति के नियमों पर मानव-मस्तिष्क का कोई असर नहीं है। इसके विपरीत ये नियम पृथ्वी पर जीवन के उद्भव से भी बहुत पहले से विद्यमान हैं और पृथ्वी के अन्तिम भौतिक वैज्ञानिक के नष्ट हो जाने के भी बहुत समय बाद तक बने रहेंगे।' (दि यूनिवर्स इन दि लाइट ऑफ़ माडर्न फ़िज़िक्स, अंग्रेजी अनुवाद, (१६३१), पृ० ८)।

है, किन्तु एक के दूसरे मे साम्यान्वेषण मे सम्बन्ध की मूर्त्तता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। भौतिक वस्तु और मन दोनों का प्रकृति मे सम्बन्ध है, किन्तु भौतिक वस्तु मन नही है। भौतिक वस्तु कितनी भी सूक्ष्म हो, मन मे उसकी भिन्नता बनी ही रहेगी।

सर जेम्स जीन्स ने 'दि मिस्टीरियस युनिवर्स' (१९३०) मे यह विचार प्रकट किया है कि प्रकृति का व्यवहार क्योंकि 'शुद्ध' गणितीय सम्बन्धों द्वारा बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है, इसलिए प्रकृति की यथार्थता को गणितज्ञ के मन की भाँति व्यवहार करना चाहिए। मन, क्योंकि विचारों मे बना होता है, इसलिए यह माना जा सकता है कि प्रकृति भी विचारों से बनी होगी। परन्तु विज्ञान भौतिक जगत् को इस प्रकार रहस्यमय स्तर तक उठाने की पुष्टि और समर्थन नही करता। ऐसा प्रतीत होता है कि सर जेम्स यह भूल गए हैं कि गणितीय भौतिक विज्ञान मे जिस प्रकार का विश्लेषण किया जाता है वह भौतिक *तथ्यों की व्याख्या के लिए पर्याप्त नही है। यह विश्लेषण-पद्धति अपूर्ण, अनुमानात्मक* और अमूर्त है। घटनाओं के गणितीय गुण हमे उनकी आन्तरिक प्रकृति की जानकारी नहीं देते। हम प्रारम्भ तो इन्द्रियगम्य प्रपचो की व्याख्या से करते हैं, किन्तु बाद में निष्कर्ष के रूप मे उनमे इलेक्ट्रॉन और ऊर्जा आदि ऐसी वैज्ञानिक सत्ताएँ प्राप्त करते है, जो इन्द्रियगम्य वस्तुओं से निकृष्ट अमूर्तकरण हैं। यदि अमूर्त को वास्तविक और मूर्त को प्रतीयमान (आभास) कहा जाए तो उसके लिए उससे बड़े प्रमाण की आवश्यकता होगी जो सर जेम्स देते हैं।

व्हाइटहैड ने भावना, अनुभव और मूल्य आदि शब्दों का, जो आमतौर पर मनोविज्ञान मे इस्तेमाल किये जाते हैं, प्रयोग व्यापक अर्थ मे किया है।[१] उन्होंने भौतिक घटनाओं को परसिपियेंट (अनुभव करने वाला) और हर अवसर को 'कौन्क्रिसेन्स' (संयोग) कहा है। व्हाइटहैड के अनुसार हर अवसर दूसरे सब अवसरों को अपने भीतर धारण (प्रिहैण्ड) करता है। 'प्रिहैन्शन' शब्द की प्रेरणा उन्हे देकार्त के मानसिक 'कोजिटेशन' (आकारिक सकल्पना) और लाक के 'आइडिया' (प्रत्यय) मे मिली है। यहाँ तक कि भौतिक सम्बद्धता भी उनके विचार मे एक प्रकार का अवधारण या बोध बन जाती है। 'अधिकतम व्यक्तिगत

१. भौतिक जगत् की योजना में ऐसी किसी वस्तु का समावेश नहीं किया जा सकता, जो आत्मनिष्ठ अनुभव में एक तत्त्व के रूप में खोजी नहीं जा सकती। (व्हाइटहैड : प्रॉसेस एण्ड रियेलिटी, (१९२९), पृ० २५३)।

वास्तविक सत्ता अनुभव-क्षमता की एक निश्चित क्रिया है।'[1] और क्योंकि यह अनुभव-क्षमता अव्यवहित और मध्यान्तर है, इसलिए 'वास्तविक तथ्य सौंदर्य-बोधात्मक अनुभव का तथ्य है।'[2] अधिकतम मूर्त वास्तविक चीज के रूप में घटना का कुछ मूल्य है। मूल्यों की इलेक्ट्रॉनों में विद्यमानता भी उतनी ही सत्य है जितनी कि मन में विद्यमानता, हालांकि उसका रूप कुछ भिन्न है।[3]

यदि यह माना जाए कि चेतना और चुनाव करने की क्षमता मानवीय अनुभव के अवच्छेदक लक्षण हैं, तो हर घटना में ये लक्षण विद्यमान नहीं हैं और इन शब्दों का व्यापक अर्थ में प्रयोग कुछ भ्रामक है। चेतन अनुभव जहाँ, जब और जिस रूप में घटित होता है वहाँ पर वह एक प्राकृतिक घटना है। प्राकृतिक जगत् में यह (चेतन अनुभव) बहुत बाद की और सीमित घटना है, और इस घटना (चेतन अनुभव) ने ही प्राकृतिक जगत् को पैदा नहीं किया और न वह उसके अधिक व्यापक लक्षणों का कुछ अधिक गम्भीरता से बदल ही सकती है।

हम भौतिक जगत् के सामान्य लक्षणों का संक्षेप में इस प्रकार वर्णन कर सकते हैं : (१) जिस परमाणु को पहले किसी समय एक निष्क्रिय और अपरिवर्तनीय समझा जाता था, वह अब सक्रिय ऊर्जा की एक जटिल और सम्मिश्र प्रणाली समझा जाता है। परमाणु एक आणविक संघटन है और प्रोटान एवं इलेक्ट्रॉन उसके सदस्य (अंग) हैं। अणु और मानवीय समाज अधिक सम्मिश्र और जटिल संघटन हैं। (२) भौतिक प्रकृति एक व्यवस्थित क्रमबद्ध पूर्ण वस्तु है और उसी रूप में वह कार्य करती है। उसके सब सदस्य (अंग) स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार हरएक आंशिक संघटन और उसके परिवेश (एनवायरनमेंट) में एक परस्पर सक्रिय-ऐक्य है। (३) हरेक घटना में कार्यत्व और कारणत्व दोनों हैं, अर्थात् वह किसी अन्य घटना का परिणाम भी है और साथ ही किसी अन्य घटना को जन्म भी देती है। इस प्रकार उसके परिवर्तन यान्त्रिक परिवर्तनों से परे की चीज है। (४) जब हम घटना के सृजनात्मक पक्ष (कारणत्व) पर पहुँचते हैं तो वैज्ञानिक व्याख्या अपने-आपको असमर्थ पाती है। विज्ञान इस बात की व्याख्या नहीं कर सकता कि वस्तु का अस्तित्व क्यों होना चाहिए या उसमें इलेक्ट्रॉन और प्रोटान, दो अलग-अलग खण्ड क्यों होने चाहिएँ।

१. रिलिजन इन दि मेकिंग (१९२६), पृ० १०८।
२. रिलिजन इन दि मेकिंग (१९२६), पृ० ११३।
३. रिलिजन इन दि मेकिंग (१९२६), पृ० १०६।

१०. जीवन :

भौतिक वस्तु के प्रकरण में जब हम जीवन पर विचार करते हैं तो हमें यह प्रतीत होता है कि उस पर अभी पर्याप्त रोशनी नहीं पड़ी है। जीव-सम्बन्धी विज्ञान माइक्रोब (सूक्ष्म जीवाणु) से लेकर स्तनधारी प्राणियों तक समस्त जीवित अवयवियों और उनकी प्रवृत्तियों द्वारा प्रस्तुत स्पष्ट घटनाओं का अध्ययन करते है। यह सम्भव है कि ब्रह्माण्ड के अन्य भागों में भी जीवन-जैसी कोई चीज हो, किन्तु जीव-विज्ञान सिर्फ पृथ्वी पर जल, स्थल और वायुमण्डल में पाए जाने वाले जीवन का ही अध्ययन करता है। यद्यपि उच्च श्रेणी के जीवों में चेतना के लक्षण दीख पड़ते हैं, परन्तु जीव-विज्ञान इसे अपना विषय नहीं मानता।

जीवित वस्तुओं के व्यवहार में कुछ ऐसी विशिष्टता होती है जो जीवितेतर वस्तुओं में नहीं होती। जीवित वस्तुओं में पाई जाने वाली आत्मसात्करण, श्वास-प्रश्वास, पुनर्जनन, वृद्धि और विकास की प्रक्रियाएँ भौतिक रासायनिक प्रतिक्रियाओं से भिन्न होती हैं। जीव अपने समस्त परिवर्तनों में से गुजरते हुए भी अपनी विशिष्ट रचना और प्रवृत्तियों को कायम रखते हैं। जीवों में उनके आकार की स्थिरता बने रहने का कारण उनकी एक आन्तरिक क्रिया है, उसका कारण अपने परिवेश में होने वाले परिवर्तनों के प्रति उनका निष्क्रिय प्रतिरोध नहीं है। उदाहरण के लिए श्वास-प्रश्वास की क्रिया में रक्त में ऑक्सीजन के दबाव को और फेफड़ों में कार्बन डाइऑक्साइड के दबाव को बिलकुल ठीक-ठीक नियन्त्रित रखने वाली प्रक्रियाएँ सम्पूर्ण देह के सन्तुलन को कायम रखने वाली प्रक्रियाओं के रूप में ही समझ में आती हैं। पूर्ण की कल्पना, उद्देश्य का प्रत्यय जीवन के समस्त प्रपंचों और घटनाओं में कार्य करने वाला सक्रिय प्रभाव है। जीवन एक गतिशील सन्तुलन है, जिसमें अपने-आपको कायम रखने की प्रवृत्ति रहती है। जीवित अवयवियों के अवयव भौतिक अवयवियों के अवयवों से कम स्वतन्त्र होते हैं। किसी भौतिक पिण्ड का कोई भाग यदि अलग कर दिया जाए तो उसमें उसके गुणों में कोई तात्विक परिवर्तन नहीं होता, किन्तु जीवित अवयवियों में उनका आकार उनका ढाँचा और उनकी आन्तरिक रचना परस्पर-निर्भर है। जीवित वस्तु एक समग्र अवयवी वस्तु है और वह ऐसे कार्य करती है जो परमाणु कभी नहीं कर सकता। जीवित वस्तु अपने अनुभवों के परिणामों को सकलित करती है और कुछ आदतें बना लेती है। जीवित वस्तुओं में बाह्य परिस्थितियों के फलस्वरूप जो अनुक्रियाएँ होती हैं, वे उनकी देह के भीतर कायम रहती हैं और उसे प्रभावित करती हैं।

परमाणु न तो अपने-आपको सुधार सकता है और न पुनर्जनन कर सकता है। जीवित वस्तु अपने-आपको अपने इर्द गिर्द के परिवेश के अनुकूल ढाल लेती है, उसमे सिर्फ अपने परिवेश के परिवर्तनों की प्रतिक्रिया ही नही होती, बल्कि वह उन पर अनुक्रिया भी करती है। जब किसी जीव को कोई चोट या क्षति पहुँचती है तो तुरन्त ही उसमे उस क्षति को भरने और दूर करने की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। पौधे का जब एक अग काट दिया जाता है तो उसमें नया अग अकुरित होने लगता है। विकास की प्रक्रिया मे जो परिवर्तन होते हैं वे एक खास किस्म के होते है। पुनर्जनन की प्रक्रिया जीवधारी के अपने ही एक भाग मे प्रारम्भ होती है। जीवधारी देह की अत्यन्त जटिल भौतिक-रासायनिक सरचना आनुवशिक रूप मे पुनर्जनन की क्रिया मे आगे हस्तान्तरित होती रहती है। एक लिहाज से जीवधारी का परिवेश उसके लिए बाह्य या पराया नही होता, बल्कि वह उसके जीवन मे ही प्रविष्ट हो जाता है। जीवित देहधारी अपने परिवेश से ग्रहण की गई सामग्री से अपने-आपको पुष्ट करता है। दोनो का एक-दूसरे के साथ इतना अधिक सामञ्जस्य है कि उन्हे एक अन्य वृहत्तर पूर्ण की अभिव्यक्तियाँ माना जा सकता है। दोनो एक-दूसरे मे इस तरह गुँथे हुए है कि उन्हे एक-दूसरे से अलग नही किया जा सकता। जीवित वस्तुओं मे एक विशिष्ट प्रकार का आन्तरिक निर्देशन होता है जिससे वे बढती है, अपनी टूट-फूट की मरम्मत करती हैं, पुनर्जनन करती है और बाह्य परिस्थितियो को अपने ही ढग से ढालती हैं। भौतिक वस्तु के सम्बन्ध मे हमारा जो ज्ञान है, वह हमे जीवन के सामञ्जस्यपूर्ण सधारण को समझने मे सहायता नहीं देता। जीवन तथ्य का एक सर्वथा भिन्न रूप है।

११ प्राणवाद :

जीवनयुक्त और जीवन-रहित वस्तुओ मे जो स्पष्ट भेद है, उससे कुछ शरीर क्रिया-विज्ञानवेत्ताओ ने एक नये तत्त्व 'एण्टीलेकी' या 'अचेतन आत्मा' की कल्पना की और यह माना कि वह भौतिक प्रक्रियाओं को नियन्त्रित करती है। उनका कहना है कि जीवित वस्तुओ मे आत्माएँ या 'एण्टीलेकी' छिपी हुई हैं। हान्स ड्रीश ने यह विचार अपने एक परीक्षण के आधार पर बनाया है जिसमे उसने एक समुद्री जीव (सी अर्चिन) के अण्डों को काट दिया, फिर भी उन अण्डो से एक छोटे आकार के 'पूर्ण' जीव उत्पन्न हो गए।[1]

१. साइन्स एण्ड फिलॉसफी ऑफ दि ऑर्गेनिज्म।

जो लोग जीवों को महज यन्त्र या भौतिक-रासायनिक प्रक्रियाओं के सम्मिश्र मानते हैं, उनके विरोध के रूप में प्राणवादी सिद्धान्त उपयोगी है। जीवित प्राणियों का विशिष्ट ढंग का व्यवहार और परमाणु की आन्तरिक क्रिया को एक नहीं माना जा सकता। प्राणवाद इस तथ्य पर बल देता है कि जीवन के प्रपचों में एक समन्वित क्रिया रहती है जिसमें जीवित वस्तु के अलग-अलग हिस्सों का सम्पूर्ण अवयवी को बनाए रखने और उसके कार्य-कलापों के साथ सामञ्जस्य रहता है। अलग-अलग अंगों के विशिष्ट ढग के अस्तित्व का मूल कारण समग्र अवयवी में निहित रहता है। जीवन के अनुभव एक आग्रही (स्थायी) और अविभाज्य-एकता की अभिव्यक्ति हैं। किन्तु यह प्राण-तत्त्व भौतिक अनुभव को प्रभावित करने वाली कोई अभौतिक वस्तु नहीं हो सकता। प्रोफेसर लोएब ने यह प्रदर्शित किया है कि एक असमेचित (अनफर्टिलाइज्ड) अंडाणु में यदि सुई चुभाई जाए या इसी प्रकार का कोई और विक्षोभ पैदा किया जाए, तो उससे विभाजन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और उसके सामान्य विकास को बढ़ावा मिलता है। इन विक्षोभों के बिना न तो अंडाणु का विभाजन होता और न विकास। हमें इस बारे में ज्ञान नहीं है कि इस चुभन और अंडाणु के विकासोन्मुख परिवर्तनों में क्या सम्बन्ध है। प्रोफेसर लोएब ने सरल जीवों की क्रिया का कारण अभिवर्तन (ट्रोपिज्म) और प्रकाश, ताप और दबाव आदि की प्रतिक्रिया बताया है।[1] किन्तु यह स्पष्ट है कि भौतिक-रासायनिक उद्दीपन जीव में अनेक प्रकार की सप्राण क्रिया पैदा करते हैं। इसके उत्तर में प्राणवादी कहते हैं कि प्राण भौतिक-रासायनिक कारणों के साथ मिलकर क्रिया करता है। प्राण सिर्फ एक नियामक तत्त्व है, उसे अपने कार्य के लिए भौतिक-रासायनिक प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। किन्तु यद्यपि जीवन के प्रपच और घटनाएँ भौतिक परिस्थितियों पर निर्भर है, तथापि यह हम नहीं जानते कि भौतिक परिस्थितियाँ जीवन के प्रपचों को निर्धारित किस प्रकार करती हैं। विशुद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो प्राणवाद सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि वह जीवनयुक्त सत्ताओं में घटित होनेवाली सब घटनाओं की व्याख्या का प्रयत्न करता है और हम उसकी सचाइयों की परीक्षा नहीं कर सकते। अनुभवी प्रेक्षकों के रूप में हमें केवल तथ्य के कथन पर, प्रकृति के उस रूप के विवरण पर जिस रूप में कि वह जीवन के प्रपचों में प्रकट होता है, सन्तोष कर लेना चाहिए। जीवों में एक नये ढग की सरचना, उनकी प्रवृत्तियों

१. दि मैकेनिस्टिक कन्सेप्शन आफ लाइफ (१९१२)।

मे एक विशिष्ट प्रकार का समन्वय, एक आयोजन होता है; समग्र जीवित अवयवी के कार्य और उद्देश्य मे उसके सब अंगों के भीतर मे निर्धारण होता है जिसकी भौतिक विज्ञान की दृष्टि मे कभी व्याख्या नही की जा सकती। विज्ञान की दृष्टि मे तो एक ही बात सगत प्रतीत होती है कि जीव-विज्ञान-सम्बन्धी तथ्यों के लिए जिस अन्योन्य-सम्बन्ध की आवश्यकता होती है, वह भौतिक प्रपचों के लिए आवश्यक अन्योन्य-सम्बन्ध से भिन्न है।

जीव-विज्ञान जीवन की कोई व्याख्या नही करता, बल्कि वह उसे अव्याख्येय मानता है। उसकी दृष्टि मे जीवन प्रकृति का ही एक भाग है जो भौतिक वस्तु से भिन्न है, हालांकि जीवित प्राणियो पर भौतिक-विज्ञान और जीव-विज्ञान की व्याख्याओं को लागू करने की गुन्जायश है।

१२. विकास :

भौतिक जगत् मे सातत्य और परिवर्तन, सरक्षता और प्रगति के जो गुण विद्यमान है, उनकी तुलना मे जीवन के जगत् मे भी हम आनुवशिकता और विभिन्नता देखते है। जीवित अंगी अपनी सघटन योजना आनुवशिक रूप मे प्राप्त करते है और उसमे कुछ परिवर्तन भी कर लेते है। इस विभिन्नता से नयी सरचनाएँ, नये अग, नये कार्य और नयी शक्तियाँ पैदा होती है। आज जो जीवित प्राणी है, उनके पूर्वज सरल किस्म के प्राणी थे, और स्पष्टतः उन्ही मे क्रमिक विकास होकर आज के प्राणी बने है। जीव-जगत् मे नयी प्राणि-जातियों की उत्पत्ति की व्याख्या-हेतु ही विकासवाद के सिद्धान्त की कल्पना की गयी है।

यदि भारत और ग्रीस के पुराने दर्शनशास्त्रो को छोड दिया जाय तो आधुनिक विकासवाद का सिद्धान्त मुख्यतः लिनौस (१७०७-१७७८), बफन (१७०७-१७८८), एरैसमस डार्विन (१७३१-१८०२), लैमार्क (१७४४-१८२६), चार्ल्स डार्विन और उनके अनुयायियो के अध्ययन और खोजो का परिणाम है। यद्यपि लिनौस का यह विश्वास था कि वनस्पति और प्राणी, दोनो की प्रत्येक जाति का अलग-अलग मूल-रूप मे सृजन होता है, तथापि अपनी बाद की पुस्तकों मे उसने यह स्वीकार किया कि वनस्पतियो और प्राणियो के ऐसे रूप भी हो सकते हैं जो उनकी मूल जातियों मे संकट से पैदा हुए हों। किन्तु उसकी यह मान्यता थी कि इस परिवर्तन का परिणाम ह्रास होता है क्योकि मूल वस्तु पूर्ण होती है। पूर्ण मे परिवर्तन मे कमी ही आती है। बफन का मत प्रारम्भ मे यह था कि हर जीवित

अंगों की जानि बिलकुल निश्चित है, किन्तु वह यह मानने को तैयार नहीं था कि सृष्टि में वनस्पतियों और प्राणियों की सब मूल जातियों की योजना बिलकुल निर्दोष और पूर्ण है और उसमे अधिक पूर्णता नही लायी जा सकती। शरीर-रचना-विज्ञान के अध्ययन के आधार पर उसने यह मत प्रकट किया कि मूल वनस्पति या प्राणि-जातियों की रचना योजनापूर्ण और निर्दोष नही है क्योंकि प्राणियों मे कुछ ऐसे अंग भी होते हैं जिनकी उनके लिए या तो कोई आवश्यकता नही है या नाम-मात्र की है और ये अंग अन्य प्राणियों मे लिये गए प्रतीत होते हैं। उसमें यह कल्पना की गई कि एक प्राणि-जाति के सदस्यों मे परस्पर एक परिवार का-सा सादृश्य है और यह सम्भव है कि ये सदस्य किसी एक ही पूर्वज के विकास या ह्रास के परिणाम-स्वरूप पैदा हुए हों। उसने वनस्पतियों और प्राणियों मे अपने परिवेश और परिस्थितियों मे पैदा होने वाले परिवर्तनों के बारे मे अनेक महत्त्वपूर्ण बातें सुझायी। एरैसमस डार्विन और लैमार्क, दोनों का मत था कि एक प्राणी के जीवन में परिस्थितियों के परिवर्तन मे उसकी आदतों मे परिवर्तन हो जाता है। आदतों के इस परिवर्तन से कुछ अंगो का उपयोग बढ जाता है और कुछ का घट जाता है, जिससे अन्ततः आकार बदल जाता है। उनका कहना था कि इस प्रकार के 'उपार्जित लक्षण' ही आनुवंशिक रूप में प्राप्त किये जाते है।

माल्थस के 'ऐस्से आन दि प्रिंसिपल ऑफ पापुलेशन' (१७९८) के अध्ययन मे डार्विन को यह बात सूझी कि 'प्रकृति द्वारा योग्य का चुनाव' भी प्राणि-जातियों में होने वाले क्रमिक उत्कर्ष या विकास को प्रभावित करने वाला कारण है। अपनी पुस्तक 'ओरिजिन ऑफ स्पीशीज' (१८५९) मे उसने अपने विकासवाद के सिद्धान्त को विस्तार, तर्क और प्रमाणों के साथ देते हुए बताया कि इस ग्रह (पृथ्वी) मे प्राचीनतम प्राणियों से लेकर नवीनतम प्राणी—मानव—तक विकास की एक क्रमिक और सतत प्रक्रिया चली आ रही है। प्रकृति द्वारा चुनाव, परिवर्तन और आनुवंशिकता द्वारा वर्तमान प्राणि-जाति मे नयी जातियां विकसित होती हैं। अकेले 'प्रकृति द्वारा चुनाव' से ही नये परिवर्तनों की पूरी व्याख्या नही की जा सकती। यह तो सिर्फ़ छानकर अयोग्य को अलग कर देने की एक प्रक्रिया है, और शेष दो कारणों, परिवर्तन और आनुवंशिकता, को मानकर चलती है। एरैसमस डार्विन के अनुसार कोई भी दो प्राणी या वनस्पतियां बिलकुल एक-जैसी नहीं हैं। यहाँ तक कि एक ही माता-पिता की सन्तानें भी न केवल आपस मे, बल्कि अपने माता-पिता से भी कुछ-न-कुछ भिन्न होती हैं। उनमे जो नवीनताएँ आती है उन्हें

विभिन्नता (वेरियेशन) कहा जाता है। यदि इस नयी विभिन्नता को बाद में आने वाली सन्तान अपनी माता या पिता से वशागत रूप मे प्राप्त नही करती तो उसका विकास की शृङ्खला मे कोई प्रत्यक्ष मूल्य नही होता। आनुवशिकता के सिद्धान्त मे हमे यह पता चलता है कि माता-पिता में जो विशेषताएँ होती है उनको थोड़ी-बहुत मात्रा मे सन्तानो मे भी हस्तान्तरित होने की प्रवृत्ति रहती है। जब विभिन्नताओ के फलस्वरूप कुछ नये लक्षण पैदा होते हैं तब प्रकृति इस बात का चुनाव और निश्चय करती है कि वे कायम रहे या नष्ट हो जाएँ। यदि ये नये लक्षण अपने परिवेश के साथ सामन्जस्य स्थापित नही कर पाते तो जीवन की प्रतियोगिता मे वे नष्ट हो जाते है। किन्तु यदि इन लक्षणो से प्राणियों मे जीवन-सघर्ष की क्षमता बढ जाए तो वे लक्षण कायम रहते हैं। सघर्ष मे जो सफल रहते हैं, उनकी भावी सन्तानो मे ये अनुकूल परिवर्तित लक्षण अपने माता-पिता की अपेक्षा अधिक प्रकट होते है और इस प्रकार क्रमश: अनेक पीढियों तक इन परिवर्तित लक्षणों के थोड़ा-थोड़ा कर सचित होने से प्राणियो की नयी किस्म तैयार हो जाती है और उसकी जडे पक्की हो जाती हैं।

डार्विन और स्पेन्सर के बाद यह अनुभव किया गया कि विकास की मंजिलें क्रमश: नही आती, बल्कि एकाएक बदल जाती है। बेटसन ने यह सिद्ध किया कि अनेक बार विकास के क्रम मे होने वाले परिवर्तन सतत नहीं होते। ह्यूगो डि फ्रीस के अनुसार परिवर्तन एकाएक भी हो सकते हैं और आहिस्ता-आहिस्ता भी। एकाएक होने वाले परिवर्तनो को उद्भेदन (म्यूटेशन) कहा जाता है और आहिस्ता-आहिस्ता होने वाले परिवर्तनो को विलोलन (फ्लक्चुएशन) कहा जाता है। डि फ्रीस का कहना था कि समस्त विशिष्ट प्रगति या विकास का कारण बडे और स्पष्ट परिवर्तन या उद्भेदन होते हैं। उद्भेदन स्वतन्त्र रूप से वशानुगत हो सकते है और मैंडल के वशागत (इनहैरिटेन्स) के सिद्धान्त को सिद्ध करते हैं।

वाइजमान ने लैमार्क के उपार्जित लक्षणों के सचारण (ट्रान्समिशन ऑफ एक्वायर्ड करेक्टर्स) के सिद्धान्त का विरोध किया, जिसमे डार्विन और स्पेन्सर दोनों का विश्वास था। उसने जनन-द्रव्य (जर्मप्लाज्म) और शरीर-द्रव्य (सोमैटोप्लाज्म) मे भेद किया और यह मत प्रकट किया कि जीव के शरीर मे हुए परिवर्तन अगली सन्तति मे सचारित तभी किये जा सकते है जबकि जनन-द्रव्य पर भी प्रभाव पडा हो। वशानुगत होने वाली विभिन्नताएं जनन-कोशिकाओं में [illegible] होती है और वशानुगत न होने वाली विभिन्नताएँ प्रकट नही होती।

विभिन्नताओं की, चाहे वे छोटी हों या बड़ी, क्रमिक हों या एकाएक होने वाली, हम किस प्रकार व्याख्या कर सकते हैं? उनका कारण वातावरण और परिस्थिति नहीं हो सकता, क्योंकि विभिन्नता वाली किस्में परिस्थितियों के अनुसार अपने-आपको जितना ढाल लेती हैं, विभिन्नता-रहित किस्में भी उससे कम नहीं ढालतीं। वाइजमान का भौतिक आवश्यकता का सिद्धान्त भी उनकी व्याख्या नहीं कर सकता। डार्विन का यह विचार, कि ये विभिन्नताएँ एकाएक सयोगवश हो जाती हैं, एक तरह से इन विभिन्नताओं के मूल कारण की व्याख्या करने में असमर्थता को स्वीकार करना है। आँख-जैसी जटिल इन्द्रियाँ आकस्मिक विभिन्नताओं की शृङ्खला और आकस्मिक अतिजीविता (सरवाइवल) का परिणाम नहीं हो सकतीं। परिवर्तन और विभिन्नताएँ अकेली नहीं आतीं, बल्कि सम्मिश्रित रूप में आती हैं, जिसमें अनेक मामूली और महत्त्वपूर्ण परिवर्तन और विभिन्नताएँ मिली होती हैं। हर विभिन्नता अलग और स्वतन्त्र नहीं होती। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि प्राणी 'समग्र' रूप में बदलता है।

बेर्गसां का कहना है कि मोलस्को (घोंघे की जाति का एक लघु जीव) में क्रमिक विकास में से गुज़रते हुए एक आँख बन जाती है जो स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न कशेरुकदण्डी (रीढ़ की हड्डी वाले) जीवों की आँख से बहुत-कुछ मिलती-जुलती है। विभिन्न साधनों से पहले जाने वाले विभिन्न-जातीय प्राणियों में ये एक ही जैसे परिणाम कैसे प्रकट होते हैं? यदि ये छोटी-छोटी विभिन्नताएँ सर्वथा आकस्मिक हैं तो वे विकास की दो अलग-अलग शृङ्खलाओं में कैसे होती हैं? इन समान विभिन्नताओं से प्रतीत होता है कि इन दोनों विकास-शृङ्खलाओं वाले जीवों में इस उपयोगी उद्देश्य के लिए सामान्य प्रेरणाएँ होती होंगी। विकास में केवल यान्त्रिक प्रेरणाएँ ही नहीं हैं, अवश्य ही इनमें कुछ अधिक और भिन्न प्रेरणाएँ भी होती होंगी। बेर्गसां का मत है कि हर प्राणि-जाति में कुछ-न-कुछ 'वरण' (चौएस) का तत्त्व विद्यमान है और उस तत्त्व के कारण विभिन्न मार्गों से *यात्रा करती हुई वे एक ही लक्ष्य पर पहुँच जाती हैं।*[1] *नयी स्थिति पैदा होने पर* प्राणि-जगत् के समस्त सदस्यों में विद्यमान सामान्य 'प्रेरणा' उन्हें एक नये तरीके से उसका सामना करने के लिए प्रवृत्त करती है। यदि व्यवहार का यह अपेक्षाकृत नया तरीका स्थायी हो जाता है तो प्राकृतिक वरण (नेचुरल सिलेक्शन) समस्त अनुकूल विभिन्नताओं को स्थायी और प्रतिकूल विभिन्नताओं को विलुप्त कर

१. क्रिएटिव एवोल्यूशन, अंग्रेज़ी अनुवाद (१९११), पृ० ६६।

देता है। बेर्गसाँ के अनुसार आन्तरिक प्रेरणा, या जीवन-बल, या ऊर्ध्वमुख प्रवृत्ति ही समस्त प्राणि-जाति को एक निश्चित दिशा की ओर प्रेरित करती है। उसका विचार लैमार्क के दृष्टिकोण से मिलता-जुलता है। लैमार्क के अनुसार नयी परिस्थितियाँ और नया वातावरण नयी आवश्यकताएँ पैदा करते हैं और ये नये कार्यों के लिए प्रेरणा देते हैं। अपनी परिस्थितियों में सुधार का प्रयत्न करते हुए प्राणी नये परिवर्तन उपार्जित करते हैं और उन्हें अपनी अगली पीढ़ियों में सचारित कर देते हैं। यदि हम बेर्गसाँ और लैमार्क की इस मान्यता को स्वीकार न करें कि प्राणियों के भीतर गहराई में एक आन्तरिक आकांक्षा और चेष्टा रहती है जो उन्हें जीवन के उच्चतर आकारों की ओर ले जाती है, तो हम उनमें नये अंगों की उत्पत्ति, विभिन्नताओं के उद्भव और उनके समन्वय की, खास तौर से तब जबकि हमें उनकी कोई उपयोगिता नजर नहीं आती, कोई व्याख्या नहीं कर सकते। जीवों की उच्चतर आकार की प्राप्ति की यह चेष्टा सृजनात्मक प्रयत्न है। और उसी के कारण विकास होता है। होर्म (प्रेरक-शक्ति) का सिद्धान्त इस बात पर बल देता है कि हर प्राणी में एक विशेष स्वभाव होता है, जिसके द्वारा वह कुछ सीमित उद्देश्यों के लिए प्रयत्न करता है। विभिन्न प्राणि-जातियों की होर्म-सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ जीवित रहने की आद्य-प्रेरणा के ही विभिन्न रूप हैं। प्राणियों में विकास की शृङ्खला में जो विभिन्नताएँ पैदा होती हैं, वे नयी परिस्थितियों का मुकाबला करने के उनके प्रयत्न होते हैं।

लैमार्क के उपार्जित लक्षणों के सचरण के सिद्धान्त पर इस आधार पर आपत्ति की जाती है कि शरीर में ऐसा कोई यन्त्र नहीं है जिससे जीव में होने वाले परिवर्तन, जैसे उसके कद या आकार का बड़ा हो जाना, उसके जनन-कोष में प्रतिफलित हो जाएँ और इस बात का भी कोई परीक्षणात्मक प्रमाण नहीं है कि प्राणी जब किसी अंग का उपयोग करता है या उसका उपयोग छोड़ देता है तो उसकी यह आदत उसकी आगे की पीढ़ियों में भी सचारित होती है। किन्तु वास्तव में बात यह है कि यदि हम यह नहीं जानते कि शरीर में होने वाले परिवर्तनों की जनन-कोशों पर किस ढंग से प्रतिक्रिया होती है तो सिर्फ अपने इस अज्ञान के कारण हमें यह कहने का अधिकार नहीं हो जाता कि यह प्रतिक्रिया होती ही नहीं। जिन परिस्थितियों में हम परीक्षा कर सकते हैं, वे परिस्थितियाँ ऐसी नहीं है कि वे इस सम्बन्ध में किसी निश्चित परिणाम पर पहुँचा सकें। इन परीक्षणों में हमें बाह्य हस्तक्षेप से ही किसी प्रकार जीव में ये परिवर्तन पैदा करने पड़ते हैं, इसलिए

यह हो सकता है कि कृत्रिम रूप से पैदा किये गए ये परिवर्तन प्राकृतिक रूप में होने वाले परिवर्तनों के पूर्ण सदृश न हों। इसके अतिरिक्त लैमार्क के सिद्धान्त के पक्ष में प्रमाण अधिकाधिक उपलब्ध हो रहे हैं।[1]

इसके अलावा प्रकृति में कार्य समग्र रूप से होता है, जिसमें प्राणी और उसकी परिस्थितियाँ दोनों शामिल होते हैं, और यही कारण है कि परिस्थितियों की प्रतिक्रिया प्राणियों पर और प्राणियों की प्रतिक्रिया परिस्थितियों पर होती है और विभिन्न प्राणि-जातियों के विभिन्न अंग परस्पर मिलकर एक सहकारी प्रणाली के रूप में काम करते हैं। जीव-द्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) जीव-जगत् की दो मुख्य श्रेणियों—वनस्पति और प्राणी—में विकसित होता है। इन दोनों श्रेणियों की अन्योन्य-निर्भरता इस बात का एक और प्रमाण है कि यह ब्रह्माण्ड एक प्रकार का समाज और अखण्ड संरचना है।

समस्त जीव-विज्ञानवेत्ता विकासवाद के दृष्टिकोण को इसलिए स्वीकार करते हैं कि अब तक संसार में जो परिवर्तन हुए हैं उनकी यह सन्तोषजनक व्याख्या कर देता है। किन्तु वैज्ञानिकों में इस बात पर बहुत मतभेद है कि विकास के कारण क्या हैं। यद्यपि हमारे ज्ञान में काफी वृद्धि हुई है, तथापि डार्विन ने अपनी पुस्तक 'ओरिजिन ऑफ स्पीशीज' में जो कुछ कहा था, वह अब भी सत्य है। 'वंशागति के नियामक नियम अधिकतर अज्ञात ही हैं।' विभिन्नता के नियमों का हमारा अज्ञान बहुत गहरा है। जीव-विज्ञान के ज्ञात तथ्यों का सार संक्षेप में यह है कि विभिन्नता की शक्ति और अपने-आपको पूर्णता की ओर ले जाने की प्रवृत्ति स्वयं जीवन के भीतर गहराई में निहित है।

डार्विन का सिद्धान्त केवल जीव-विज्ञान के क्षेत्र तक ही सीमित था। उसने सिर्फ जीवन के विभिन्न आकारों और रूपों में विद्यमान परिवर्तनों को ही देखा, किन्तु साथ ही उसने यह भी स्वीकार किया कि जीवन की उत्पत्ति जीवन से ही होती है। उसने सिर्फ विभिन्न प्राणि-जातियों और जीवन के उच्च और

१. प्रोफेसर मैकडगल का कहना है : 'सन् १६२० से मैं निरन्तर लैमार्क के सिद्धान्त के आधार पर एक परीक्षण कर रहा हूं और उससे मैंने इस बात का स्पष्ट प्रमाण पाया है कि जो प्राणी किसी खास काम में विशेष रूप से दक्ष होते हैं, उनकी आगे आने वाली पीढ़ियां उस कार्य को और भी अधिक आसानी से करने लगती हैं। उसका इसके सिवाय और कोई व्याख्या नहीं की जा सकती कि प्राणी अपने व्यक्तिगत प्रयत्न से जो नये सुधार उपार्जित करते हैं, वे अगली पीढ़ियों में भी संचारित होते हैं।' (साइकालोजीज आफ १६३० (१६३०), पृष्ठ २७)।

निम्न आकारो के मध्य विभाजक-रेखाओं को ही मिटाया। हर्बर्ट स्पेन्सर ने डार्विन के कथनों और विचारो के आधार पर एक दार्शनिक विचारधारा का निर्माण किया और ऐसा प्रतीत होता है कि उस विचारधारा से वह जीवन-हीन से जीवन-युक्त की और मानस-हीन से मानव-युक्त की उत्पत्ति सिद्ध कर सका। उसका कहना है कि जीवन-हीन और जीवन-युक्त में और मानस-हीन और मानस-युक्त मे अन्तर सिर्फ उनकी रचना की सम्मिश्रता और जटिलता में कमोवेशी के कारण ही है।

विकासवाद वास्तव मे जीवन की कोई व्याख्या नही है। वह यह नही बताता कि जीवन की प्रक्रिया क्यो होनी चाहिए थी, या स्वयं जीवन ही क्यो होना चाहिए था। योग्यतम की अतिजीविता (सरवाइवल आफ दि फिटेस्ट) की कल्पना इस सम्बन्ध मे हमे अधिक आगे नही ले जाती। जीवन में भौतिक वस्तु का अपेक्षा, जिससे उसका उद्भव कल्पित किया जाता है, अतिजीविता की क्षमता बहुत कम है। एक चट्टान करोडो वर्ष तक कायम रह सकती है जब कि पुराने-से-पुराने वृक्ष की आयु भी सिर्फ कुछ हजार वर्ष ही होती है। यदि अतिजीविता ही प्रकृति का परम ध्येय होता तो जीवन का उद्भव कभी होता ही नहीं। जीव-विज्ञान के अध्ययन के फलस्वरूप सिर्फ ये तथ्य ही देखने मे आते हैं कि जीवन के क्षेत्र मे घटित होने वाले प्रप च या घटननाएँ बिलकुल भिन्न होती हैं और उनमे बराबर नवीनताओ का उद्भव होता रहता है, पौधे और प्राणी जड और नियत नहीं हैं और अन्य आकारो से उनका विकास हुआ है, बल्कि समस्त जैविक जगत् मे धीरे-धीरे विकास हुआ है और आन्तरिक प्रेरणाओं एवं बाह्य परिस्थितियों के दबाव ने उसके विकास को एक निश्चित आकार प्रदान किया है।

भौतिक जगत् मे हम जो विशिष्ट लक्षण पाते है वे जीवन-युक्त वस्तुओं में और भी अधिक मात्रा मे पाये जाते है। ये जीवन-युक्त वस्तुएँ पारमाणविक सस्थानो से भिन्न श्रेणी के तथ्य की द्योतक हैं और परमाणु की अपेक्षा यथार्थ के अधिक निकट है। वे (जीव) अलग-अलग पूर्ण सत्ता हैं और उसी रूप मे कार्य करते है। अपने आन्तरिक और बाह्य परिवेश मे वे स्थिरता बनाये रखते हैं। जीव और उसकी बाह्य परिस्थितियो के बीच मे कोई विभाजक-रेखा नही होती। वे दोनो ही एक वृहत्तर पूर्ण की अभिव्यक्ति हैं और उसमे दोनो का समावेश है। एक तरफ वे अपने ढाँचे और आकार को स्थिर रखते है और दूसरी तरफ उनमे सृजनात्मक परिवर्तन भी होते है। भौतिक विज्ञान और जीव-विज्ञान दोनों में से

कोई भी उसके इन विशिष्ट लक्षणों की ठीक-ठीक व्याख्या नहीं कर सकता।

१३ मन :

मानसिक घटनाएँ प्राण की क्रियाओं से भिन्न हैं। यद्यपि एक समग्र अगी के रूप में कार्य करता है और उसी रूप में पुनर्जनन भी करता है, तथापि उसकी अनुक्रियाएँ केवल आगिक पूर्णता और आग्रहित्व को ही प्रकट करती हैं, मन की सत्ता को नहीं। उसकी क्रिया का हर चरण केवल क्षण-विशेष में विद्यमान परिस्थितियों की अव्यवहित अनुक्रिया है। जीव की क्रिया अचेतन जैविक क्रिया है। यद्यपि हमें ऐसा प्रतीत होता है कि जीवों में अपना मन भी होता है, किन्तु वह केवल प्रतीत ही होता है वास्तव में नहीं होता। भ्रूण की वृद्धि यद्यपि एक योजना की पूर्ति करती है, तथापि उसके विकास के सब चरण उसके परिवेश की परिस्थितियों की तात्कालिक अनुक्रिया-मात्र हैं। भौतिक विज्ञान और जीव-विज्ञान के क्षेत्रों में आगिक वस्तु (जीव या भौतिक वस्तु) और उनकी परिस्थितियों के बीच हम जो सम्बन्ध देख चुके हैं वह मानसिक जगत् में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों द्वारा और भी घनिष्ठ हो जाता है। चक्षु और श्रवणेन्द्रिय द्वारा प्राणी दूर की परिस्थितियों और वातावरण के साथ भी सम्पर्क स्थापित कर सकता है। प्राणी अनुभव से सीखते हैं। वे पिछले अनुभवों के आधार पर अपने व्यवहार में परिवर्तन करते हैं। जब तक वे अपना लक्ष्य प्राप्त नहीं कर लेते तब तक उनकी क्रिया समाप्त नहीं होती। ज्यों ही लक्ष्य प्राप्त हो जाता है, त्यों ही क्रिया समाप्त हो जाती है। प्राणी उद्दीपनों की खोज करता है। जब वे उसे प्राप्त हो जाते हैं तो वह एक खास ढग से उनके प्रति अनुक्रिया करता है। चेतना की उपस्थिति उसके व्यवहार में एक वास्तविक विशिष्टता और अन्तर लाती है। आनन्द और पीडा की, लाभ और क्षति की अनुभूतियाँ चेतन-रूप से जीव को आत्मरक्षा की ओर निर्देशित करती हैं। जीव की प्रवृत्तियों में एकता और समन्वय होता है। प्राणी पृथक्-पृथक् अगों के रूप में नहीं, बल्कि सम्पूर्ण अगी के रूप में कार्य करता है। उसकी चेतना कितनी भी आद्य हो, उसका अर्थ फिर भी दिशा की चेतना होता है। समंजनात्मक और वरणात्मक (एडेप्टिव और सिलेक्टिव) चेतन-व्यवहार भौतिक प्रतिक्रियाओं और जीवन के समंजन से भिन्न है। वह एक अद्वितीय, सर्वथा भिन्न, नवीन और सर्जनात्मक वस्तु है। उसका दृष्टिगोचर होना दूरगामी प्रभाव वाली एक नयी चीज है। इस चेतन-व्यवहार को केवल मस्तिष्क में होने

वाली तन्त्रिका-सम्बन्धी (न्यूरोलोजिकल) घटना नहीं बताया जा सकता, बल्कि वह जीवन की बाद में विकसित और विशिष्ट अखण्डता की परिणामभूत क्रिया है।

यद्यपि तन्त्रिका-सम्बन्धी (स्नायविक या मस्तिष्क-सम्बन्धी) और भौतिक घटनाओं में परस्पर-सम्बन्ध है, किन्तु दोनों को एक नहीं माना जा सकता। प्रोफेसर वाटसन ने चेतन-व्यवहार को प्रतिवर्त क्रिया (रिफ्लेक्स एक्शन) का परिणाम सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि कुछ सहज क्रियाएँ या प्रतिवर्त, जो किसी एक प्राणि-जाति के सब सदस्यों में समान रूप से होते हैं, सब प्रकार के व्यवहारों के आधार होते हैं। शरीर-क्रिया-सम्बन्धी लक्षण आनुवंशिक रूप में प्राप्त होते हैं और अभ्यनुकूलन से उनकी आदत बन जाने का परिणाम जटिल व्यवहार होता है। इस विचार की पुष्टि में 'अभ्यनुकूलित प्रतिवर्तों' पर प्रोफेसर पावलोव द्वारा किये गए परीक्षण प्रमाण के रूप में पेश किये जाते हैं। यदि हम एक कुत्ते के सामने भोजन ले जाएँ तो उसके मुँह में पानी आ जाता है। भोजन का उद्दीपन उसकी लार-ग्रन्थि की अनुक्रिया पैदा करता है, जो एक अनभ्यनुकूलित या निरपेक्ष प्रतिवर्त (सहज-क्रिया) है। किन्तु यदि भोजन देने के साथ या उससे एकदम पहले घण्टी बजाई जाए और यह क्रिया बार-बार दोहराई जाए तो कुत्ते में एक अभ्यनुकूलित प्रतिवर्त पैदा हो जाएगा और घण्टी बजते ही कुत्ते के मुँह में पानी आ जाएगा चाहे भोजन उसके सामने रखा जाए या नहीं। अब कुत्ते में लार-ग्रन्थि की अनुक्रिया एक नये उद्दीपन के कारण होगी जो अभ्यनुकूलन से पहले उद्दीपन का सहचारी हो गया है। मन की क्रियाएँ भी, शरीर की गतियों की तरह, आद्य अनुक्रियाओं के सम्मिश्रित अभ्यनुकूलन का परिणाम है। चेतना शरीर-क्रिया की अतात्त्विक सहचरी है।

किन्तु अभ्यनुकूलित प्रतिवर्त बुद्धियुक्त अनुकूलन नहीं है। बुद्धियुक्त अनुकूलन कोई यत्किंचित् प्रक्रिया (रैंण्डम प्रॉसेस) नहीं होता, न वह एक क्रिया की बार-बार आवृत्ति से उत्पन्न अनुकूलन होता है, बल्कि वह सोच-समझकर अधिक प्रत्यक्ष रूप में किया जाता है। यह कोई यान्त्रिक ढंग की आदत नहीं है, बल्कि सृजनात्मक शक्ति है। व्यवहार हमें नजर नहीं आता, हमें नजर सिर्फ गतियाँ आती हैं। गतियों को ही व्यवहार मान लेना जीव द्वारा समग्र रूप से की गई क्रिया और उसके आन्तरिक निदेशन को एक मान लेने जैसा है। एक चेतन जीव एक अर्थ को अभिव्यक्त करता है और उसके साथ उसका तादात्म्य होता है। जिन प्राणियों का प्रमस्तिष्क (सेरिब्रम) नष्ट हो जाता है, वे सम्मिश्र प्रतिवर्त

!

क्रिया के योग्य तो होते हैं, किन्तु अभ्यनुकूलित प्रतिवर्त क्रिया के योग्य नहीं होते।[1] अभ्यनुकूलित प्रतिवर्त सोद्देश्य होते हैं। यद्यपि मन मनोहीन जीवों में पाए जाने वाले संगठित आंगिक-विनियमन और समंजन का ही उच्च-स्तरीय सतत रूप है, तो भी उसकी उपस्थिति एक प्रधान तथ्य है। वह यथार्थ सत्ता का एक नया स्तर है, जिसकी अपनी विशेषताएँ और नियम हैं। यद्यपि चेतन जीवों में भौतिक-रासायनिक या जीव-विज्ञान-सम्बन्धी पहलू भी होते हैं, तथापि उनका व्यवहार अचेतन जीवों से भिन्न होता है।

गेस्टाल्ट मनोविज्ञान (आकार मनोविज्ञान) ने इस तथ्य पर बल देकर, कि पूर्ण अवयवी जीव अपने अवयवों के योगफल से कुछ अधिक होता है, यह ध्वनित किया है कि अवयवी में 'चेतना' एक नयी चीज होती है जो कि अवयवों के अलग कर देने पर उनमें नहीं होती और इस प्रकार उत्पन्न चेतना से क्रिया में फर्क पड़ जाता है। इस मनोविज्ञान ने इस विश्वास को बढ़ावा दिया कि चेतन और अचेतन क्रिया का अन्तर पिण्ड (शरीर) में एक ऐसी वस्तु की उपस्थिति के कारण है, जो शरीर से भिन्न यानी 'आत्मा' है। शरीर में इसका एक निश्चित निवास-स्थान—पिनियल ग्रन्थि या मस्तिष्क माना जाता है। जिन प्रपचों और घटनाओं को हम देखते हैं वे शरीर से अलग एक आत्मा के अस्तित्व के साथ संगत नहीं हैं। प्राणी का मन 'श्वास' (ऐनिमा) नहीं है जो उसके शरीर को नियन्त्रण में रखता है, बल्कि वह उसके मानसिक कार्यों का संघटन है। चेतन-प्रपंचों या घटनाओं का निर्धारण शरीर-क्रिया-सम्बन्धी प्रभावों से होता है। जब हृदय का स्पन्दन रुक जाता है तो चेतना भी खत्म हो जाती है। नाइट्रोजन के तीन या चार गहरे साँसों से ही चेतना नष्ट हो जाती है, और फेफड़ों में फिर से ऑक्सीजन का प्रवेश किया जाए तो चेतना लौट आती है। हम मन की क्रिया को शरीर के सम्मिश्र भागों में भौतिक परिवर्तनों के साथ सम्बद्ध रूप में देखते हैं, हालाँकि हमें इस सम्बन्ध के स्वरूप का कोई सीधा प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। किन्तु आत्मा शरीर और उसकी बाह्य परिस्थितियों और वातावरण से अलग और स्वतन्त्र नहीं है। उसमें या तो शरीर का भी समावेश होना चाहिए, या वह शरीर का कार्य हो जानी चाहिए। आत्मवाद का सत्य यह है कि चेतन-व्यवहार भौतिक पिण्डों के व्यवहार से भिन्न प्रकार का है। शरीर-क्रिया-विज्ञान-सम्बन्धी हमारा ज्ञान चाहे जितना विस्तृत हो जाए, हम मस्तिष्क की रचना में मन की क्रिया

[1] मैकडूगल : एन आउट लाइन आफ साइकालोजी (१९२३), पृष्ठ ५५-५६।

का अनुमान कभी नही लगा सकेंगे। जिस प्रकार एक जीवन-युक्त प्राणी जीवन-रहित वस्तु की अपेक्षा अधिक सघटित पूर्ण होता है और उसके अगो मे भी उसके भागो की अपेक्षा परस्पर-सम्बद्धता होती है, उसी प्रकार मन भी शरीर की अपेक्षा अधिक आत्म-विनियमित और नियन्त्रित होता है। जीव के जीव-विज्ञान-सम्बन्धी अध्ययन से उसको जाना और समझा नहीं जा सकता। अरस्तू का कहना है कि आत्मा का शरीर के साथ वही सम्बन्ध है जो दृष्टि का आँख के साथ या कुठारत्व का कुठार के साथ। आँख की भौतिक विज्ञान या शरीर-क्रिया-विज्ञान-सम्बन्धी रचना का कितना भी विस्तृत अध्ययन किया जाए, तो भी दृष्टि (साइट) की व्याख्या उसी तरह नही की जा सकती, जिस तरह कुल्हाड़े के आकार और उसकी रचना का चाहे जितना अध्ययन करने पर भी उसकी काटने की क्रिया की व्याख्या नही की जा सकती। आत्मा मनुष्य के आंगिक देह की वास्तविकता है, जिस प्रकार दृष्टि आँख की वास्तविकता है। हम मनोविज्ञान को भौतिक विज्ञान या शरीर-क्रिया-विज्ञान मे परिणत नहीं कर सकते। यह ठीक है कि चेतन की उत्पत्ति प्राण से होती है, फिर भी वह उतना ही यथार्थ है, जितना कि प्राण, जोकि एक जीव-विज्ञान-सम्बन्धी वस्तु है। चेतना प्राण और प्राणेतर वस्तुओं के बीच पारस्परिक क्रिया की द्योतक है।

बाह्य परिवेश चेतन जीवो से सर्वथा असम्बद्ध और पृथक् नही है। चेतन जीवो के साथ सम्बन्ध मे ही उसका अस्तित्व है। जिस ससार मे चेतन जीव रहते है वह भौतिक ससार नही है। व्यक्ति और उनके इर्द-गिर्द की परिस्थितियाँ और वातावरण मिलकर एक पूर्ण का निर्माण करते है। व्यक्ति दूसरों के बीच मे रहते हैं और उनके साथ सघर्ष करते है।

जिस प्रकार भौतिक विज्ञान मे कारणता और सजनात्मकता (कॉजेशन और क्रियेटिविटी) के, और जीव-विज्ञान मे वशागतता और विभिन्नता (हैरेडिटी और वेरियेशन) के मूल तत्त्व है, उसी प्रकार यहाँ भी हमें होर्मे (टी० पी० नन) और म्नेमे (सेमन) के सर्वव्यापी तत्त्व मिलते है, जिन्हे मानवीय स्तर पर प्रेरक शक्ति और स्मृति कहा जा सकता है। सक्रियता के नये लक्षणों और विवेक के तरीकों का विकास होर्मे-सम्बन्धी प्रवृत्तियो के कारण होता है। इससे इस विचार का भी समर्थन होता है कि विभिन्न प्राणि-जातियों की वशागत प्रकृति मे विभिन्नता जीवों के उन प्रयत्नो का परिणाम है जो उन्हे परिवर्तित परि-स्थितियो मे नई शक्तियो और नये कार्यों के विकास के लिए करने पड़ते हैं।

७. मानवीय व्यक्तित्व और उसकी नियति

१. स्व-चेतना :

स्व-चेतन प्राणियों में हमें कुछ ऐसे प्रपंच दिखायी देते हैं जो भौतिक या प्राणमय, या केवल चेतन प्रपंचों से सर्वथा भिन्न हैं। विमर्शी मन निम्न या प्राणी के अविमर्शी मन से भिन्न होता है। जब आदमी यह कहता है कि मानव और पशु एक नहीं हैं तो उसका अभिप्राय यह होता है कि मानव चाहे कितना भी आदिम या असभ्य हो, वह फिर भी मानव ही है। मानव लाखों वर्षों से पृथ्वी पर है। आदि मानव के जो नमूने खुदाई में—पिथेकेन्थ्रोपस का जावा में और इओएन्थ्रोपस का पिल्टडाउन में—प्राप्त हुए हैं, वे देखने में चाहे कितने ही असभ्य और अजीब प्रतीत हों किन्तु हैं स्पष्टतः मानव हो। वे आदिम-युगीन मानव औजारों का न केवल प्रयोग करते थे बल्कि अपने लिए उनका निर्माण भी करते थे। उनमें तर्क-बुद्धि थी जो सहजवृत्ति (इन्स्टिंक्ट) से, चाहे वह कितनी ही विकसित हो, विभिन्न थी। मानवीय मन की विमर्श-क्षमता और स्वतन्त्र आविष्कार की उसकी शक्ति केवल निम्नतर सहजवृत्ति के ही रूप नहीं हैं। स्व-चेतन बुद्धि का सार-तत्त्व ही आगे-पीछे देखना और परिस्थितियों के अनुसार अपने कार्य को बदल देना है। नैसर्गिक सहजवृत्ति इनमें से कुछ भी नहीं करती। जब हम प्राणी से मानव पर आते हैं तो हमें धीरे-धीरे क्रमिक विकास नहीं नजर आता बल्कि दोनों के बीच में एकदम अन्तर नजर आता है, मानो हम एकदम एक नये अनुभव में छलाँग लगाते हैं। मनुष्य प्रकृति पर आधिपत्य स्थापित करता है। आज यदि संसार पर उसका आधिपत्य है तो उसका कारण यह नहीं कि उसका भौतिक देह का ढाँचा अधिक शक्तिशाली है, या उसकी गतियाँ अधिक तेज हैं, या उसकी सहजवृत्तियाँ अन्य प्राणियों से अधिक तीक्ष्ण हैं, बल्कि इसका कारण है उसकी बुद्धि जिससे वह नयी और परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार अपने-आपको ढाल सकता है। पास्काल ने कहा था कि एक साधारण मानव-प्राणी भी, जो यह 'जानता है' कि वह दया

हुआ है उसे दबाने वाले 'ज्ञान-हीन' भौतिक द्रव्य से, चाहे वह कितना भी विशाल हो, असरय गुना बड़ा है। ज्ञान मानवीय चेतना का विशिष्ट विभेदक लक्षण है और वह एक ऐसा अन्तिम तथ्य है जो किसी अन्य कारण का कार्य नहीं है। हम ज्ञान का विश्लेषण करके बता सकते हैं कि उसकी अन्तर्वस्तु क्या है, किन्तु यह नहीं बता सकते कि ज्ञान का कारण क्या है, वह क्यों पैदा हुआ।

किन्तु मानव सर्वथा भिन्न प्राणी नहीं है। उसकी रचना के भीतर उसके मूल स्रोत के चिह्न मौजूद है—ये चिह्न हैं उसके शरीर की दुर्बलता, उसके जीवन का मर्यादित और उसके मन का सीमा में आबद्ध होना। वह भौतिक, प्राणवान् और जान्तविक जीवन से विकसित होकर मानव बना है। वह विश्व-प्रकृति का एक भाग है, प्रकृति के सातत्य में से काटकर गढ़ा गया अगी प्राणी है। जिस प्रकार प्राणी मानव का ह्रास-रूप नहीं है, उसी प्रकार मानव भी केवल प्राणी का विकसित रूप नहीं है। दोनों के बीच में एक खाई है। कितना भी वैज्ञानिक अनुसन्धान और अध्ययन किया जाए वह हमें इस विस्मयकारी परिवर्तन की व्याख्या करने में सहायता नहीं दे सकता।

कभी-कभी मनुष्य को भी महज एक प्राणी (जन्तु) सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। व्यवहारवादी मनोविज्ञान की यह मान्यता है कि मानवीय व्यवहार का भी उसी प्रकार अवलोकन किया जा सकता है जिस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों का। उसका कहना है कि मनोविज्ञान को भी एक विज्ञान के रूप में अपने-आपको केवल परीक्षणात्मक अवलोकन और अध्ययन तक ही सीमित रखना चाहिए। उसका व्यक्तिगत अनुभवों, मूल्यों और प्रयोजनों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

किंतु व्यवहारवाद की अपूर्णता मानवीय स्तर पर और भी स्पष्ट नजर आती है। मानवीय व्यवहार को केवल प्रतिवर्त क्रिया बताना सत्य का अपलाप है। अन्तर्दर्शन से उपलब्ध सामग्री मनोविज्ञान के साथ असंगत नहीं है। शरीर को अन्तर्दर्शन से हम जिस रूप में देखते हैं वह बाह्य अवलोकन से ज्ञात होने वाले उसके रूप से भिन्न है। व्यवहार के बाह्य रूपों के अवलोकन से हमें व्यक्ति के बारे में कुछ ज्ञात नहीं होता जो उन अनुभवों को अन्दर से सजीव रूप से प्राप्त करता है। व्यक्ति के अनुभव अव्यवहित अनुभव है और दूसरों तक व्यवहित रूप में ही पहुँचाए जा सकते है। यद्यपि सभी जीव अपने स्वास्थ्य और अपनी सत्ता की पूर्णता की रक्षा का प्रयत्न करते है और अपने तात्त्विक अगों में एकता स्थापित

करने और उनका पूर्ण विकास करने के लिए प्रयत्न करते है, तथापि मानव ही एकमात्र ऐसा जीव है जो प्रयत्न से और इच्छापूर्वक ऐसा करता है। प्रकृति की अन्य वस्तुओं मे जो कुछ नैसर्गिक रूप मे विद्यमान है, मनुष्य को उसे प्रयत्न और चेष्टा मे प्राप्त करना पडता है। अभ्यनुकूलित प्रतिवर्तों का सिद्धान्त बुद्धियुक्त व्यवहार की व्याख्या नही कर सकता।[1] यदि व्यवहारवादियो का कथन सही हो तो मनुष्य महज अपनी परिस्थितियों का दास हो जाएगा, उसकी अपनी कोई प्रतिष्ठा या स्वतन्त्रता नही होगी। उसका अर्थ यह होगा कि मनुष्य परिवर्तित परिस्थितियों के प्रति स्वचालित यन्त्र की भाँति अभ्यनुकूलित और अनभ्यनुकूलित प्रतिवर्तों मे स्वतः अनुक्रिया करता है। उसका सघर्ष और कष्ट-सहन से, आत्मानुशासन और आत्म-विकास मे सोच-समझकर अपने-आपको ऊँचा उठाने का प्रयत्न निरर्थक है। यदि हम एक थैले मे टाइप के अक्षरो का एक ढेर डालकर उसे हिलाएं तो वाटसन की पुस्तक 'बिहेवियरिज्म' (व्यवहारवाद) तैयार हो जाएगी, बशर्ते कि उसे हिलाने के लिए समय की कोई अवधि और कैद न हो। इस प्रकार के दृष्टिकोण में 'मनोवृत्ति' का कोई अर्थ नही रह जाता और उसका अपना सत्य भी व्यर्थ हो जाता है। यदि मनुष्य का सोचना इस तरह का है जैसे पत्थर का पहाडी से अपने-आप नीचे लुढकते जाना, तो उसका अर्थ यह होगा कि उसका विचार पूर्णतः निर्धारित नियमो के अनुसार है और उसे सही या गलत नही बताया जा सकता।

मनोवैज्ञानिक विश्लेषण मे बात इससे उलटी होती है। वहाँ मानसिक प्रपंच कारण-रूप उपादान हैं और भौतिक व्यवहार की वैयक्तिक इतिहास के रूप मे व्याख्या की जा सकती है। यह विश्लेषण वस्तुनिष्ठ दृष्टि से नही किया जा सकता, इसीलिए हमें व्यक्ति से उसके स्वप्नों और वैचारिक साहचर्य के बारे मे प्रश्न करने पडते हैं। हमारे मन का अधिकतर भाग हमसे छिपा रहता है। वह दबा हुआ होता है, फिर भी जागरण-काल की हमारी चेतना को प्रभावित करता

१. प्रोफेसर पावलोव ने लिखा है : यह समझना कि प्रान्तस्था (कॉर्टेक्स) की क्रिया को स्पष्ट करने के लिए उठाये जानेवाले इन प्रारम्भिक कदमों से मनुष्य का उच्च मानसिक क्रियाओं की उलझन भरी समस्याएँ हल की जा सकती हैं, बहुत बडी कल्पना करना है, खास तौर से तब जबकि हम यह जानते है कि इस समय तक हमने जो अनुसन्धान और अध्ययन किया है उसके परिणामों को हम व्यापक रूप से मनुष्य पर लागू नहीं कर सकते। 'बिहेवियरिज्म : ए सिम्पोज़ियम,' किग द्वारा सम्पादित (१९३०), पृष्ठ ४१)।

है। मनोवैज्ञानिक जिसे 'अचेतन' कहता है और व्यवहारवादी जिसे 'जीवविज्ञान सम्बन्धी' कहता है, वे दोनों एक ही नही है। इससे प्रतीत होता है कि अचेतन और चेतन दोनो एक समग्र पूर्ण के दो भाग है।

व्यवहारवादी और मनोविज्ञान विश्लेषक शरीर और मन को अलग-अलग मानते है, किन्तु गेस्टाल्ट-सिद्धान्त के समर्थक 'मन-शरीर' को एक समष्टि समझते है। वे मानसिक-भौतिक क्षेत्र मे बनत और आकृति के महत्त्व पर बल देते है। ठीक-ठीक कहा जाए तो हम यह कह सकते है कि ससार मे केवल एक ही समष्टि है और वह है सम्पूर्ण सत्ता। किन्तु क्रियात्मक सुविधा के लिए हम उस समष्टि मे से भी बहुत सी अलग-अलग पूर्णताओ की समष्टियाँ बना लेते हैं। उदाहरण के लिए चलने की प्रक्रिया को ही लीजिए। हम उसकी व्याख्या तभी कर सकते है जबकि हम शरीर और ससार दोनो के स्वरूप पर, जोकि दोनो परस्पर क्रिया करते हैं, विचार करे। हम पानी पर नही चल सकते, क्योंकि हमारे शरीर और पानी के स्वरूप अलग-अलग हैं। फिर भी क्रियात्मक प्रयोजनो के लिए हम अपने 'स्व' को एक ऐसी प्रणाली के रूप मे मान लेते हैं, जो एक बृहत्तर समष्टि के भीतर कार्य करती है। मनोवैज्ञानिक समष्टि को भी हम दो भागो मे बाँट लेते है—एक 'स्व' और दूसरी बाह्य परिस्थितियाँ। मनोविज्ञान 'स्व' (आत्मा) की प्रकृति का अध्ययन करता है, जो अपने-आपमे सापेक्ष दृष्टि से एक समष्टि है। 'घोस्ट' (ऐपिक्टेटस) यानी 'आत्मा' और 'ऑटोमेटन' (देकार्त) यानी 'स्वचलता तत्त्व' मे देह को जोड देने से मानव नही बन जाता। वह एक समष्टि के रूप मे कार्य करता है, अलग-अलग भागो के रूप मे नही।

परमाणुवादी मनोविज्ञान, जो चेतना की धारा को अलग-अलग इकाइयों मे विश्लिष्ट करता है और इस बात पर बल देता है कि चेतना की यह धारा इन अलग-अलग इकाइयो की पारस्परिक क्रिया का परिणाम है, अब पुराना पड गया है। मनोवैज्ञानिक प्रमाणो से इस सिद्धान्त की पुष्टि नही होती। मस्तिष्क के कार्यों को अलग-अलग क्षेत्रो मे होने वाली पृथक्-पृथक् इकाइयों मे नही बाँटा जा सकता। शरीर की किसी भी क्रिया मे होने वाली मस्तिष्क की प्रक्रिया का विशिष्ट लक्षण समूची प्रक्रिया का लक्षण है, समूचे क्षेत्र की विशिष्टता है, वह अलग-अलग क्षेत्रो मे घटित होने वाली अलग-अलग प्रक्रियाओ का जोड नही है। गेस्टाल्ट मनोविज्ञान का मत है कि चेतना की धारा विभिन्न घटकों (इकाइयो) का जोड़ नही है, बल्कि वह एक ऐसी बनत और आकृति है जिसमे हर अलग अलग भाग समष्टि

के स्वरूप से निर्धारित होता है और स्वयं समष्टि के रूप को निर्धारित करता है। विचार और उनके सम्बन्ध अधीन भागों की एकीकृत समष्टियाँ हैं, अलग-अलग घटकों का यान्त्रिक जोड नहीं है। 'स्व' भी एक समष्टि है जो उसके भाग के जोड से कुछ अधिक है।[1] वह एक सक्रिय सजीव समष्टि है, विकासवादी प्रक्रिया में उसके लिए नवीनतम शब्द 'शरीर-मन' है।

२ 'स्व' एक आंगिक समष्टि :

मानवीय 'स्व' विश्व की प्रक्रिया का एक उद्वुद्ध पहलू है, वह स्वयं इस प्रक्रिया से भिन्न कोई द्रव्य नहीं है। वनत का आग्रहित्व या स्थायित्व ही किसी वस्तु या 'स्व' का ऐक्य है। यद्यपि शरीर का हरेक घटक बदलता रहता है तो भी शरीर एक आंगिक और व्यवस्थित इकाई के रूप में स्थायी तौर पर बना रहता है। यही बात मानवीय 'स्व' (आत्मा) के बारे में है, जो विभिन्न भागों से मिलकर बनी हुई एकीकृत संरचना है। यद्यपि उसके कुछ तत्त्व अस्थायी और क्षणिक हैं तो भी उसकी आंगिक संरचना स्थायी रूप से बनी रहती है।

दार्शनिक इतिहास में व्यक्तिगत 'स्व' की कल्पना अक्सर उसी ढंग की की गई है जिस ढंग की कल्पना एक भौतिक वस्तु की की जाती है। यह कहा जाता है कि उसमें एक ऐसी आन्तरिक यथार्थ वस्तु है जो उसके गुणों और अवस्थाओं के समस्त परिवर्तनों में भी अपरिवर्तित बनी रहती है। यह 'स्व' के साथ तादात्म्य रखने वाली एक अखण्ड वस्तु है जो उसमें सम्बद्ध अनुभवों से कुछ भिन्न होती है। पश्चिमी दर्शन ने एक अवर्णनीय आत्म द्रव्य की, जो स्वभावतः अमर है, कल्पना प्लेटो से ली है। आत्मा क्योंकि किन्हीं वस्तुओं के मिलने से नहीं बनी है, इसलिए उसे विखण्डित नहीं किया जा सकता। दार्शनिक तार्किकों का कहना है कि आत्मा क्योंकि एक और अखण्ड है, इसलिए वह अविनश्वर और अमर है। देकार्त ने आत्मा को एक विचार करने वाला द्रव्य मानने की पुरानी धारणा को पुनर्जीवित किया। जो लोग इस विचार को मानते हैं उनका कहना है कि इस विचार से हम व्यक्तिगत पृथक् सत्ता और अमरत्व की भी व्याख्या कर

१. व्यवहारवाद भी मन के परमाणुवादी दृष्टिकोण के विरुद्ध है। तुलना कीजिए : वाटसन : 'सबसे पहले मैं यह कह दूँ कि व्यवहारवादी की दृष्टि में मनुष्य एक समष्टि रूप प्राणी है। जब वह कोई प्रतिक्रिया करता है तो समग्र रूप से अपने शरीर के हर भाग से करता है।' (दि नर्सरी एण्ड इन्स्टिक्ट, दि साइकालोजी ऑफ १९२५ (१९२६, पृ० २)।

सकते हैं।

यथार्थ सत्ता सभी जगह सम्मिश्र रूप में है। परमाणु में भी यही बात है यह आवश्यक नहीं है कि 'स्व' यथार्थ रूप में अखण्ड और सरल न हो। लॉक ने यह स्वीकार किया है कि अपने अभिव्यक्त रूपों से भिन्न एक सरल अखण्ड वस्तु 'एक छिपी हुई वस्तु हो सकती है, जिसे हम जानते न हों।' ह्यूम की वे युक्तियां आज भी सही हैं जिनमें मनुष्य की आत्मा को एक सत्ता या एक ऐसा द्रव्य मानने का विरोध किया गया है, जो किसी अव्याख्येय ढंग से अपने समस्त घटकों के योगफल से कुछ अधिक है। यह द्रव्य-परीक्षणों से देखा नहीं जा सकता; उसके अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं है। काण्ट का कहना है कि स्व-आत्मा का प्रत्यय आत्म-विरोधी है, क्योंकि जिसे हम जानते हैं वह कर्ता 'स्व' की ज्ञान की क्रिया का कर्म है, स्वयं कर्ता 'स्व' नहीं है। यदि आत्मा अविनाशी और परमाणु-स्वरूप है तो उसके अस्तित्व का ही कोई मूल्य नहीं, उसके सतत अस्तित्व का तो मूल्य होगा ही क्या? 'स्व' में कोई ऐसा तत्त्व नहीं है जो अन्त तक सतत रूप में 'स्व' के साथ तादात्म्य रखता हो। शरीर सतत रूप में बदलता रहता है, उसमें हमेशा एक ओर क्षति और दूसरी ओर उसकी पूर्ति की क्रिया अनवरत रूप से चलती रहती है। विचार और भावनाएं भी निरन्तर बदलती रहती हैं। व्यक्ति में कोई भी ऐसी मूर्त वस्तु नहीं है जो उत्पन्न और नष्ट न होती हो, जिससे बचा न जा सकता हो या जिसमें परिवर्तन न होता हो। 'स्व' की पृथक् सत्ता और विशिष्टता उसके अखण्ड और सरल रूप के कारण नहीं है, बल्कि उसके घटकों की एक विशिष्ट रचना के कारण है।

मन को अक्सर मानसिक अवस्थाओं की एक शृङ्खला के साथ गड़बड़ा दिया जाता है। बुद्ध ने दोनों चरम दृष्टिकोणों का विरोध किया—एक यह कि आत्मा या 'स्व' अपरिवर्तनीय नित्य तत्त्व है और दूसरा यह कि वह क्षणिक है और हर क्षण बदलता रहता है। उसने मध्यम मार्ग अपनाया और कहा कि आत्मा अन्य में से उत्पन्न होती है और भूत ही उसका कारण है।[1] वह परिवेश की परिस्थितियों के प्रति अनुक्रियाओं की एक प्रणाली है। वह एक परस्पर सम्बद्ध समष्टि है जिसके सब भाग मिलकर कार्य करते हैं। असभ्य-से-असभ्य और असंस्कृत-से-असंस्कृत मानव भी विश्व को एक समष्टि के रूप में ही देखना है। आत्मा मानसिक अवस्थाओं का एक समूह नहीं है, बल्कि वह एक समष्टि है।

१. संयुक्त निकाय २-२०। देखिए विसुद्धिमग्ग, अध्याय १७।

यह एक ऐसी अंगी रचना है जो समष्टि रूप में कार्य करती है। जेण्टाइल की यह धारणा गलत है कि इसकी क्रिया और गतिविधि अपनी ही दुनिया के भीतर होती है जिसमें कि मन अपना निज का परिवेश बना लेता है और बाह्य तथ्यों से नियंत्रित नहीं होता है। आत्मा किसी कठोर खोल में बन्द नहीं है। वह अपने परिवेश के साथ निरन्तर क्रियाशील रहती है।

किन्तु आत्मा या 'स्व' का सघटित सामष्टिक रूप अलग-अलग प्राणि-जातियों में अलग-अलग होता है। निम्न श्रेणी के प्राणियों में, जो अपनी अव्यवहित स्थितियों से बँधे रहते हैं मानवीय आत्मा की भाँति सुघटित सामष्टिकता नहीं होती, हालांकि उनमें भी नैसर्गिक एकता होती है। मानवों में प्रतीकों के उपयोग और अनुभव पर विमर्श या अनुचिन्तन की योग्यता के कारण अधिक संश्लिष्टता सम्भव है, वहाँ सास्थानिकता या सामष्टिकता केवल बाह्य नहीं होती। प्राणिगत व्यवहार के सहज-वृत्तिक नियन्त्रण में आत्मा का बौद्धिक निर्धारण होता है। मानवीय आत्मा में अतीत को बचाए रखने, उसे वर्तमान के साथ बाँधने और भविष्य का सामना करने की योग्यता होती है। प्लेटो का कहना है कि मनुष्य के 'स्व' या आत्मा में हम तीन प्रकार के कार्य देखते हैं—लालसाएँ और कामनाएँ, भावनात्मक प्रतिक्रियाएँ और बौद्धिक आदर्श। इनमें से अन्तिम या बौद्धिक आदर्श अनुभव को न्यूनाधिक स्थायी ऐक्य में सघटित करते है। हममें से हर व्यक्ति अपने जीवन को एक मुख्य जीवन-उद्देश्य से नियन्त्रित करता है, और शेष सब उद्देश्य उसके अधीन रहते हैं। यह चुनाव आत्मा के विकास की दिशा और क्षेत्र को सीमित कर देता है। आत्मा में उद्देश्य की एकता है और वही मूर्त, व्यस्त, सक्रिय और गतिशील आत्मा में स्थिर और सतत रहने वाली वस्तु है। हर आत्मा का अपना जीवन का ध्रुवतारा है, अपना एक उद्देश्य और लक्ष्य है। 'मनुष्य पूर्णतः अपनी इच्छाओं से ही बना हुआ है।'[1] उसके समस्त आकार-परिवर्तनों में कुछ स्थायी और विशिष्ट लक्षण बने रहते हैं। जिस प्रकार एक गीत या राग की एकता एक समयावधि में से गुजरने पर प्रतीत होती है, उसी प्रकार आत्मा की एकता अपने लक्ष्यों की पूर्ति की दिशा में अनेक चरणों और दौरों में से गुजरने पर प्रतीत होती है।

. हम जिसे जिस समय व्यक्ति कहते है वह उस क्षण का ही व्यक्ति नहीं होता, बल्कि क्रमशः बढ़ती हुई एक सत्ता का उस क्षण का एक नमूना होता है।

१. कामनय एवाय पुरुषः (बृहदारण्यक उपनिषद् ४, ४-५)।

हम किसी व्यक्ति को वही व्यक्ति तब कहते है जबकि कुछ समय तक उसमे कुछ विशिष्ट निर्धारित किये जाने योग्य लक्षण मौजूद रहते हैं। व्यक्ति का निर्माण जिन चीजों मे हुआ है उनकी सघटित रचना मे एक विशिष्ट लक्षण होता है और वही उस व्यक्ति का अद्वितीय स्वरूप होता है। सामष्टिक अवयवी अवयवों के योगफल से भिन्न और कुछ अधिक होता है, इसलिए वह उसके भागों (अवयवो) और उनके कार्यों के स्वरूप को निर्धारित करता है। और तो और, व्यक्ति की अद्वितीयता और विशिष्टता उसके अंगूठे और उँगलियो की छाप तक मे होती है, और उस विशिष्टता का फल अपराधियो को भोगना पडता है।

इसलिए व्यक्तित्व सच्चे अर्थ मे एक नकाब है। वह एक भूमिका है, जो हम जीवन के नाटक मे अदा करते है वह हमारी प्रकृति की गहराई की एक बाह्य अभिव्यक्ति है। हर व्यक्ति ससार को अपने विशिष्ट दृष्टिकोण से देखता है। मन के विचार मे उपलब्ध दत्त सामग्री अनेक प्रकार से एक सस्थान के रूप मे ग्रथित की जा सकती है, और जब तक उसे एक सूत्र मे ग्रथित कर एक एकाकी समष्टि का रूप दिया जाता है तब तक एक एकाकी आत्मा रहती है। बहु-व्यक्तित्व की जो घटनाएँ देखने मे आती है वे यह सकेत करती है कि एक ही कालावधि या विभिन्न कालावधियो के लिए अपनी आत्मा या 'स्व' के सम्बन्ध मे हमारी सकल्पनाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं, क्योकि हम चेतना खो बैठते है और उसके सातत्य का तार टूट जाता है। यदि व्यक्ति के अनुभव पूरी तरह से सुगठित नही होते तो 'स्वत्व' अर्थात् व्यक्तित्व भी ढीला और असुबद्ध होता है और वह अपेक्षाकृत असम्बद्ध व्यवहारो की एक श्रृङ्खला बन जाता है। इसीलिए हमे बहु-व्यक्तित्व के उदाहरण मिलते है।

३. कर्ता के रूप मे आत्मा :

आत्मा का एक सघटित पूर्ण रूप उसके कर्तृ-रूप से भिन्न है। उसका एक सघटित पूर्ण रूप मनोविज्ञान का विषय है और उसका कर्तृ-रूप दर्शनशास्त्र का विषय है। सभी अनुभवों मे हम एक द्वैत देखते है—उसमे एक अनुभव करने वाला अर्थात् कर्ता और दूसरा अनुभव का विषय अर्थात् कर्म होता है। उसमे एक स्थायी अधिष्ठान होता है जिससे समस्त ज्ञान, प्रत्यभिज्ञान और धारणा सम्भव होते हैं। यह अधिष्ठान ज्ञान की व्याख्या के लिए चाहे कितना ही अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण तत्त्व हो, मनोविज्ञान से हमे उसकी जानकारी नही मिलती।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि अनुभवों की शृङ्खला को यह ज्ञान होता है कि वह एक शृङ्खला है। सारी ज्ञान-शृङ्खला ही उसके हर अंश के ज्ञान में संलिप्त है, जिसे समझना कठिन है। ह्यूम ने ज्ञान के कर्ता (ज्ञाता) को ही कर्म (ज्ञेय) बना दिया है और उसके अनुसार आत्मा चेतन घटनाओं का एक ढेर है, क्योंकि वह मानसिक अवस्थाओं में कहीं भी 'मैं' को नहीं पा सका। किन्तु अलग-अलग अनुभव की छापों (इम्प्रैशन्स) को आत्मा या 'स्व' की क्रिया के बिना, एक समग्र अनुभव में परिणत नहीं किया जा सकता। आत्मा के बिना इस बात की कोई व्याख्या नहीं की जा सकती कि एक के बाद एक द्रुत गति से गुजरने वाले अनुभव परस्पर मिलकर एक ही व्यक्ति के अनुभव कैसे बन जाते हैं। साहचर्य का नियम इसकी व्याख्या करने के लिए पर्याप्त नहीं है। काण्ट का यह कहना ठीक ही है कि साहचर्य का नियम यह सिद्ध करता है कि एक आत्मा-जैसी चीज भी है, जो महज अनुभवों के एक बेतरतीब ढेर से कुछ अधिक है।

विलियम जेम्स का कहना है कि गुजरता हुआ विचार ही अनुभव की क्रिया का कर्ता है। जो कुछ पहले हो चुका है उसे वह अपने भीतर संचित कर लेता है और नये को आत्मसात् करके और भी बढ़ जाता है। विचार ही विचारक है। लेकिन *उसका यह दृष्टिकोण हमारे लिए समझना कठिन है क्योंकि* एक अवस्था दूसरी को अपने भीतर कैसे आत्मसात् कर सकती है।

जेम्स वार्ड का मत है कि विलियम जेम्स ने ज्ञान की प्रक्रिया और अन्तर्वस्तु को तथा ज्ञाता और ज्ञेय को आपस में मिलाकर गोलमाल कर दिया है। उसका कहना है कि अनुभव के हर क्षण के तीन पहलू होते हैं—ध्यान, अनुभव और उसका प्रस्तुतीकरण। इनमें से पहले दो पहलू आत्मनिष्ठ हैं और तीसरा अनुभव का उद्देश्य है। वार्ड की दृष्टि में किसी वस्तु पर ध्यान केन्द्रित करने की एक के बाद एक होने वाली क्रियाएँ आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। वार्ड का यह कहना सही है कि स्मृति, चिन्तन और इच्छा की क्रियाएँ आत्मा का स्वरूप हैं, स्मृति, चिन्तित या इष्ट वस्तु या सामग्री उसका स्वरूप नहीं है। क्रियाएँ ही आत्मा को आकार प्रदान करती हैं, वस्तु नहीं, हालांकि दोनों को एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। सक्रिय आत्मा अधिक स्थायी है, जबकि ज्ञान की वस्तु हमेशा बदलती रहती है। किन्तु वार्ड ने 'कर्ता' का जो रूप स्वीकार किया है वह *बहुत अमूर्त है और उसकी कल्पना अनुभव की व्याख्या करने के लिए ही* की गई है।

वार्ड के इस विचार से हमें काण्ट का यह मत स्मरण हो आता है कि हर अनुभव में एक 'मैं सोचता हूँ' अवश्य रहता है। काण्ट का यह 'मैं सोचता हूँ' आम तौर पर एक विशुद्ध तार्किक आकार माना जाता है जो चेतना की सभी ज्ञेय वस्तुओं में सहचारी रहता है। यद्यपि इस प्रकार की अपरिवर्तनशील और निष्क्रिय सत्ता के, जो कल जो कुछ थी वही आज है और वही हमेशा रहेगी, सतत परिवर्तमान अनुभव के साथ सम्बन्ध की कल्पना करना सहज नहीं है, फिर भी इसकी कल्पना अनुभव में विद्यमान सश्लेषण की व्याख्या करने के लिए की जाती है। इस सश्लेषण को ही समस्त पदार्थों के ज्ञान का आधार माना जाता है और उसी में चेतना एक आनुभविक ऐक्य का रूप धारण करती है। काण्ट की शिक्षा की गहराई में यदि हम जाएँ तो हम देखते हैं कि वह आत्मा को एक अमूर्तकरण मानने के विचार के पक्ष में नहीं है।

चेतना का कर्त्ता और कर्म दोनों ऐसे तत्त्व है जिन्हें अलग-अलग पहचाना जा सकता है, किन्तु जिस समय अनुभव हो रहा होता है उस समय उन्हें पृथक् नहीं किया जा सकता, अनुभव एक अविच्छेद्य एकत्व है। दोनों अलग-अलग हैं किन्तु एक पूर्ण के अगों के रूप में। यदि दोनों एक पूर्ण के अग न होकर एक-दूसरे से बिलकुल स्वतन्त्र होते तो ज्ञान एक रहस्य बन जाता। समूचे अनुभव में वे प्रात्ययिक उपादानों के रूप में घुले-मिले हैं, उसके परस्पर-विरोधी विभाग या हिस्से नहीं हैं। इन दोनों (ज्ञाता और ज्ञेय) से बाहर हम किसी ज्ञान की सृष्टि नहीं कर सकते, क्योंकि ज्ञान एक अन्तिम तथ्य है, उसके पीछे और कुछ नहीं है। वास्तविक कर्त्ता अर्थात् आत्मा ऐसी वस्तु नहीं है जिसे हम ज्ञान में पा सकें, क्योंकि वह स्वयं ज्ञान है। वह समस्त कर्मों (ज्ञेय वस्तु), शरीर और इन्द्रियों से भिन्न है, वह स्वयं आनुभविक आत्मा है। हम ज्ञान के कर्त्ता को किसी द्रव्य का गुण या किसी कर्ता का कार्य नहीं बता सकते, क्योंकि वह ऐसे समस्त सम्बन्धों (द्रव्य-गुण सम्बन्ध और कार्य-कारण सम्बन्ध आदि) का आधार है। यह आनुभविक आत्मा ही नहीं है, बल्कि यथार्थ सत्ता है, जिसके बिना आनुभविक आत्मा भी नहीं हो सकती। यह हो सकता है कि अनेक व्यक्तियों को एक ही अनुभव हो, वे एक ऐसे यथार्थ जगत् को जानें जो सबके लिए समान हो, क्योंकि सबमें एक आदर्श प्रात्ययिक आत्मा कार्य कर रही है। जो व्यक्ति अपने-आपको एक सीमित आत्मा समझता है उसे एक ऐसी वस्तु की अपरोक्ष चेतना होती है जो उसे और उसके उद्देश्य और प्रयोजन को सीमित कर देती है। सीमा की चेतना का अर्थ है कि हमारे

भीतर एक बृहत्तर और असीमित आत्मा भी कार्यरत है। अपने विचार की एक सीमा निर्धारित करने के लिए यह आवश्यक है कि हम किसी-न-किसी रूप में उस सीमा के परे भी जाएँ। यदि हम कर्त्ता को शारीरिक अनुभव में निमग्न-मन मान लें तो हम अपने सम्मुख उपस्थित ज्ञेय वस्तु का पूर्ण बोध प्राप्त नहीं कर सकते। ज्ञान की क्रिया का सच्चा कर्त्ता (ज्ञाता) एक सरल, आत्म निर्भर विश्व-व्यापी आत्मा है, जिसे ज्ञेय वस्तु या ज्ञान की क्रिया के कर्म के रूप में सीधा और अपरोक्ष रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। जब प्लेटो कहता है कि मनुष्य के भीतर विद्यमान मन नित्य विश्व-मन का ही अंश है, जब अरस्तू यह कहता है कि आत्मा के ऊपर एक दिव्य और सृजनात्मक सक्रिय बुद्धि विद्यमान है और जब काण्ट ज्ञान के संश्लेषक तत्त्व को आनुभविक आत्मा से भिन्न बताता है, तो उन सबका अभिप्राय आत्मा को ज्ञान की क्रिया का कर्त्ता बताना होता है। काण्ट जिसे आनुभविक संसार से परे की आत्मा कहता है वह यह गहरा ऐक्य ही है। इसे आत्मा कहकर वह मानसेतर यथार्थ को प्रपंचमय जगत् के एक वर्ग में रखता है। उसकी दृष्टि में यह आत्मा का अमूर्त रूप नहीं है, क्योंकि वह आनुभविक आत्मा के संघटन में अपने-आपको अभिव्यक्त करता है। इस विश्वव्यापी आत्मा में ही कर्त्ता और कर्म, ज्ञाता और ज्ञेय का भेद पैदा होता है। आनुभविक आत्मा हमेशा एक अनात्मा के साथ सह-सम्बद्ध रहती है, किन्तु विश्वव्यापी आत्मा में सभी-कुछ समाविष्ट है और उससे बाहर कुछ भी नहीं है जो उसे सीमित कर सके। हिन्दू दार्शनिक उसे आत्मा कहते हैं और आनुभविक आत्मा को जीवात्मा कहते हैं।

जब हम यह प्रश्न उठाते हैं कि आत्मत्व में ऐक्य स्थापित करने वाला तत्त्व क्या है तो हम वास्तव में सभी सत् वस्तुओं में, जिनमें भौतिक और जैविक सत्ताएँ भी शामिल हैं, ऐक्य के तत्त्व का प्रश्न उठाते हैं। इन सब सत् पदार्थों में वही एकता है जो आत्मा में है, हालाँकि वह कम सम्मिश्र और कम वैयक्तिक है, तो भी वह है वही।

४. आत्मा और परिवेश :

जीवों और उनके परिवेश (इर्द-गिर्द की परिस्थितियाँ और वातावरण) का जो अखण्ड सम्बन्ध हमने मानव से निचली श्रेणी के जीवों में देखा है, वही मानव-जगत् में भी है। मानवीय व्यक्ति परिवर्तन के ऐसे अपरिवर्तमान अधिष्ठान

नहीं हैं जो आहार्य (एडिसडेंटल) गुणों से युक्त हों और बाह्य रूप से एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध हों, बल्कि वे एक परस्पर सम्बद्ध प्रणाली के अग हैं। वे अनुभव या होने की प्रक्रिया के केन्द्र है, क्योकि वे अपने सम्बन्धों का सृजनात्मक संश्लेषण करते हैं। उनमे एक सापेक्ष स्वतन्त्रता और व्यतिरिक्तता है हालांकि जिस संस्थान और प्रणाली मे वे विद्यमान हैं उसका सामान्य स्वरूप उनका अनुकूलन अवश्य करता है। प्रत्येक आनुभविक आत्मा (जीवात्मा) स्वयं पूर्ण व्यक्ति होने के बजाय अपने से भी ऊपर की किसी सत्ता की अभिव्यक्ति है।[1] यथार्थ पूर्ण सत्ता या व्यक्ति में पृथक् पृथक् व्यक्ति और उनके परिवेश दोनों ही शामिल हैं और ये सब उसमे पृथक्करण की एक प्रक्रिया के द्वारा विद्यमान हैं, फिर भी आत्म-चेतन या आत्म-निर्धारक मानव-प्राणी पूर्णतः पृथक् व्यक्ति नही है। प्रारम्भ से ही उसका संसार भी उतना ही यथार्थ होता है जितना कि वह स्वयं, और उसके साथ उसकी अन्योन्य क्रियाएँ उसकी वैयक्तिकता की वृद्धि को प्रभावित करती है। व्यक्ति और संसार सह-अस्तित्व से रहते है और साथ-साथ बढते हैं।

जीव-विज्ञान की दृष्टि से हम विचार करें तो जीवन के केन्द्र-जैसी कोई चीज नहीं होती। जीव के शरीर के समस्त कोशों की सम्पूर्ण अवयवी से पृथक् कल्पना की ही नहीं जा सकती। उनका जीवन समूचे अवयवी के जीवन मे केन्द्रित होता है। वनस्पतियाँ और प्राणी अपने परिवेश के साथ मिलकर एक 'सघटित' अन्योन्याश्रित जीवन व्यतीत करते है, किन्तु मानवीय प्राणी अपने और अपने परिवेश के बीच में एक असौहार्द और अनैक्य पैदा कर देता है। जीव और उसके परिवेश में जो एकता अवमानवीय स्तर के जीवो मे हमे आश्चर्यजनक रूप मे मिलती है, वह मानवीय स्तर पर आकर हमें कुछ उच्छिन्न दिखायी देती है। यद्यपि मानव का सम्बन्ध अन्य जीवो की अपेक्षा एक अधिक बडे संसार से है और वह संसार उसके रोम-रोम मे अनुप्रविष्ट है तथा अन्योन्य क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा वह उसके साथ रहता है, तो भी मानव की आत्म-चेतना मानव और उसके संसार के बीच एक द्वैत पैदा कर देती है, जो तथ्य के भी विपरीत है और उसकी प्रकृति के भी। वह यह भूल जाता है कि उसके हित सिर्फ उसके अपने ही नहीं है और अपने-

१. प्रोफेसर जे० एस० हाल्डेन ने लिखा है: 'व्यक्तित्व देश और काल के परिवेश से सर्वथा पृथक् और अपने-आपमें पूर्ण और सीमित वस्तु नहीं है,) बल्कि वह उस परिवेश के सहित विद्यमान है।' (दि साइंसेज एण्ड फिलॉसफी (१९२९), पृष्ठ ३०३)।

आपको एक पृथक् व्यक्ति के रूप में समझने लगता है। यद्यपि पृथक् व्यक्तित्व की तीव्र अनुभूति कार्य के लिए आवश्यक है, तो भी भूल से यह समझ लिया जाता है कि वास्तव में ही व्यक्ति सर्वथा पृथक् है। व्यक्ति अस्थिर सन्तुलन की स्थिति में होता है। उसका अन्तःकरण एक विभाजित जीवन का चिह्न है। वह अनिश्चित खोज और अव्यवस्था में भरी हुई अशान्ति की एक ज्वाला है। जब तक व्यक्ति इस पृथकत्व की भावना से पीड़ित रहता है तब तक वह अशान्त और अपने असली आश्रय के लिए व्याकुल रहता है। वह अपनी इस पृथकता से परे चले जाने के लिए उद्योग करता है।

मानव तभी प्रगति कर सकता है जबकि उसकी इस अनुभूति में वृद्धि होती जाए कि उसके भीतर एक विश्वव्यापी सत्ता काम रही है। प्रकृति की खोज, ज्ञान की साधना और ईश्वर की प्राप्ति के लिए प्रयत्न के द्वारा व्यक्ति अपने और अपने परिवेश के बीच ऐक्य स्थापित करने का उद्योग करता है। वह अपनी अच्छाई को अपने से एक अधिक बड़ी सत्ता में पाता है। वह अनुभव करता है कि उसकी सखण्डता का इलाज तभी हो सकता है जबकि वह समग्र समष्टि के प्रति आस्थावान् हो। जीवन की पूर्णता का अर्थ है समग्र की सेवा। इसीलिए वह मूल्यों की प्राप्ति के लिए उद्योग करता है, आदर्शों का निर्माण करता है और एक एकता और सहस्वरता के संसार की रचना के लिए संघर्ष करता है। वह संघ बनाता है, परिवारों, कुलों, जातियों, सम्प्रदायों और देशों का निर्माण करता है। ज्ञान, कला, नैतिकता और धर्म ऐसे साधन हैं जिन्हें मनुष्य एक आध्यात्मिक बिरादरी और एक ऐसे राज्य के सदस्य के रूप में अपने ध्येय की पूर्ति के लिए करता है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समष्टि में व्याप्त है और समष्टि भी किसी-न-किसी रूप में प्रत्येक व्यक्ति में व्याप्त है। हे पिता, जैसे तू मुझमें है और मैं तुझमें हूँ, उसी तरह वे सब परस्पर भी एक हो जाएँ और हममें भी आत्मसात् हो जाएँ।' इस प्रकार की एकता, जो ज्ञान, प्रेम और सेवा पर आधृत है, निम्न वर्ग (योनियों) के प्राणियों की एकता की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ और अधिक आत्मीयतापूर्ण है।

मानवीय आत्मा की एक विशिष्टता यह है कि वह मिलकर और संगठित होकर समग्र समाज के लिए कार्य कर सकती है और अपने जीवन में समग्र समाज के उद्देश्य को अपना सकती है। यह अपनाना हर व्यक्ति में बहुत भिन्न-भिन्न होता है। उच्च और नीच आत्माओं में यही अन्तर होता है। आत्मा के दोनों तत्त्व—अद्वितीयता, पृथक् वैयक्तिकता और सर्वव्यापित्व (विश्वत्व)—

एक साथ रहते हैं और अन्त में पृथकतम सत्ता सर्वाधिक विश्वव्यापी सत्ता में विलीन होकर एक हो जाती है। यद्यपि प्रत्येक व्यक्ति (अंश) अपने वास्तविक कार्य को समग्र सामष्टिक सत्ता (पूर्ण) में पूरा करता है और उसी में अपना मूल्य और प्रतिष्ठा पाता है, तथापि कोई भी व्यक्ति (अंश) उतना व्यापक नहीं है जितनी कि समग्र सत्ता (पूर्ण)। वह सीमित होता है क्योंकि वह अपने से बड़ी सत्ता में एक वैयक्तिक अंश के रूप में होता है।

लोगों में, खासकर पश्चिम के लोगों में, मानवीय आत्मा के दरजे और स्थान को बहुत ऊँचा आँकने की प्रवृत्ति देखी जाती है। देकार्त ने अपनी पृथक् स्व-सत्ता की सुनिश्चितता के आधार पर ही हर वस्तु को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। यह बात आम तौर पर अनुभव नहीं की जाती कि आत्मा का विचार, जो हर चीज की व्याख्या करना चाहता है, और आत्मा की इच्छा, जो हर वस्तु को पराभूत कर लेना चाहती है, दोनों अपने-आपमें एक अधिक गहरी, पूर्ण और समग्र सत्ता की अभिव्यक्ति है, जिसमें व्यक्तिगत आत्मा और उसके ज्ञान तथा इच्छा का लक्ष्य, दोनों का समावेश है। यदि आत्मा व्यापक होकर सर्वव्यापी आत्मा में विलीन नहीं होती, तो मूल्य अपने-आप ही आत्मनिष्ठ बन जाते हैं और स्वयं आत्मा भी कुछ नहीं रहती। मनुष्य तमाम गलतियों और भ्रमों तथा पराजयों और निराशाओं के बावजूद पूर्णता पाने के लिए सतत प्रयत्न करता रहा है, उसने हमेशा समस्त घटनाओं को एकसूत्रता और समन्वय में ग्रथित करने की चेष्टा की है, अन्तर को बाहर अभिव्यक्त करने का भी उसने उद्योग किया है और उसमें उसे कुछ सफलता भी मिली है। उसके ये सब प्रयत्न और उद्योग यह सिद्ध करते हैं कि वह यथार्थ की दिशा में प्रयत्न करता रहा है। जिन मूल्यों के लिए हम प्रयत्न करते हैं वे हमारी सत्ता के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। प्रकृति का सारा घटना-क्रम उस अर्थ की अभिव्यक्ति है, जिसे मनुष्य को समझना है। हमारा व्यक्तियों के साथ परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करना, एक-दूसरे को जानना और एक-दूसरे के साथ सामाजिक सम्बन्ध स्थापित करना—यह सब सिर्फ इसलिए सम्भव है कि हम सब एक ही प्रणाली और संस्थान के अंग हैं।

५. कर्म और मुक्ति :

समस्त प्रकृति के दो सर्वव्यापी लक्षण—अतीत के साथ सम्बन्ध और भविष्य का सृजन—मानवीय स्तर पर विद्यमान हैं। हिन्दू विचारधारा में मानव-

योनि में अतीत के साथ सम्बन्ध को कर्म शब्द से व्यक्त किया जाता है। मानवीय व्यक्ति सर्वथा ही प्रकृति का एक आत्मचेतन सक्षम उत्पादक अंश है जो अपने-आपमें अद्वितीय है। उसका इतिहास, जो अतीत काल के एक अनिश्चित विस्तार में फैला हुआ है, उसे संसार की भौतिक और प्राणमय परिस्थितियों के साथ बांधता है। मानव-जीवन एक समवेत समष्टि है जिसमें उत्तरोत्तर आने वाली हरएक कला अतीत कला में से विकसित होकर उद्भूत होती है। मानव की बृद्धि सुव्यवस्थित क्रमबद्ध रीति से होती है और उसकी इस नियत सुव्यवस्थितता को अभिव्यक्त करने के लिए ही हिन्दू-दर्शन में कहा जाता है कि वह कर्म-फल के नियम से शासित होती है।

कर्म का अर्थ है काम। सब कामों का कुछ-न-कुछ फल होता है जिसकी छाप मनुष्य और उसके परिवेश, दोनों पर पड़ती है। कर्म-फल के भौतिक प्रभाव अस्थायी हो सकते हैं, किन्तु उनके नैतिक प्रभाव (संस्कार) व्यक्ति के चरित्र पर मुद्रित हो जाते हैं। प्रत्येक विचार, वचन और कर्म कारणों की जीवित शृङ्खला का अंग बन जाता है और वह शृङ्खला ही हमें उस रूप में गढ़ती है जिस रूप में हम हैं। हमारा जीवन अन्धे संयोग या निरंकुश नियति की दया पर निर्भर नहीं है। कर्म-फल की कल्पना केवल पूर्व की विचारधाराओं की ही विशेषता नहीं है। ईसाई धर्म-ग्रन्थों में भी इसका उल्लेख है। 'धोखे में मत रहो, ईश्वर को ठगा नहीं जा सकता। कारण, मनुष्य जो कुछ बोता है, वही वह काटेगा।'[1] बाइबिल के अनुसार ईसा ने पर्वत पर अपने उपदेश में कहा था, 'यह सोचकर दूसरों का फैसला मत करो कि तुम्हारा फैसला नहीं किया जाएगा; क्योंकि जिस कानून से तुम फैसला करते हो, उसी से तुम्हारा फैसला किया जाएगा, जिस पैमाने से तुम नापते हो उसी से फिर तुम्हें नापा जाएगा।'

कर्म का सिद्धान्त इस बात का उतना प्रतिपादन नहीं करता कि जैसा कर्म करोगे वैसा फल पाओगे, जितना कि वह मानव-जीवन के सातत्य का प्रतिपादन करता है। अच्छे कर्म का फल अच्छा और बुरे कर्म का फल बुरा होता है। प्रेम हमारी प्रेम की शक्ति को बढ़ाता है और घृणा हमारी घृणा की शक्ति को। यह सिद्धान्त अच्छे और उचित काम के महत्त्व पर बल देता है। मनुष्य सतत रूप से अपने-आपको एक सांचे में ढाल रहा है। कर्म के सिद्धान्त को न तो सुखवाद

1. गैलेशियन्स VI, ७ तुलना कीजिए, एक्लेकियस्ट : 'जो आत्मा पाप करता है वह नष्ट हो जाएगा।' (XVIII)।

समझना चाहिए और न पुरस्कार, और न दण्ड का कानूनी सिद्धान्त। कारण, पुण्य-कार्य का पुरस्कार और पाप कर्म का दण्ड जीवन के सुख या दुःख नहीं हैं। सुख और दुःख मनुष्य की पाशविक वृत्ति को सन्तुष्ट कर सकते हैं, उसकी मानवीय वृत्ति को नहीं। कारण, प्रेम आनन्द है किन्तु वह कष्ट और पीड़ा सहन करता है; और दूसरी ओर घृणा में एक प्रकार की विकृत तृप्ति और आनन्द का भाव रहता है। अच्छा या बुरा और भौतिक समृद्धि या शारीरिक दुःख एक नहीं है।

संसार में हर वस्तु कारण भी है और कार्य भी। उसमें अतीत की ऊर्जा संचित रहती है और वह भविष्य पर अपनी ऊर्जा का प्रयोग करती है। कर्म या अतीत के साथ सम्बन्ध का यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य स्वतन्त्र रूप से कोई कर्म नहीं कर सकता, बल्कि उसमें स्वतन्त्र कर्म तो अन्तर्निहित ही है। जो नियम हमें अतीत के साथ जोड़ता है वह इस बात का भी प्रतिपादन करता है कि हम कर्म के नियम को अपने स्वतन्त्र कार्य से पराभूत कर सकते हैं। यह हो सकता है कि अतीत अर्थात् हमारे संचित कर्म हमारे मार्ग में बाधाएँ डालें, किन्तु वे सब मनुष्य की सृजनात्मक शक्ति के आगे उसी मात्रा में झुक जाएँगी जिस मात्रा में उसमें गम्भीरता और दृढ़ता होगी। कर्म के सिद्धान्त में कहा गया है कि जो व्यक्ति जितनी शक्ति का प्रयोग करेगा वह उतना ही फल पाएगा। विश्व व्यक्तिगत जीवात्मा की माँग के प्रति अनुक्रिया करेगा और साथ ही उसे पूरा करेगा। प्रकृति मनुष्य की आग्रह-पूर्ण पुकार का उत्तर देगी। 'जैसी उसकी इच्छा होती है, वैसा ही वह लक्ष्य सामने रखता है, जैसा उसका लक्ष्य होता है वैसा ही वह कर्म करता है और जैसा वह कर्म करता है वैसा ही अपने लिए फल संचित करता है।'[1] 'मैं तुमसे सच कहता हूँ कि जो व्यक्ति इस पर्वत से कहेगा कि "यहाँ से उठो और समुद्र में चले जाओ" और इस बात में तनिक भी सन्देह नहीं करेगा कि जो-कुछ वह कहता है वह अवश्य होगा, उसकी यह बात जरूर पूरी होगी।' जब ईसा ने कहा था कि 'इस मन्दिर को नष्ट कर दो और मैं तीन दिन में इसे फिर खड़ा कर दूँगा' तो उसका अभिप्राय यही था कि हमारे भीतर जो भावना और विश्व-आत्मा विद्यमान है वह भौतिक संसार से ज्यादा शक्तिशाली है। यदि हममें सच्ची लगन और आकांक्षा हो तो दुनिया की कोई वस्तु ऐसी नहीं जिसे हम पा न सकें। आत्मा के प्रति अधीनता विश्व-प्रकृति का नियम है। इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त के दो पहलू हैं, एक विगत और दूसरा अनागत, एक अतीत का सातत्य और दूसरा जीवात्मा

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४ : ४ : ५।

की सृजनात्मक स्वतन्त्रता।

मानव की प्रकृति मे विद्यमान वह प्रेरणा, जिसमे वह न केवल अपने-आप-को एक निश्चित स्तर पर कायम रखना चाहता है, बल्कि एक उच्चतर स्तर पर पहुँचना भी चाहता है, मनुष्य मे चेतन हो जाती है और वह जीवन और प्रगति के नियमों का जान-बूझकर अनुसन्धान करता है। 'अब तक मेरा पिता (ईश्वर) मुझे आगे ले जाता रहा है और मैं आगे बढ़ता रहा हूँ।'[1] प्रकृति की सन्तानों में मानव ही सबसे पहला प्राणी है जो 'मैं' कह सकता है और समझ-बूझकर चेतन भाव से ससार को एक आकार प्रदान करने में 'पिता' के साथ, जो प्रकृति का नियन्त्रण और निर्देशन करने वाली शक्ति है, सहयोग कर सकता है। वह अव-मानव (सब-ह्यूमन) जगत् की मन्द और अज्ञान एव भूलों मे भरी हुई वृद्धि को एक बौद्धिक दिशा प्रदान कर सकता है। हम इस बात से इनकार नही कर सकते कि मानव-प्राणी स्वतन्त्र रूप से कर्म कर सकते हैं, भले ही उन कर्मों का उद्गम कितना ही अन्धकार मे आवृत्त हो। जीवात्मा मे उद्यमी प्रवृत्तियाँ, आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों को अपने परिश्रम से बदलने और उन्हें अपने प्रयोजन के अनुकूल बनाने की प्रेरणा विद्यमान रहती है।

मानवीय स्वतन्त्रता की समस्या जीवात्मा और इच्छा के बीच भेद से कुछ उलझा दी गई है। इच्छा भी आत्मा ही है किन्तु वह उसका सक्रिय रूप है और *इच्छा की स्वतन्त्रता का अर्थ वास्तव मे आत्मा की स्वतन्त्रता है।* यह आत्मा के द्वारा किसी वस्तु का स्वय निर्णय और विवेक है।

एक तर्क यह भी दिया जाता है कि आत्म-निर्णय वास्तव मे स्वतन्त्रता नही है। आत्मा अपने अन्दर मे परिचालित हो या बाहर मे, दोनों मे कोई फर्क नही है। अपने भीतर के स्प्रिंग से घूमने वाला लट्टू और बाहर मे डोरी मे चलाया जाने वाला लट्टू, दोनों मे कोई अन्तर नही है। दोनों ही समान रूप मे यान्त्रिक हैं। इसी प्रकार आत्मा भी एक सप्राण स्वचल यन्त्र हो सकता है। जो शराबी आदतन मद्यपान करता है वह अपनी प्रकृति में विद्यमान एक तत्त्व के आदेश से वैसा करता है। वह आदत उसकी आत्मा का अग बन जाती है। यदि हम आत्मा के आन्तरिक तत्त्वों का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि उनमे से कितने ही तत्त्व परिवेश के प्रभाव से निर्मित या अतीत से सचित हैं। यदि व्यक्ति का विचार या चरित्र एक सुदीर्घ विकास-प्रक्रिया की उपज है तो उसके कर्म, जो इन दोनों की

१. जान V, १७।

उपज है, कभी स्वतन्त्र नहीं माने जा सकते। हो सकता है कि स्वतन्त्रता की अनुभूति आत्मा का, जो वर्तमान के प्रत्येक क्षण में रहती है और निर्णायक अतीत की परवाह नहीं करती, भ्रम हो। किन्तु इन सब आपत्तियों और तर्कों के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि मनुष्य की आत्मा एक सामष्टिक और सम्बद्ध अवयवी सत्ता है। वह अन्य प्राणियों, वनस्पतियों और परमाणु में पाए जाने वाले समवेत अवयवी रूप से भी अधिक संश्लिष्ट है। आत्म-निर्णय का अर्थ आत्मा के किसी एक अंश द्वारा निर्णय नहीं, बल्कि समग्र आत्मा द्वारा निर्णय है। यदि व्यक्ति अपनी समस्त प्रकृति का उपयोग नहीं करता, विभिन्न सम्भावनाओं का अध्ययन कर उनमें से ऐसी सम्भावना को नहीं चुनता, जो उसकी समस्त प्रकृति के अनुकूल हो तो उसका कार्य वास्तव में स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता।

प्रकृति का कोई भी पहलू ऐसा नहीं है जो विशुद्ध रूप से 'नियतत्व' या 'आवश्यकता' से ही परिचालित हो रहा हो। तथापि पूर्ण स्वतन्त्र केवल ईश्वर ही है और जीवात्मा पूर्ण स्वतन्त्र सिर्फ तभी हो सकती है जबकि वह पूर्ण सत्ता के साथ सह-अस्तित्व से रहे। मानव की स्वतन्त्रता पूर्ण नहीं होती, कभी कम और कभी अधिक होती है। हम अधिकतम स्वतन्त्र तब होते हैं, जब हमारी सम्पूर्ण आत्मा सक्रिय होती है, उसका कोई एक अंश नहीं। सामान्यतः हम अपने परम्परागत या आभ्यासिक 'स्व' के अनुसार कार्य करते हैं और कभी-कभी अपने अवमानव 'स्व' के स्तर पर उतर आते हैं।

स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है और न कर्म का अर्थ नियति है। मानव जब अपनी इच्छा से चुनाव करता है तो वह बिना किसी प्रयोजन या कारण के नहीं करता। यदि हमारे कर्मों का अतीत से कोई सम्बन्ध न हो, तो हम पर अपने-आप में सुधार करने की न तो कोई नैतिक जिम्मेदारी होगी और न कोई गुन्जाइश। अनिर्धारित प्रारम्भ और मनमानी घटनाएँ भौतिक संसार और मानवीय संसार, दोनों में असम्भव हैं। कर्म की स्वतन्त्रता सातत्य का खंडन नहीं है। स्वतन्त्र कर्म भी प्रकृति के भीतर ही होते हैं। स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता या स्वैर-वृत्ति नहीं है, क्योंकि हमारा अतीत संचित होकर हमारे साथ रहता है। हमारा चरित्र हमारे अतीत इतिहास का निचोड़ होता है। जो कुछ अब तक हम थे, वह हमारे उस 'मैं' में प्रविष्ट हो जाता है जो इस समय सक्रिय है और अपने लिए कर्म का निश्चय कर रहा है। हर व्यक्ति की कार्य की स्वाभाविक स्वतन्त्रता का विस्तार सीमित है। किसी भी व्यक्ति के लिए सम्भावनाओं का

क्षेत्र विश्वव्यापी नहीं होता। हमारी प्रकृति की अनेक सम्भावनाओं को तो अवसर ही नहीं मिलता, ब्रह्माण्ड का प्रभाव कुछ सम्भावनाओं को विकसित होने देता है और कुछ को मुरझा देता है। इसके अलावा हमारी प्रकृति में जो स्वचलता है वह भी हमारी स्वतन्त्रता को धोखा दे जाती है। जब हम कोई कार्य करने का संकल्प करते हैं तो हमारा मन उसमें भिन्न होता है, जो वह पहले था। जब एक सम्भावना वास्तविकता का रूप धारण कर लेती है तो वह 'अनिवार्यता' बन जाती है। अतीत हमारे वर्तमान में प्रयुक्त होकर खप सकता है, किन्तु वर्तमान के आ जाने से वह कटकर उदासीन नहीं हो जाता। अतीत का प्रतिरोध करने में विपत्ति की आशंका है; यह जरूर सम्भव है कि हम अतीत में एक नये जीवन को जन्म दें। केवल 'सम्भव' तक ही हमारी स्वतन्त्रता का क्षेत्र सीमित है। मानवीय जीवन में हम वर्तमान द्वारा प्रतिरोध और अतीत द्वारा निर्धारित अनिवार्यता, दोनों काफी मात्रा में देखते हैं। किन्तु अनिवार्यता का अर्थ ऐसी नियति नहीं है जिसका न तो हम प्रतिरोध कर सकते हैं और न जिसे धोखा दे सकते हैं। यद्यपि आत्मा पूर्व-निर्धारित घटनाओं (नियति) के बन्धन से सर्वथा मुक्त नहीं है, तो भी वह अतीत को कुछ हद तक पराभूत कर उसे नये पथ की ओर प्रवृत्त और निर्देशित कर सकती है। मनुष्य द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक अपने कर्म के चुनाव का अर्थ है अनिवार्यता (नियति) के ऊपर अपनी स्वतन्त्रता को प्रतिष्ठित करना। इस स्वतन्त्रता से वह 'अनिवार्य' को अपने लिए उपयोगी बना लेता है और इस प्रकार वह अपने-आपको उसके बन्धन से मुक्त कर लेता है। 'मानव कर्ता स्वतन्त्र है।'[1] वह नियति के हाथ का खिलौना नहीं है, न वह अनियन्त्रित घटनाओं की धारा में बहनेवाली लकड़ी है। वह निष्क्रिय होकर अतीत को स्वीकार करने के बजाय भविष्य को सक्रिय रूप से अपनी इच्छा के अनुसार ढाल सकता है। अतीत उसके लिए एक सुअवसर भी बन सकता है और बाधा भी। सब-कुछ इस बात पर निर्भर है कि हम उसे क्या बनाते हैं, न कि इस बात पर कि वह हमें क्या बनाता है। जीवन एक निश्चित दिशा में ही बहने के लिए बंधा हुआ नहीं है। जीवन एक सजीव वस्तु की वृद्धि है और सजीव वस्तु की वृद्धि कुछ-न-कुछ अंश में अनिर्धारित होती है। यद्यपि भविष्य अतीत का ही परिणाम होता है, तथापि हम पहले से यह नहीं बता सकते कि वह क्या होगा। यदि सब-कुछ पूर्व-निर्धारित ढंग से ही होता है और स्वतन्त्रता-जैसी कोई चीज नहीं है तो मानवीय चेतना एक अनावश्यक विलासिता के सिवाय

१. पाणिनि, १-४-५४।

और कुछ नही है।

क्रम और नियम मे बँधा हुआ यह ब्रह्माण्ड हमारी स्वतन्त्रता की माँग को अवश्य सुनेगा। जीवन एक ताश का खेल है। इस खेल में पत्ते बाँटकर हमारे हाथो मे दे दिये गए हैं। हम उन्हे अपनी इच्छा से चुनकर नही लेते। ये पत्ते हमारे पूर्व-सचित कर्म है। किन्तु इन पत्तों को हम सोच-समझकर व्यवस्थित कर सकते है, सरें बोल सकते है और चाले चल सकते है। हम पर बन्धन सिर्फ इतना ही है कि हमे खेल के नियमो के भीतर रहना होगा। जब खेल शुरू होता है तब हम अधिक स्वतन्त्र होते है, किन्तु जब खेल आगे बढ जाता है, और हमारे लिए चालों का चुनाव सीमित हो जाता है तब हमारी स्वतन्त्रता कुछ कम हो जाती है। किन्तु अन्त तक चुनाव की कुछ-न-कुछ स्वतन्त्रता बनी ही रहती है। एक अच्छा खिलाड़ी अधिक चालो की सम्भावनाओं को देख लेगा, खराब खिलाड़ी नही। खिलाड़ी जितना होशियार होगा उतनी ही अधिक सम्भावनाओ और विकल्पों को देख लेगा। अच्छे पत्ते आने पर भी कच्चा खिलाड़ी अपना सारा खेल बिगाड़ सकता है, किन्तु उसके लिए भाग्य या नियति के प्रकोप को दोषी नही ठहराया जा सकता। हो सकता है कि पत्तो को जिस ढग से मिलाया गया है, उससे हम सन्तुष्ट न हों, फिर भी हम खेल पसन्द करते है और खेलना चाहते हैं। हो सकता है कि कभी-कभी परिस्थितियो के आँधी-तूफान बहुत प्रबल हो और बड़े-बड़े भी उनको झेल न सकें। महान् आत्माएँ इस चेतना से बहुत गहरी शान्ति अनुभव करती हैं कि विश्व का यह शाही ठाट, जिसमे कभी परम सौन्दर्य और भव्यता होती है और कभी नितान्त अन्धकार और भयकरता, जिसमे मनुष्य अपने कर्तव्य और नियति को पाता है, किन्ही ज्ञात उद्देश्यो के अधीन नही किया जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका एक अपना उद्देश्य है जिससे हम अनभिज्ञ है। दौर्भाग्य नियति नही है, ईश्वर का विधान है।

कर्म का सिद्धान्त नियति के सिद्धान्त का समर्थन नही करता। कुछ लोगों का विश्वास है कि कुछ आत्माओं के विनाश का पहले से नियत होना ही ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता सिद्ध करता है। ईश्वर को अपने जीवों के साथ उसी तरह यथेच्छ व्यवहार करने का अधिकार है, जैसे कि कुम्हार को अपनी मिट्टी के साथ। सन्त पॉल ने 'विनाश के लिए गढे गए क्रोध के पात्रो' का उल्लेख किया है। नित्य जीवन ईश्वर की कृपापूर्ण देन है जो उसके कृपापात्रों को ही मिलता है। किन्तु ईश्वर की सर्वोच्चता का यह दृष्टिकोण नैतिकता के विरुद्ध है। ईश्वर का प्रेम

मनमाना नहीं, वह भी नियम के अनुसार चलता है।

मानवीय असफलताओं को जब हम देखते हैं तो कर्म के सिद्धान्त में हमारा विश्वास हमें एक सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाने और दुर्भाग्य के रहस्य के सामने श्रद्धावनत होने के लिए प्रेरित करता है। जितना-जितना हमारा ज्ञान बढ़ता जाता है, उतना-उतना हमारा उच्चता का अभिमान कम होता जाता है। कर्म में विश्वास हममें सच्चे न्याय या दान-पुण्य की भावना पैदा करता है जो आध्यात्मिकता का सार-तत्त्व है। हम अनुभव करने लगते हैं कि मानव कितना असहाय और असमर्थ है। जब हम गरीबों के विकृत जीवन को देखते हैं तो अनुभव करते हैं कि कर्म का सिद्धान्त कितना सही है। यदि वे गुस्त और अपराधी हैं तो हमें यह सोचना चाहिए कि उनके लिए इससे भिन्न मार्ग को चुनने का मौका ही कितना था। वे दुष्ट उतने नहीं जितने कि अभागे हैं। इसके अतिरिक्त असफलताएँ पाप का नतीजा उतनी नहीं जितनी कि गलतियों का नतीजा हैं, जो हमें हमारे विनाश की ओर ले जाती हैं। ग्रीक दुःखान्त रचना में मनुष्य को व्यक्तिगत रूप से उतना उत्तरदायी नहीं माना गया, जितना कि परिस्थितियों और मोयरा के निश्चयों को। ओडिपस रेक्स की कहानी हमें बताती है कि किस प्रकार पूर्ण प्रयत्न करने पर भी वह अपने-आपको अपने पिता की हत्या और अपनी माता के साथ विवाह करने से, जो उसके भाग्य में बदे थे, बचा नहीं सका। होमर के काव्य में हैक्टर और एंड्रोमाश का एक-दूसरे से अलग होना नियति का एक और उदाहरण है। शेक्सपीयर के नाटकों में भी कलाकार को हम अपने पात्रों को उनकी दुर्बलताओं से ही उनके लक्ष्य की ओर ले जाते हुए देखते हैं। लीयर में यह दुर्बलता अपराधपूर्ण भूल के रूप में और मैक्बेथ में व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा के रूप में दिखाई देती है। कलाकार हमें इन आत्माओं को पीड़ाग्रस्त रूप में दिखाता है। हैमलेट का दिमाग चकरा जाता है और उसकी इच्छा-शक्ति विभ्रम में पड़ जाती है। वह जीवन और मृत्यु दोनों पर नजर डालता है और यह निश्चय नहीं कर पाता कि दोनों में से कौन अधिक खराब है। व्यक्तिगत राग और महत्त्वाकांक्षा से प्रेरित होकर मैक्बेथ सब कुछ गड़बड़ा देता है। ओथेलो अपनी पत्नी को मार डालता है और फिर आत्मघात भी कर लेता है, क्योंकि एक ईर्ष्यालु खलनायक उसे एक रूमाल दिखाता है। जब हम इन ऊँची आत्माओं को प्रतिकूल शक्तियों के साथ संघर्ष में टूटते देखते हैं तो हमें उनसे सहानुभूति होती है। कारण, ऐसा हममें से किसी के भी साथ हो सकता है। हम भी उन दुर्बलताओं से, जिन्होंने

उन्हें तोड़ डाला, मुक्त नहीं है—चाहे हम उन्हें मूर्खता, असन्तुलन, अनिश्चितता अथवा पागलपन-भरी महत्त्वाकांक्षा और स्वार्थपरता कोई भी नाम दें। ग्रीक-साहित्य की दुःखान्त रचनाओं में बुरे ग्रह-नक्षत्रों को जो स्थान दिया जाता था, आज वह अर्थशास्त्र के सर्वशक्तिमान सिद्धान्तों ने ले लिया है। संसार के हजारों नौजवान पिंजरे में बन्द पक्षी की भाँति समाज की लोहे की दीवारों से व्यर्थ अपने सिर टकरा रहे हैं। उनमें हम समस्त दुःखान्त साहित्य का सार देखते हैं—एक महान् वस्तु को टूटकर नष्ट होते देखते हैं, किसी उदात्त भाव को गिरकर चकनाचूर होते देखते हैं। अपनी नियति के दुर्धर भार से टूटते हुए इन लोगों के सम्मुख हम सिर्फ सिर ही झुका सकते हैं। मानवीय आत्मा की कष्ट सहने और अलग-थलग हो जाने की क्षमता अपार है। उन गरीब लोगों को देखिए, जिन्हें संसार नीच और पतित समझकर उपेक्षा से बगल से निकल जाता है। यदि सिर्फ हमें यह पता होता कि वे किन अवस्थाओं में से गुजरे हैं तो हम उन्हें अपने साथ रखकर प्रसन्न होते। यह समझना भूल है कि दुर्भाग्य सिर्फ उन्हीं पर आता है जो उसके अधिकारी हैं। यह सारा संसार एक समष्टि है, जिसमें हम एक-दूसरे के साथी हैं, इसलिए हमें एक-दूसरे के लिए कष्ट उठाना और सहानुभूति रखनी चाहिए। ईसाई धर्म के अनुसार दिव्य आत्माएं ही स्वयं कष्ट उठाकर सिद्ध करती हैं कि कष्ट सहन करने में कितनी महानता है। व्यथा को सहना, कष्ट को बरदाश्त करना उन लोगों का गुण है जिनमें आत्मिक शक्ति है। वह मानवता की आध्यात्मिक सम्पदा में वृद्धि करता है।

६. भावी जीवन:

यद्यपि सर्वाधिक प्रभावशाली दर्शनशास्त्र और धर्म मृत्यु के अनन्तर जीवन के प्रश्न पर मौन हैं, कम-से-कम वे अस्पष्ट तो अवश्य रहे हैं तथापि हमारे कुछ आधुनिक मत हमें यह विश्वास करने के लिए प्रेरित करते हैं कि आत्मा का भविष्य उसी तरह स्पष्ट प्रकाशित है जैसे किसी रंगमंच का दृश्य उस पर पड़ रहे दीपकों के प्रकाश से प्रकाशित रहता है। उनके अनुसार सारा भविष्य बिलकुल साफ जाहिर है। भविष्य की गहराइयों का पूरा नक्शा तैयार है। स्वर्ग और नरक के सुख-दुःख स्पष्ट और सर्वथा ज्ञात हैं। जो लोग यह विश्वास करते हैं कि मरणोत्तर जीवन एक ऐसा तथ्य है जो ईश्वर ही हम पर प्रकट करता है। या जो यह मानते हैं कि शरीर से भिन्न आत्मा-जैसी कोई चीज नहीं है। उनके लिए मृत्यु के

उपरान्त जीवन कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न नहीं है। भौतिकवाद के स्थूल और अपरिष्कृत सिद्धान्त का, जो मृत्यु के बाद जीवन को स्वीकार नहीं करता, आत्मा के आविर्भाव के सिद्धान्त के साथ मेल नहीं बैठता। यदि आत्मा शरीर में पैदा नहीं होती, शरीर सिर्फ उसका आविर्भाव करता है, तो वह शरीर के नष्ट हो जाने पर नष्ट नहीं होती।

कठिनाई तब पैदा होती है जब हम भावी जीवन के स्वरूप की व्याख्या और लक्षण करने लगते हैं। पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर विचार करने से पूर्व हम दो अन्य सिद्धान्तों—वैयक्तिक अमरता और सोपाधिक अमरता—पर विचार करेंगे।

७. वैयक्तिक अमरता :

जो लोग वैयक्तिक अमरता का प्रयत्न करते हैं वे यह ठीक-ठीक नहीं जानते कि उसका अभिप्राय क्या है। अपने प्रिय के विलुप्त हाथ का स्पर्श चाहते हैं, उस आवाज को सुनना चाहते हैं जो अब शान्त हो गई है। दूसरे शब्दों में, हम यह चाहते हैं कि व्यक्ति हमेशा जीवित रहे, उसका शरीर, मन और उसके ध्येय एवं लक्ष्य सब हमेशा बने रहें, अर्थात् हम उस घर को भी कायम रखना चाहते हैं जिसे हम देख और छू सकें और उसमें रहने वाले को भी। अगर घर नष्ट हो जाए, सिर्फ उसमें रहने वाला किरायेदार बचा रहे तो हमें तसल्ली नहीं होगी। जब हमारा बच्चा मर जाता है तो हम अपने खोये हुए बच्चे को ही देखना चाहते हैं, उसकी जगह किसी फरिश्ते को नहीं, हम उस व्यक्ति को चाहते हैं जिससे हम प्यार करते थे, दिव्य आत्मा का रूप धारण किये और ईश्वर की महिमा से मण्डित किसी व्यक्ति को नहीं; उसे देखकर तो हमारे होश-हवास उड़ जाएंगे। कल्पना कीजिए, हमसे यह पूछा जाय कि हम अपने पार्थिव जीवन के किस रूप को अमर बनाना चाहते हैं—मृत्यु के समय के शरीर को, बाल्यकाल के शरीर को, या जन्म के समय के शिशु-रूप को। तब हम न अनन्त यौवन को चुनेंगे और न अनन्त जरा को। कारण, चाहे वह यौवन हो या और वृद्ध, यदि वह अनन्त और अपरिसीम हो जाए तो हम उससे ऊब जाएंगे। यूरोपीडिस के होराक्लिज की प्रसिद्ध गायक-मण्डली ने अपने लिए मदमाते प्रदीप यौवन की पुनः माँग की थी। हममें से कुछ लोग शायद यह समझें कि यौवन की उमगें और जीवन की अन्तर्दृष्टि एक साथ रहती है, किन्तु वे यह नहीं जानते कि इन दोनों चीजों का आपस में मेल नहीं है। जिसे

हम चाहते हैं उसे जानते नहीं और जिसे जानते हैं उसे चाहते नहीं।

८. सोपाधिक अमरता :

सोपाधिक अर्थात् शर्त-सहित अमरता का सिद्धान्त अब लोकप्रिय होता जा रहा है, खास तौर से ईसाई विचारकों में। लोत्ज़े का कहना है कि अमर वही व्यक्ति होते हैं जो अपने जीवन इतने ऊँचे मूल्य को साकार और मूर्त कर लेते हैं कि उसके कारण वे समग्र पूर्ण के आगे अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को खोते नहीं। प्रोफ़ेसर प्रिंगल-पैटिसन इस विषय में लोत्ज़े के अनुयायी हैं। उनका कहना है कि 'अमरता हर मानवीय आत्मा में नैसर्गिक रूप में विद्यमान नहीं है और न वह कोई तिलस्मी गुण है जो मानव-रूप धारण कर जन्म लेने वाले हर व्यक्ति को दे दिया गया है। एक सच्ची आत्मा का जन्म सतत प्रयत्न के बाद होता है और उसे कायम रखने के लिए भी वैसे ही प्रयत्न की आवश्यकता होती है क्योंकि उसके विघटन का खतरा हमेशा बना रहता है।'[1] जिस प्रकार जीवों की अतिजीविता के लिए यह आवश्यक शर्त है कि वे अपनी परिस्थितियों और परिवेश के साथ सामंजस्य स्थापित करें, उसी प्रकार मनुष्य की आत्मा भी तभी अतिजीवित अर्थात् कायम रह सकती है जबकि वह अपने ईश्वरीय परिवेश के साथ सामंजस्य स्थापित करे। अमरता हमारा नैसर्गिक जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है, वह एक ऐसा पुरस्कार है जो हमें जीतना पड़ता है।

यह सिद्धान्त युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें हम अतिजीविता, अमरत्व और सावधिक सातत्य को निरवधिक नित्य जीवन मान लेते हैं। मृत्यु के समय हममें से प्रायः हर किसी की स्थिति उस पूर्णता से नीचे के दरजे की होती है जो हमें अमरत्व का अधिकार प्रदान करती है। यद्यपि हम यह स्वीकार कर सकते हैं कि नित्य जीवन रूपी अमरत्व यथावश्यक पूर्णता की प्राप्ति पर निर्भर है, तथापि हमें यह स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है कि वह विशाल मानव-संख्या, जो इस नित्य अमरत्व की अधिकारिणी नहीं है, इस जीवन के बाद नष्ट हो जाती है। यद्यपि अमरत्व के अधिकारी केवल पुण्यात्मा ही हैं, तथापि पुण्यात्मा और पापी दोनों का ही जीवन मृत्यु के बाद भी कायम रह सकता है। यह कहना सही नहीं है कि ईसाई धर्मशास्त्र के अनुसार पापियों और दुरात्माओं का चेतन-जीवन मृत्यु के बाद समाप्त हो जाता है। कैथोलिक ईसाई सम्प्रदाय में उनका अस्तित्व भी

[1] दि आइडिया ऑफ़ इम्मॉर्टेलिटी (१९२२), पृ० १९५-१९६।

अक्षय्य माना गया है, जो ईश्वर के आशीर्वाद और वरदान से वंचित रह गए हैं। इस प्रकार अमर जीवन और पूर्ण विनाश ये दो ही विकल्प नहीं है, अन्य रूप से भी मृत्यु के बाद अस्तित्व कायम रह सकता है।

प्रोफेसर प्रिंगल-पॅटिसन का मत है कि नैतिक जीवन का महत्त्व तभी रह सकता है जबकि अमरता सोपाधिक अर्थात् शर्त-सहित हो। लोगों को यह विश्वास दिलाना कि वे चाहे जो-कुछ करें, अन्त भला ही होगा, उन्हें यह समझाने का अच्छा और प्रभावकारी तरीका नहीं है कि वे इस जन्म में जो भी निश्चय अपने लिए करते हैं, उसका बहुत भारी महत्त्व है और वह उन्हें सोच-समझकर करना चाहिए, क्योंकि वह उनकी आत्मा को आदत की बेड़ियों में जकड़ देता है और उसमें छुटकारा पाना उनके लिए बहुत कठिन हो जाता है।'[1] लेकिन उनका यह तर्क सही नहीं है। कर्म का सिद्धान्त हमारे इह-जीवन और इह-काल के कार्यों को बहुत महत्त्वपूर्ण मानता है और साथ ही प्रतिजीविता (सरवाइवल) की भी माँग करता है। यदि मानव-आत्मा इस जीवन में एक स्थायी उद्देश्य और लक्ष्य को सामने रखकर अपने मन की अखण्डता उपलब्ध नहीं कर सकी, तो यह आवश्यक नहीं कि उसका ऐकान्तिक विलोप हो जाए। इस विचार को मान लेने पर यह कल्पना करना कठिन होगा कि उन असंख्य बच्चों और शिशुओं का क्या होगा जो वास्तविक आत्मत्व का अवसर पाए बिना ही इस जीवन से चले गए, यहाँ तक कि बहुत से वयस्क मौत के समय वास्तव में बच्चे ही होते हैं। यह निश्चय करना सहज नहीं होगा कि क्या संश्लिष्टता, समन्वय और सामंजस्य प्राप्त कर लेना ही प्रतिजीविता के लिए आवश्यक है। हममें से बहुत से ऐसे होंगे जिन्हें मृत्यु के समय तक नित्य मूल्यों का इतना बोध नहीं हो चुका होगा कि अगले जीवनों में उनको और अधिक पूर्ण रूप से प्राप्त करने की उनके लिए सम्भावना हो। हमें कैसे जीवन जीना चाहिए यह हम प्रायः उस समय सीखते हैं जब सारा जीवन खत्म हो चुकता है। प्रोफेसर प्रिंगल-पॅटिसन भले ही यह मानें कि 'जिन्होंने जीवन को एक बार प्राप्त कर उसका भली-भाँति सदुपयोग नहीं किया उनको मृत्यु के बाद दूसरा जीवन प्राप्त होने की कोई आशा नहीं है'[2] और भले ही मानव-जगत् की आत्माओं की विशाल संख्या के पूर्ण और ऐकान्तिक विनाश से उन्हें कोई चिन्ता और उद्वेग न हो, तथापि हमें इस सम्भावना की कल्पना करना

१. दि आइडिया ऑफ इम्मॉर्टेलिटी (१९२२), पृ० २०३-२०४।
२. दि आइडिया ऑफ इम्मॉर्टेलिटी (१९२२), पृ० १९७।

कठिन और असंगत प्रतीत नहीं होता है कि यदि सब मनुष्यों को कुछ और जन्मों का मौका दिया जाए तो वे भी प्रेम और अच्छाई अपने भीतर विकसित कर पुण्यार्जन कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त गहन प्रेम की शक्ति इतनी बड़ी है कि वह पतित-से-पतित आत्माओं को भी यह अनुभव करा सकती है कि वे कितने गिरे हुए हैं, इसलिए उनके भी उद्धार की आशा की जा सकती है। इतिहास ऐसे पापात्माओं के उदाहरणों से भरा पड़ा है जिन्हें एकाएक ज्ञान प्राप्त हो गया, किन्तु यदि मृत्यु उनके जीवन को खत्म कर देती तो उनके जीवन का उद्धार कभी न हो पाता और ईश्वर का प्रयोजन और उद्देश्य निष्फल होता।

प्रोफेसर प्रिंगल-पेटिसन सम्भवतः यह स्वीकार नहीं करते कि व्यक्तियों के जीवन को एकदम नष्ट न कर उन्हें और अवसर प्रदान किये जाने चाहिएँ। 'टाइमेयस' में प्लेटो ने यह तर्क दिया है, क्योंकि ईश्वर अपना कृति को स्वयं नष्ट करना कभी नहीं चाहेगा, और दूसरा कोई उसे नष्ट कर नहीं सकता, इसलिए मानव-आत्माएँ, जिन्हें ईश्वर ने अपनी ही आकृति के अनुसार बनाया है नष्ट नहीं की जा सकती; यह जरूर सम्भव है कि मनुष्य ईश्वर का सारूप्य प्राप्त करने के लिए जिस प्रक्रिया में से गुज़रता है वह एक अनन्त प्रक्रिया हो। प्रोफेसर जे० ऐस्टलिन कारपेण्टर का कहना है, 'बौद्ध-दर्शन में सभी प्राणियों की अन्ततः निर्वाण-प्राप्ति का उल्लेख है और ईसाई धर्म अपने व्यापकतम इतिहास में यही कहता रहा है और अब भी कहता है कि असंख्य प्राणी अनन्त काल तक यातनाएँ भोगते रहेंगे और पाप करते रहेंगे।'[1] अन्ततः नरकवास-सम्बन्धी शिक्षा ईसाई धर्म के सारे इतिहास में सतत और व्यापक रूप से चली आ रही है, हालाँकि ओरिजेन और ईसाई प्लेटोवादियों ने इस बात पर बल दिया है कि अन्ततः सभी प्राणी मुक्त हो जाएँगे। ओरिजेन का कहना था कि वास्तव में ईश्वर के महाशत्रु को छोड़कर शेष सभी मुक्त हो जाएँगे। रोमन कैथोलिक ईसाई सम्प्रदाय कौंसिल आफ ट्रेंट के फैसले के कारण अनन्त नरकवास के विचार को स्वीकार करने के लिए बाध्य है। हम ईसा के कठोर वचनों को अप्रामाणिक और प्रक्षिप्त कहकर बाइबिल से निकाल सकते हैं। डाइविज (धनी लोग) के जिस दण्ड की बात बाइबिल में मिलती है वह उनके पाप-शमन के लिए ही है। डूंग-नैट की कहानी में पापियों के रोने और दाँत किटकिटाने की जो बातें दी गई हैं और बाइबिल में ईश्वर (होली स्पिरिट) के विरुद्ध पाप-कर्म करने वाले के 'न इस जन्म में और न

१. बुद्धिज्म एण्ड क्रिश्चियेनिटी, पृ० ३०६।

कभी भविष्य में माफ किये जाने की जो बात कही गई है, उन सबको हम स्वर्ग और नरक के सिद्धान्त की अतिशयोक्तियाँ मानकर उपेक्षित कर सकते हैं। और फिर भी ऐसी बहुत सी शिक्षाएँ हैं जिन पर किसी का विवाद नहीं है, किन्तु वे *बाद के इलहामवादियों द्वारा अत्यधिक अतिरंजित कर दी गई हैं।* इन अतिरंजनापूर्ण वर्णनों में कहा गया है कि यदि हम अपने पाप-कर्म करने वाले हाथ या पाँव को काट फेंकने के लिए तैयार नहीं हैं तो गेहेन्ना (नरक) में जाने के सिवाय हमारे लिए और कोई उपाय नहीं है। स्वर्गीय भोज और भेड़-बकरियों की कहानियों में भी आत्यन्तिक नरकवास को ही पापकर्म करने वालों के लिए वास्तविक सम्भावना माना गया है। किन्तु आधुनिक लोगों का मन ऐसे अनन्त दण्ड को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है जिसमें पापी के सुधार की कोई गुञ्जाइश न हो। *आधुनिक लोग यह समझते हैं कि ईर्ष्या-द्वेष से भरे मन वाले* व्यक्ति को भी अन्ततः सन्मार्ग पर लाकर बचाया जा सकता है। हमें यह भय मन में रखने की आवश्यकता नहीं है कि इस सिद्धान्त को अपनाने से नैतिक आचार और प्रयत्न का उत्साह कुण्ठित हो जाएगा। ईसा के अधिक परिपक्व वचनों में हमें इस बात *के प्रमाण मिलते हैं कि वह मनुष्य-मात्र की अन्तिम मुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार* करते थे। बाइबिल में यह जो कहा गया है कि परमपिता ईश्वर की दृष्टि में हर व्यक्तिगत आत्मा का अनन्त मूल्य और महत्त्व है,[1] वह इस बात का विश्वास दिलाता है कि वह (परमपिता) अपनी एक भी सन्तान की मृत्यु का नुकसान उठाना नहीं चाहेगा। कहा जाता है कि सूली पर लटकाए जाने से पूर्व ईसा ने कहा था : 'मैं एक अच्छा गडरिया हूँ। अच्छा गडरिया इस बात के लिए अपनी जान की बाजी लगा देता है कि उसकी एक भी भेड़ न मरे।' ईश्वर इतना उतावला या *अधीर नहीं है कि सिर्फ मनुष्य के एक जन्म की छोटी-सी अवधि में ही* धैर्य खो बैठे। यदि ईश्वर को हर आत्मा प्यारी है तो अन्ततः समस्त प्राणियों की मुक्ति अनिवार्य है। यदि कुछ आत्माएँ भी नष्ट हो जाती हैं तो ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

यदि अमरत्व से हमारा अभिप्राय अतिजीविता (मृत्यु के बाद पुनर्जन्म) नहीं, बल्कि नित्य जीवन (मुक्ति) है तो उसके लिए व्यक्तिगत प्रयत्न का सबसे अधिक महत्त्व है। हमारे लिए उद्देश्य नियत कर दिया जा सकता है, किन्तु उसे प्राप्त करने के लिए आत्माओं के परस्पर सक्रिय सहयोग की आवश्यकता है। यदि

१. लूक XV. २।

हम यह विश्वास करते है कि पापी-से-पापी व्यक्ति भी एक दिन सन्मार्ग पर आ सकता है तो यह हमारा परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास है। इस से हम यह भी स्वीकार करते हैं कि अच्छाई एक दिन सभी को सच्ची राह पर आने के लिए मजबूर करती है। कोई भी व्यक्ति नितान्त बुरा नहीं है, अच्छाई उसके हृदय में भी प्रवेश कर सकती है। आत्मा के प्रभाव का कोई भी व्यक्ति अधिक समय तक प्रतिरोध नहीं कर सकता और जिन आत्माओं ने साधना और संयम से अपने जीवन को पूर्ण बना लिया है, वे सारी मानव-जाति का उद्धार कर देंगी।

६ पुनर्जन्म :

पुनर्जन्म के सिद्धान्त का इतिहास और प्रभावपूर्ण है। ओर्फियस के धर्म का यह मूलभूत विश्वास था कि जन्म-मरण का चक्र अनवरत रूप से चलता रहता है। पैथागोरस, प्लेटो और एम्पीडोक्लीज पुनर्जन्म को स्वतःसिद्ध मानते हैं। उनका कहना है कि अगर पूर्व-जन्म है तो पुनर्जन्म भी है। पूर्व-जन्म और उत्तर-जन्म दोनों साथ-साथ चलते हैं। बाद के विचारकों—प्लोटिनस और नव-प्लेटोवादियों—ने भी पुनर्जन्म को माना। यदि हम इबरानियों पर दृष्टिपात करें तो हम देखेंगे कि फिलो में भी इसके संकेत मिलते हैं और कब्बाला में तो निश्चित रूप से यह विचार पाया जाता है। सूफी सम्प्रदाय के लेखकों ने भी इसे स्वीकार किया है। ईसाई संवत्सर के प्रारम्भ के आसपास फिलिस्तीन में भी यह विचार प्रचलित था। उदाहरण के लिए हेरोद ने यह विचार प्रकट किया था कि बप्तिस्मा करने वाले जॉन (जॉन दि बैप्टिस्ट) ने ही ईसा के रूप में जन्म लिया है।[1] ईसा के शिष्यों ने उसे लोगों में फैली इन अफवाहों की खबर दी थी कि वह बप्तिस्मा करनेवाला जॉन या एलिजा या जेरेमिया है। जब ईसा ने एक जन्मान्ध व्यक्ति की चिकित्सा की तो लोगों ने उससे पूछा कि क्या यह अन्धापन उसके पूर्व-जन्म के पापों का फल है।[2] जुलियस सीजर का कहना है कि ब्रिटिश लोगों के पूर्वजों में भी पुनर्जन्म का विश्वास प्रचलित था। अपनी 'हिस्ट्री ऑफ दि गॉलिक वार्स' नामक पुस्तक में उसने लिखा है कि 'ड्रुइड लोगों का यह एक प्रमुख सिद्धान्त है कि आत्माओं का विनाश नहीं होता, बल्कि वे मृत्यु के बाद एक शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण कर लेती हैं और उनका खयाल है कि यह सिद्धान्त लोगों में

१. मैथ्यू XIV. २।
जॉन IX. २। मैथ्यू XI, १४-१५ भी देखिए।

वीरता पैदा करता है और उनके मन में मृत्यु का भय भगा देता है।' ईसाई धर्म में भी गुरु की शताब्दियों में कुछ प्रारम्भिक नौस्टिक सम्प्रदाय (रहस्यवादी) और चौथी-पाँचवीं शताब्दियों में मैनिकेन सम्प्रदाय पुनर्जन्म में विश्वास करते थे। ओरिजेन का भी पुनर्जन्म में विश्वास था। मध्य-युग में अनेक कथारी सम्प्रदायों में भी यह विश्वास परम्परागत रूप में विद्यमान था। पुनर्जागरण के समय ब्रूनो ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया और सत्रहवीं शताब्दी में वान हैल्मोंट ने भी इस सिद्धान्त को अपनाया। स्वीडनबर्ग ने इस सिद्धान्त का कुछ संशोधित रूप में उल्लेख किया है। गोएटे ने इस सिद्धान्त का मजाक उड़ाया, किन्तु लेसिंग और हर्डर संजीदगी से इस पर विश्वास करते थे। ह्यूम और शोपनहॉर ने इस सिद्धान्त का आदर के साथ उल्लेख किया और आज के समकालिक दार्शनिकों में से भी कम-से-कम आधा दर्जन ऐसे हैं जो इस सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, हालांकि पर्याप्त प्रमाण और साक्ष्य के अभाव में वे इसे आधिकारिक रूप में कहने के लिए तैयार नहीं हैं।[1]

आत्मा की उत्पत्ति के बजाय आविर्भाव का सिद्धान्त पुनर्जन्म के सिद्धान्त को युक्तियुक्त सिद्ध करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त प्रकृति में जीवन का नाश नहीं होता, बल्कि वह निरन्तर नये-नये रूप धारण करता जाता है और अक्षय्य बना रहता है। जीवन एक सतत गति और प्रवाह है, जिसका कहीं विराम नहीं है, जो भूत की ओर न लौटकर भविष्य की ओर बराबर बढ़ता जाता है। जीव-जन्तु जगत् में विकास के द्वारा किसी सम्पूर्ण प्राणि-जाति का स्थायी और सार्वकालिक हो जाना ही अन्तिम लक्ष्य है, किन्तु मानव-जगत् में हर व्यक्ति के पृथक् अद्वितीय व्यक्तित्व का विकास लक्ष्य प्रतीत होता है। मनुष्य की आत्मा कोई ऐसा अमूर्त गुण या तत्त्व नहीं है जो हर समय एक-जैसा ही रहे। यह एक सजीव अनुभव है जिसका सावधिक होना एक आन्तरिक लक्षण है। यदि प्रकृति की शेष सब चीज़ें अपने साथ सतत रूप से विद्यमान किसी वस्तु से उद्भूत होती हैं और फिर अपने साथ सतत रूप से विद्यमान किसी वस्तु में विलीन हो जाती हैं, तो आत्मा भी इस सामान्य नियम से अलग क्यों रहे। 'मर्त्य सस्य (खेती) की तरह पकता है और सस्य की तरह ही फिर उत्पन्न हो जाता है।'[2] एक ग्राम वतन के भीतर सातत्य प्रकृति का नियम है। यदि सातत्य के सामान्य नियम को

१. मैक्टैगर्ट : दि नेचर ऑफ़ एग्ज़िस्टेंस, भाग २ (१९२७), अध्याय ६३।
२. कठोपनिषद् १.६।

हमें भंग नहीं करना है तो मानवीय आत्मा का भी मृत्यु के बाद सतत अस्तित्व रहना चाहिए। आत्माएँ अतीत के धागे को कायम रखती हैं उससे वर्तमान में बुढ ताना-बाना बनती है और भविष्य के ताने-बाने की तैयारी करती है।

मानवीय स्तर पर सातत्य उसी प्रकार का नहीं हो सकता जिस प्रकार का अवमानव स्तर पर होता है। कारण, आत्मा में जो परस्पर संश्लिष्टता और नियंत्रण है वह अवमानव स्तर पर नहीं होता। अवमानव स्तर पर जो ऐक्य होता है वह मानवीय स्तर पर विद्यमान ऐक्य और संश्लिष्टता की अपेक्षा शिथिल होता है। दीवार टूट जाने पर भी इसकी ईंटें पहले की तरह साबुत रह सकती हैं। किन्तु यदि आत्मा का विनाश हो जाए तो उसके विचार, भावना और इच्छा आदि तत्व भी नष्ट हो जाएँ। आकार और भौतिक वस्तु, बनत और उसका मसाला इतने संश्लिष्ट रूप में परस्पर जुड़े हुए हैं कि यदि उन्हें एकदम एक-दूसरे से पृथक् कर दिया जाए तो आत्मा ही नष्ट हो जाए। इसीलिए मानव-आत्मा का सातत्य वैसा नहीं है, जैसा कि अन्य प्राणियों का।

आत्मा का उद्देश्य व्यक्ति के रूप में कार्य करना और उसका विकास करना होता है। उसकी गहराई, समृद्धता और व्यापकता अनिश्चित काल और विस्तार तक बढ़ती रह सकती है। हममें जो शक्तियाँ हैं उनका उपयोग और हम जिन मूल्यों की प्राप्ति के लिए उद्योग करते हैं, उनकी परिसमाप्ति एक ही जन्म में नहीं हो सकती। आत्मा की अनन्त सुधार की क्षमता और सातत्य का सर्वव्यापी तथ्य, दोनों ही एक ऐसे भविष्य की ओर संकेत करते हैं जिसमें आत्मा को अपनी 'अवरुद्ध पूर्णता' को पूरा करने का अवसर मिलता है। मृत्यु के द्वारा बीच में ही खंडित कर दिये गए जीवन, जिनके पुनर्नवीकरण की आवश्यकता होती है, ऐसी शक्तियाँ हैं जो सृष्टि को अखंडता प्रदान करती है। उत्तरोत्तर जन्मों की शृङ्खला एक ऐसी सुगठित शृङ्खला है जिसमें कई जन्म के कर्म दूसरे जन्म के आधार और अवसरों का निश्चय करते हैं।[1] आत्माएँ अन्धों की भाँति आँखें मूँदकर लक्ष्य की ओर नहीं भागतीं। उस ईश्वर की सन्तानों को, जिसकी दृष्टि में हज़ारों वर्ष केवल एक दिन के बराबर है, इस बात से निराश नहीं होना चाहिए कि वे पूर्णता का लक्ष्य एक जन्म में प्राप्त नहीं कर सकीं। व्यक्ति अतीत में असंख्य बार प्रकृति के रंगमंच पर प्रकट और अदृश्य हुआ है और इसी प्रकार असंख्य शताब्दियों तक अदृश्य और फिर-फिर नये रूप में प्रकट होता रहेगा। यह

[1] छान्दोग्य उपनिषद् ३-१४.१।

दैहिक जीवन व्यक्तिगत आत्मा के बृहद् जीवन-नाटक का, जो इस जन्म से पहले भी था और मृत्यु के बाद भी जारी रहेगा, एक छोटा-सा दृश्य-मात्र है।

विज्ञान का यह एक स्वीकृत सिद्धान्त है कि यदि हम काल में विकास की कोई स्थिति देखते हैं तो उससे हम उसके अतीत का अनुमान लगा सकते हैं। यह सही नहीं है कि हमने 'संसार में असत् को जन्म दिया है।'[1] आत्मा इस जीवन में कुछ स्वभाव और पहले की विरासत को लेकर कदम रखता है। हम यह बात प्रायः कहा करते हैं कि अमुक व्यक्ति को अमुक गुण पैतृक रूप से मिला है—उदाहरण के लिए किसी को कला की परख और किसी को संगीत की रुचि आदि गुण पैतृक रूप से मिलते हैं जो मानव प्राणि-जाति के गुण नहीं हैं, बल्कि वैयक्तिक विभिन्नताएं हैं। इसका अर्थ यह है कि इस जन्म में और इससे पहले आत्मा का कोई पूर्व इतिहास होना चाहिए। हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि आत्मा बिना किसी पूर्व कारण के एकाएक ही एक निश्चित स्वभाव लेकर उद्भूत होती है। मैक्टेगर्ट ने कुछ ऐसे तथ्यों का उल्लेख किया है जिनकी व्याख्या पूर्व-जन्म को माने बिना की ही नहीं जा सकती। 'दो व्यक्ति, जिन्होंने एक-दूसरे को बहुत कम देखा और जाना होता है, एक अदृश्य शक्ति से एक-दूसरे की ओर प्रबल आकर्षण से आकृष्ट होते हैं। यह शक्ति वर्षों के पारस्परिक विश्वास और सहायता से उत्पन्न शक्ति-जैसी ही होती है।'[2] जब किसी को किसी से पहली नजर में ही प्यार हो जाता है तो हम उसकी व्याख्या लैंगिक आकांक्षा की असयतता और मनमानेपन की दुहाई देकर नहीं कर सकते। इसके अतिरिक्त जो गुण और शक्तियां हमें प्रयत्न और साधन से प्राप्त करनी पड़ती हैं वे दूसरों में हमें नैसर्गिक देन के रूप में विद्यमान प्रतीत होती हैं।[3] पूर्वी देशों में ऐसे बहुत

१. टिमोथी, VI ७।
२. सम डागमाज ऑफ रिलिजन (१९०६), पृष्ठ १२१।
३. 'कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि एक व्यक्ति में प्रारम्भ से ही किसी खास प्रलोभन का संवरण करने की शक्ति नहीं होती। उसकी यह अक्षमता वैसी ही होती है जैसी कि अन्य लोगों में उसी प्रलोभन के आगे बार-बार आत्म-समर्पण करने से पैदा होती है। इसी तरह एक व्यक्ति के जीवन में प्रारम्भ से ही एक ऐसी शान्ति और धार्मिकता होती है जो दूसरे लोग वर्षों की मनन साधना के बाद प्राप्त कर सकते हैं। कुछ लोगों में दूसरे के चरित्र को भांप लेने की या संकट के क्षणों विवेक के साथ काम करने की क्षमता होती है जिससे उन्हें ऐसे लाभ प्राप्त होते हैं जो दूसरे कम भाग्यशालियों को नहीं मिलते और मिलते भी हैं तो वर्षों के अनुभव के बाद। इस प्रकार हम कुछ लोगों में जन्म से ही नैसर्गिक रूप से

से बच्चे पाए जाते हैं जिनमे बाल्यकाल मे ही असाधारण परिपक्व प्रतिभा होती है। पश्चिम मे भी हमे ऐसी बाल-प्रतिभाएँ मिलती हैं। येहूदी मेन्युहिन ने बारह वर्ष की आयु मे न केवल अपने वायलिन-वादन की परिपक्व और प्रौढ टेकनीक से, बल्कि अपनी सगीत की व्याख्या से भी, एल्बर्ट हॉल में सगीत-समीक्षकों को चकित कर दिया। बेल्जियन शिशु आन्द्रे लेनोआर ने ब्रुसेल्स के प्रोफेसरो को पल-भर मे पाँच अको की किसी भी सख्या का किसी भी अन्य पाँच अंकों की सख्या से गुणा करके और गणित के दूसरे पेचीदा सवाल करके आश्चर्य में डाल दिया। क्या इनकी असाधारण प्रतिभा का कारण पूर्व-जन्मो मे उपार्जित शक्तियों और गुणो को नहीं माना जा सकता?

यदि हम आत्मा का पूर्व-अस्तित्व नही मानते तो हमे यह कहना चाहिए कि आत्मा का जन्म शिशु के जन्म के साथ होता है। इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने पर तमाम शिक्षा और अनुभव निरर्थक हो जाएँगे। यदि आत्मा एक निश्चित स्वभाव के साथ जन्म लेती है तो यह समझना कठिन है कि इस पर विविध प्रकार के स्वभाव थोपने का क्या लाभ है। तब हमारे भाग्य हमें ईश्वर के अत्याचार या मनमानापन प्रतीत होगे। उसका अर्थ यह होगा कि प्रकृति नहीं तो ईश्वर ही हमे भिन्न परिस्थितियो में रख देता है और फिर हमारा फैसला ऐसे करता है मानो स्वय हम ही अपने भाग्य के लिए उत्तरदायी हों। तब ईश्वर जरूर ही अत्यन्त मनमौजी होगा जो हमारे कामो और उद्यमों मे मजा लेता है। वह ईसा और जुडास दोनो को अलग-अलग प्रकार के स्वभाव देता है और वह फिर यह शिकायत करता है कि ईसा तो स्वर्ग का अधिकारी हो गया है और जुडास नही हो सका। अगर मनमानापन और स्वैर-वृत्ति का ही राज्य है तो विवेक और निर्णय बिलकुल व्यर्थ और गलत हो जाते है।

यदि जीवन के सातत्य का नियम एक टूटा हुआ स्वप्न नही है तो भावी जीवन भी वैसा ही होना चाहिए जैसा कि वर्तमान जीवन है। आत्मा कोई परमाणविक न्यष्टि (न्यूक्लियस) नही है जो समग्र अवयवी से सर्वथा भिन्न हो। इसलिए मृत्यु के बाद भी उसकी प्रकृति वैसी ही रहेगी। आत्म-द्रव्य सिद्धान्त वा

कुछ गुण देखते है जो दूसरों के द्वारा स्पष्टतः सुदीर्घ अनुभव के बाद प्राप्त किये जाते हैं। यदि हम पूर्व-जन्म को स्वीकार कर लें तो हम इन सहजात गुणों की भी पिछले जन्म में पाए गए सुदीर्घकालीन अनुभवों के संचित परिणाम के रूप में व्याख्या कर सकते हैं। (मम टॉगमाज ऑफ रिलिजन (१६०६), पृष्ठ १२२)।

मुख्य प्रयोजन यह प्रतिपादित करना है कि आत्मा में कितने ही परिवर्तन हों, वह रहती वही है। यदि हम आत्मा को अपने समस्त अनुभवों का संघटित और संश्लिष्ट ऐक्य मान लें तो उसका अविभाजित एकत्व सुरक्षित रहेगा। पुनर्जन्म आत्मा की प्रगति के सामान्य ढाँचे के अन्तर्गत ही एक परिवर्तन है। मृत्यु हमारी आत्मा की प्रगति में कोई असाधारण घटना नहीं है। वह प्रकृति के राग का स्थायी है जो सतत रूप से आवृत्त होता रहता है। व्यक्ति के जीवन में वह एक प्रकट और नाजुक घड़ी का द्योतक है। मृत्यु वह क्षण है जबकि आत्मा नयी परिस्थितियाँ प्राप्त करती है।

प्रश्न यह है कि क्या शरीर की मृत्यु का अर्थ आत्मा की प्रकृति में एक तात्त्विक परिवर्तन नहीं है। यह हो सकता है कि आत्म-चेतन मन जैविक प्रक्रिया के सरलतर आकारों में उद्भूत और उद्बुद्ध हुआ हो, किन्तु धीरे-धीरे वह स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेता है और शरीर पर अधिक स्वतन्त्रता के साथ प्रतिक्रिया करने की स्थिति में आ जाता है। मानवीय आत्मा के जीवन का केन्द्र शरीर नहीं है, हालाँकि वह शरीर को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयुक्त अवश्य करती है। 'आत्मा जब शरीर को छोड़ देती है तो शरीर ही मरता है आत्मा नहीं।'[1] भौतिक शरीर की मृत्यु का अर्थ आत्मा का विनाश नहीं है। यदि आत्मा एक निःस्वप्न निद्रा के बाद जागकर यह अनुभव करती है कि वह वही आत्मा है जो सोने से पहले थी तो मृत्यु को भी जीवन के सातत्य का भंग नहीं माना जा सकता। यदि यह तर्क दिया जाए कि आत्मा को शरीर से ही अपनी सामग्री उपलब्ध होती है, इसलिए शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा भी नष्ट हो जाएगी, तो हम उसके उत्तर में कह सकते हैं कि आत्मा अपनी सामग्री की प्राप्ति के लिए शरीर पर तभी तक निर्भर रहती है, जब तक कि वह उसमें सम्बद्ध रहती है। किन्तु अनुभव में हमें जो सम्बन्ध नजर आता है, यह आवश्यक नहीं कि अनुभव से अतीत क्षेत्र में भी वह अनिवार्य हो। जब हम शरीर रूप में होते हैं तब हमें विचार करने के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता होती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि शरीर से मुक्त हो जाने पर भी हमें सोचने के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता होगी। यह साधनवादी सिद्धान्त भी, कि आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न सत्ता है और वह शरीर को एक साधन के रूप में इस्तेमाल करती है, इस प्रेक्षित और अनुभूत तथ्य की व्याख्या नहीं कर सकता कि मनुष्य की मानसिक अवस्थाएँ शरीर के विक्षोभों

१. छान्दोग्य उपनिषद्, ६-११-३।

पर निर्भर हैं। शरीर को जब चोट लगती है तो वह सिर्फ आत्मा के अभिव्यक्त रूप को ही नहीं, स्वयं आत्मा को भी प्रभावित करती है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि शरीर में चोट लगने या क्षति पहुँचने से मनुष्य का चरित्र ही बदल जाता है। इसके उत्तर में हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य का चरित्र नहीं बदलता, सिर्फ उसका व्यवहार बदलता है। आत्मा मन और शरीर का एक सम्मिश्र है, भले ही मन शरीर से कितनी ही उच्च स्थिति में हो। इसीलिए यह कहा जाता है कि स्थूल शरीर के मर जाने का अर्थ समस्त भौतिक सम्बन्धों का पूर्ण उच्छेद नहीं है। हिन्दू लोग शरीर को रथी आत्मा का रथ मानते हैं, जो इस स्थूल शरीर से भिन्न होता है, किन्तु पूर्णतः व्यतिरिक्त नहीं होता। दूसरे शब्दों में, आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अंगांगी या अवयव-अवयवी सम्बन्ध होता है। प्राचीन काल में एक सूक्ष्म शरीर की जो कल्पना की जाती थी वह भौतिक अनुसन्धान से भी कुछ पुष्ट होती है। भूत-प्रेत-सम्बन्धी घटनाओं के सम्बन्ध में यदि हम यह मान भी लें कि कुछ घटनाएँ धोखाधड़ी, भ्रम या आकस्मिक संयोग की घटनाएं होती हैं तो भी इस विश्वास का औचित्य सिद्ध करने के लिए काफी प्रमाण हैं कि भूत-प्रेत की घटनाएँ उन आत्माओं के कारनामों का परिणाम होती हैं जिनके शरीर की शक्ल में वे भूत-प्रेत दिखाई देते हैं।

यदि आत्मा और शरीर के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है तो हम यह नहीं कह सकते कि कोई भी आत्मा किसी भी शरीर में वास कर सकती है। यदि आत्मा के अस्तित्व की परिस्थितियाँ और अन्तर्द्रव्य वैसे ही हों जैसे कि इस जन्म में हैं तो पशुओं या देवदूतों की योनियों में जन्म लेने का कोई अर्थ नहीं रह जाता।[1] मृत्यु के बाद दूसरे जन्म में जीवन का प्रकार वर्तमान प्रकार से पूर्णतः भिन्न नहीं हो सकता। मृत्यु आत्मा के जीवन को इतना आत्यन्तिक रूप से नहीं बदल सकती। कोई भी मानव-प्राणी किसी ऐसे शरीर में जन्म नहीं ले सकता, जो उसके स्वभाव, चरित्र और प्रकृति के इतना प्रतिकूल हो। यह सम्भव है कि मनुष्य अत्यन्त बर्बर हो जाए किन्तु फिर भी वह रहता मनुष्य ही है। यदि हम यह कहें कि मनुष्य पहले भी अनेक विभिन्न योनियों में से होकर मनुष्य-योनि में

१. हिन्दू शास्त्रों में पशु-योनियों में पुनर्जन्म की बात कही गई है (देखिए छान्दोग्य उपनिषद् ५-१०-७ और मनुस्मृति १२-९ आदि)। प्लेटो के 'रिपब्लिक' में मनुष्यों के पशु-रूप में जन्म लेने का उल्लेख मिलता है। एम्पाडोक्लीज का विश्वास था कि आत्माएँ पशु या वृक्ष-योनि में जन्म लेती हैं।

आया है तो उसका उत्तर यह है कि उसका यह पूर्व-योनियों का इतिहास अत्यन्त सुदीर्घ है और कितने ही अतीत युगों में व्याप्त है। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से यह कल्पना की जा सकती है कि जीवन की प्रक्रिया, जो अब मानव-योनि में पहुँची हुई है, इस ढंग से चले कि वह फिर पशु-योनि में लौट जाए और उसके बाद उसका विकास मानव की ओर न होकर सर्वथा भिन्न दिशा में हो या और भी निम्न कोटि के प्राणियों और पशुओं की योनि में वह गिरती चली जाए। किन्तु हमें इन काल्पनिक और निरी सैद्धान्तिक सम्भावनाओं में नहीं पड़ना। यद्यपि हम इस सम्भावना से सर्वथा इनकार नहीं कर सकते कि मानव मनुष्य-योनि से नीचे की ओर पशु-योनि में भी जा सकता है, तथापि यहाँ हमारा सम्बन्ध केवल एक ही योनि में होने वाले सामान्य परिवर्तनों से है। यह भी सम्भव है कि पशु-योनियों में जन्म की जो बात कही जाती है वह सिर्फ आलंकारिक वचन-मात्र हो और उसका अभिप्राय यह बताना है कि अमुक व्यक्ति में दूसरे जन्म में पशु-पक्षियों से मिलते-जुलते गुण होंगे।[1]

कर्म के सिद्धान्त के साथ-साथ आम लोगों के मन में न्याय का जो सिद्धान्त रहता है उसी से मानव के पशु-योनियों में जन्म की और पाप व पुण्य के फल के रूप में नरक और स्वर्ग की गलत कल्पनाएँ उदित हुई हैं। वास्तव में हिन्दू धर्म के विचार और दृष्टिकोण की ये सही कल्पनाएँ नहीं हैं। 'संसार' का सिद्धान्त *पुण्यात्माओं और पापात्माओं के 'स्थायी' निवास-स्थान के रूप में स्वर्ग और नरक* की कल्पना में मेल नहीं खाता।

मनुष्य में न्याय का जो सहज-वृत्तिक भाव रहता है वह कष्ट और दुःख का सम्बन्ध पाप और दुष्कृत्य के साथ जोड़ता है। ताप पाप की शक्ति की ही परछाईं है। काण्ट ने भी ईश्वर को एक ऐसे लेखा-जोखा करने वाले महान् वेतन-दाता के रूप में माना है जो काम के मुताबिक वेतन देता है। काण्ट की दृष्टि में यद्यपि धर्म या पुण्य-कार्य सर्वोच्च अच्छाई (सुप्रीमम बोनम) है, किन्तु वह पूर्ण अच्छाई (समम बोनम) नहीं है। पूर्ण अच्छाई में सुख भी शामिल है। किन्तु काण्ट की दृष्टि में यह ब्रह्माण्ड ऐसा है कि इसमें पूर्ण अच्छाई प्राप्त नहीं की जा

१. टेलर ने अपनी पुस्तक 'प्रिमिटिव कल्चर' में कहा है : 'पशु मनुष्य के सुपरिचित गुणों का ही मूर्तिमान रूप है। शेर, भालू, लोमड़ी, उल्लू, तोता, साँप और कीड़ा आदि नाम जब हम किसी व्यक्ति के साथ विशेषण के रूप में लगाते हैं तो वे एक शब्द में मानव जीवन के किसी मुख्य लक्षण या विशिष्टता के द्योतक होते हैं। (२.१७)

सकती। परन्तु वास्तव में यदि सामान्य जीवन को हमें काल्पनिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए व्यर्थ प्रयत्न कहकर तिरस्कृत नहीं करना है तो हमें यह मानना चाहिए कि पुण्य या धर्म को हर बुद्धियुक्त प्राणी प्राप्त कर सकता है और धर्म के साथ उसके समान अनुपात में सुख भी रहता है। किन्तु क्योंकि पूर्ण धर्म इस जीवन में प्राप्त नहीं किया गया है और अनुभव हमें यह बताता है कि धर्म के अनुपात में मनुष्य को सुख नहीं मिलता, इसलिए यह निश्चित है कि मनुष्य का जीवन अनन्त है और एक ऐसा ईश्वर भी है जो इस बात का ध्यान रखेगा कि अन्त में धर्म और सुख का ठीक-ठीक अनुपात में बँटवारा हो। काण्ट इस तर्क में यह मानकर चलता है कि नैतिकता में यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है कि धर्मात्मा लोगों को उनकी अच्छाई के अनुपात में सुख भी मिले। इस संसार की न्यायपूर्ण व्यवस्था में पुण्य का पुरस्कार सुख के रूप में और पाप का दण्ड दुःख के रूप में मिलना ही चाहिए। परम्परागत ईसाई सिद्धान्त में हमसे कहा जाता है कि 'हमें ईश्वर की इच्छा का पालन करने और अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए ही धर्म और पुण्य कार्य करना चाहिए।'[1] प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' में धर्मोपदेशकों का यह कहकर उपहास किया है कि वे मृत पुण्यात्माओं के बारे में यह कहते हैं कि 'वे स्वर्ग में धर्मात्मा लोगों के भोज में आराम से गद्दीदार कुर्सियों पर बैठते हैं, उनके गलों में मालाएँ पड़ी रहती हैं, वे अनन्त काल तक अपना नित्य जीवन सुरापान में व्यतीत करते हैं।' प्लेटो का कहना है कि 'इन धर्मोपदेशकों की नजर में पुण्य और धर्म का पूर्ण पुरस्कार यही है कि धर्मात्मा लोगों को खूब शराब पीने को मिले।'[2] अनेक धर्मों में हम यह देखते हैं कि उनमें विश्व के नैतिक शासन को अच्छे या बुरे कामों का समुचित फल समझ लिया जाता है। इसलिए यह आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दू धर्म में इस जीवन में किये गए कामों के लिए मृत्यु के बाद उचित पुरस्कार या दण्ड की कल्पना की गई और इसने अनेक विकृत और सन्दिग्ध रूप धारण कर लिए। किन्तु हिन्दू विचारक, जो

१. पैली : प्रिंसिपल्स ऑफ मॉरल एण्ड पोलिटिकल फिलासफी (१७८५), भाग १, अध्याय ७।

२. (३६३)। स्पिनोज़ा उन लोगों की कड़ी आलोचना करता है 'जो यह आशा करते हैं कि ईश्वर उन्हें उनके पुण्य और उत्तम कार्यों के लिए ऊँचे पुरस्कार देगा, जैसे किसी मनुष्य को उसका स्वामी अपनी पूरी तरह गुलामी करने पर देता है। मानो ये लोग समझते हैं कि ईश्वर की सेवा करना अपने-आपमें एक सुख और पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं है।' (एथिक्स २.४६ शि०। इसकी तुलना इसी पुस्तक के ५.४१ से भी कीजिये)।

कर्म के सिद्धान्त को मानते हैं, उसे ईश्वरेच्छा भी स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि मनुष्य में ईश्वर का वास है, और इसीलिए उसका नियम मनुष्य की प्रकृति का अंग है।[1] ईश्वर सर्वव्यापी पृष्ठभूमि है और इस पृष्ठभूमि पर ही विभिन्न सम्भावनाओं का प्रकटीकरण और अभिव्यक्ति होती है। किन्तु वह होती तभी है जबकि मनुष्य वैसा चाहता है।[2] स्वर्ग और नरक आत्मा की ही अवस्थाएँ हैं, कोई लोक नहीं हैं।[3] इसीलिए भयंकरतम नरक का भी एक दिन अवश्य अन्त होना है। यदि ईश्वर प्रेम का रूप है तो अनन्त काल तक नारकीय यातनाएँ भोगने की बात युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होती। पुण्य ही स्वर्ग है, आत्मा की आत्मपूर्णता एवं स्वस्थावस्था है और पाप नरक है, तथा आत्मा का दुःख रोग और, विकार है। अच्छाई स्वयं अपना पुरस्कार है और बुराई में स्वयं उसका दण्ड निहित रहता है। यह धर्म या पुण्य के व्यावहारिक औचित्य या लाभ का प्रश्न नहीं है।

प्रश्न यह है कि आत्मा को मृत्यु के बाद अपना नया घर कैसे मिलता है। *पुनर्जन्म की प्रक्रिया की कल्पना कर सकना यदि असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।* किन्तु सिर्फ इसलिए कि हम इस प्रक्रिया को समझते नहीं, हम तथ्यों से इन्कार नहीं कर सकते। हम जानते हैं कि मानसिक गुण और शक्तियाँ माता-पिता से बच्चों में हस्तान्तरित होती हैं, किन्तु हम यह नहीं जानते कि ऐसा कैसे होता है। हम यह मान सकते हैं कि माता-पिता नये शरीरों को जन्म देते हैं, किन्तु यह नहीं मान सकते कि वे नयी आत्माओं को पैदा करते हैं। इसके अलावा, यह भी माना जाता है कि आत्मा पूर्णतः अशरीरी नहीं है। जब वह स्थूल शरीर का त्याग करती है तो वह सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट हो जाती है।[4] इस प्रकार इस सूक्ष्म शरीर से उसे आवश्यक भौतिक आधार प्राप्त हो जाता है। यह लिंग शरीर या सूक्ष्म शरीर

१. रामानुज ने कहा है : जो मनुष्य पूर्णतः ईश्वर की ओर होकर काम करने के दृढ़ संकल्प से कार्य करता है, ईश्वर कृपाकर उसमें ऐसे कार्यों के लिए ही रुचि पैदा करता है जो उसकी मुक्ति के साधन होते हैं और परमोत्तम होते हैं। किन्तु जो मनुष्य पूर्णतः उसके विरुद्ध और विमुख होने के संकल्प के साथ काम करता है वह उसे दंड देने के लिए उसमें ऐसे कार्यों की रुचि पैदा करता है जो उसकी मुक्ति में बाधक होते हैं और उसे पतन की ओर ले जाते हैं।' (ब्रह्मसूत्र का रामानुजभाष्य २.१.३४)

२. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २.१.३४ देखिए।

३. विष्णुपुराण।

४. छान्दोग्य उपनिषद् ५.३.३; ५.६.१; बृहदारण्यक उपनिषद् ४.४.३ और ५.६.२.१४-१५ भगवद्गीता १५.७.८; ब्रह्मसूत्र ३.१. १-७

व्यक्ति के समस्त आनुभविक अस्तित्व में उसके साथ रहता है और वह एक ऐसा साँचा होता है जिस पर स्थूल शरीर आवरण के रूप में मढ़ा रहता है। यही सूक्ष्म शरीर नये जन्म के समय आधार के रूप में होता है और स्थूल शरीर के निर्माण के लिए भौतिक तत्त्वों को अपनी ओर आकृष्ट करता है। शारीरिक मृत्यु होने पर केवल बाह्य स्थूल आवरण का ही नाश होता है। आत्मा का शेष अंश वैसा-का-वैसा रहता है। पुनर्जन्म उस साधन का परिवर्तन-मात्र है जिसके द्वारा आत्मा क्रिया करती है। आत्मा हर जन्म के समय नयी-नयी सत्ता नहीं होती, बल्कि एक सतत प्रक्रिया होती है। भौतिक मृत्यु होने पर आत्मा एक स्थिति से दूसरी स्थिति में सक्रान्त होती है। 'जिस प्रकार मनुष्य एक खाई के किनारे पर लगे वृक्ष की डाली पर रस्सा बाँधकर और उसे पकड़कर झूलता हुआ खाई के पार पहुँच सकता है, उसी प्रकार मन (विज्ञान) भी मृत्यु के समय वस्तुओं के कारण-कार्य सम्बन्ध द्वारा एक जीवन से दूसरे जीवन में संक्रान्त होता जाता है।'[1] भौतिक गुरुत्वाकर्षण की भाँति एक मानसिक गुरुत्वाकर्षण-जैसी चीज भी होती है जिसने आत्माएँ अपना एक नियत स्तर अर्थात् अपना उचित परिवेश प्राप्त करती है। जन्म सूक्ष्म मन का शरीर धारण करना है, जबकि मृत्यु उसका शरीर त्याग करना। जो मशीनरी हम इस्तेमाल करते हैं, वह जब बेकार हो जाती है तो हम उसे रद्दी में फेंक देते हैं और उसकी जगह नयी मशीनरी स्थापित कर देते हैं। सन्त पॉल ने यही बात आलंकारिक भाषा में कही थी कि 'हर बीज को अपना शरीर दे दिया जाता है।'[2] हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में कहा जाता है कि मृत्यु के समय मनुष्य के मन में जो विचार होता है वह अगले जन्म के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। यह बात नहीं कि मृत्यु के समय के विचार विकास की अन्य पूर्ववर्ती मंजिलों के विचारों से अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं, बल्कि वे एक जन्म में हुए आत्म-विकास की प्रक्रिया की परिणति होते हैं। मृत्यु के समय जो विचार मनुष्य के मन में होता है उसमें पहले के सभी विचार और मानसिक अवस्थाएँ निहित होती हैं। वह अपने पूर्ववर्ती विचारों का सार, अपने अतीत का उत्तराधिकारी और उत्तर

१. विसुद्धिमग्ग, पृष्ठ ५४४ (पाली टैक्स्ट सोसाइटी, १९२०-१९२१)।
२. तुलना कीजिए : अंगुत्तरनिकाय १, पृष्ठ २२३। कर्म खेत है और चेतना बीज। इसी प्रकार और तुलना कीजिए : जॉन मैसफ़ील्ड ने अपनी 'ए क्रीड' शीर्षक कविता में कहा है : 'मेरा ख़याल है कि जब आदमी मरता है तो उसकी आत्मा फिर पृथ्वी पर लौट आती है।

जीवन का मूल बीज होता है।

पुनर्जन्म के समय प्राप्त शरीर के साथ आत्मा का मेल और आनुकूल्य होने की कठिनाई सिर्फ पुनर्जन्म के सिद्धान्त के साथ ही जुड़ी हुई नहीं है। जब तक हम यह स्वीकार नहीं करते कि आत्मा के चरित्र और लक्षणों का निर्माण शरीर में होता है, तब तक एक खास आत्मा का एक खास शरीर में सम्बन्ध एक समस्या बना रहेगा। आत्मा का किसी शरीर के साथ इतना गहरा सम्बन्ध क्यों हो जाता है कि उसका लक्षण उस शरीर के पूर्ववर्तियों के शरीर के लक्षणों से मिल जाता है। यदि हम यह मान लें कि माता-पिता नया शरीर पैदा करते समय नयी आत्मा को पैदा नहीं करते, और नयी आत्मा को ईश्वर पैदा करता है तो भी पुनर्जन्म का पक्ष इससे कमजोर नहीं होता। माता-पिता, उस दशा में नये जीवन के परिधान के लिए सामग्री जुटाते हैं।

कहा जाता है कि पुनर्जन्म का सिद्धान्त आनुवंशिकता के सिद्धान्त के साथ संगत नहीं है। बच्चा अपने माता-पिता की ही उपज प्रतीत होता है जिनके साथ उसका शरीर और मन दोनों मिलते हैं। यह मानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि वह पिछले किसी जीवन से इस नये जीवन में आया है। परन्तु यदि बच्चा वास्तव में ही माता-पिता की ही उपज है तो वंशागति का नियम सर्वव्यापी नियम होना चाहिए। और यह कठिनाई भौतिकवाद को छोड़कर हर सिद्धान्त के साथ लगी हुई है। यदि ईश्वर आत्मा का 'सृजन करता है,' तो कोई कारण नहीं कि वह अपने माता-पिता के सदृश हो। यदि यह माना जाए कि ईश्वर पहले आत्मा का चरित्र निर्धारित करता है और फिर उसके अनुकूल शारीरिक आधार के लिए माता-पिता का चुनाव करता है, तो यह सिद्धान्त को बहुत लम्बा खींचना होगा और उस पर और भी अनेक आपत्तियाँ उठायी जा सकेंगी। इसलिए यह मान लेना अधिक आसान और सरल है कि पुनर्जन्म की खोज करती हुई आत्मा ऐसे शरीर में प्रवेश कर जाती है जिसमें उसके लिए आवश्यक परिस्थितियाँ होती हैं। माता-पिता वंशागत के नियम के अनुसार जो भौतिक देह प्रदान करते हैं उसे आत्मा ग्रहण कर अपने अनुकूल बना लेती है। यदि यह सिद्धान्त स्वीकरणीय नहीं है तो दूसरा सिद्धान्त तो बिलकुल भी स्वीकरणीय नहीं हो सकता, जिसमें यह माना जाता है कि एक प्रकार का अतिप्रकृत तत्त्व उपयुक्त अवसर आने पर शरीर के ढाँचे में डाल दिया जाता है। आत्मा अपने लिए ऐसा शारीरिक ढाँचा चुन लेती है जो उसके अनुकूल होता है, जिस तरह हम ऐसा टोप चुनते हैं जो हमारे सिर पर

पूरा आ जाता है। हमारा पुनर्जन्म ऐसे परिवारो में होता है जिनमे हमारे वे गुण, जो हमारे भीतर है या जिन्हें हम पाना चाहते हैं, भली-भांति विकसित होते हैं। जिस प्रकार हैट का चुनाव सिर के घेरे पर निर्भर होता है, हैट के घेरे पर नहीं, उसी प्रकार पुनर्जन्म के समय माता-पिता का चुनाव चुनने वाली आत्मा के स्वरूप पर निर्भर होता है, माता-पिता पर नही। आत्मा अपने चारो ओर ऐसी शक्तियों को एकत्र कर लेती है जो उसके उचित-शरीर-धारण के लिए आवश्यक होती हैं। इसलिए यह स्वाभाविक है कि बच्चा अपने माता-पिता के सदृश हो।

वास्तव मे सब बच्चे अपने माता-पिता के समान नही होते। उनमें ऐसे गुण भी दिखाई देते हैं जो उनके पूर्वजों की एक लम्बी शृङ्खला मे कही नही पाए जाते। किन्तु इससे यह नही कहा जा सकता कि हो सकता है कि ये गुण और भी पीछे के किसी अतिदूरवर्ती पूर्वज में हो।

आत्मा और शरीर के सह-सम्बन्ध का दृष्टिकोण इस प्राक्कल्पना को द्योतित करता है कि मृत्यु के बाद का जीवन भी पार्थिव जीवन के सदृश होगा और उस पर भी परिवर्तन का सिद्धान्त लागू होगा। भावी जीवन कोई एक मूल्यहीन अस्तित्व नही है, बल्कि वह एक प्रक्रिया या शृंखला है जिसमे अनेक बार शरीर के जन्म और मृत्यु की घटनाएँ घटित होती हैं। जब तक आत्मा की अभिवृद्धि हो रही है तब तक समय-समय पर मृत्यु होना एक निश्चित तथ्य है। कैथोलिक ईसाई धर्म का परगेटरी (वह लोक जिसमे कुछ समय तक रहने मे आत्मा के पापो की परिशुद्धि हो जाती है) का सिद्धान्त यह बताता है कि जो लोग अभी तक स्वर्ग के अधिकारी नही हुए है वे इस लोक मे जाकर शुद्ध हो सकते हैं। परगेटरी का अर्थ कभी-कभी मृत्यु के बाद भी नैतिक उन्नति का जारी रहना समझा जाता है। धर्म-शास्त्रों मे स्वर्ग और नरक की जो कल्पनाएँ की गई हैं उनसे यह ध्वनित होता है कि इस जीवन के बाद एक ऐसा जीवन होता है जो मृत्यु से रहित और अनन्त होता है। यदि स्वर्ग का अर्थ एक ऐसी स्थिति है जिसमे आत्मा अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेती है और जिसमे सुधार या उन्नति की कोई गुञ्जायश नही है, तो हममे से महान्-से-महान् व्यक्ति भी स्वर्ग मे प्रवेश के अधिकारी नहीं है। जिस तरह हममे से श्रेष्ठतम व्यक्ति भी एकाएक स्वर्ग की धन्यता प्राप्त करने के अधिकारी नही है, उसी तरह हममे से नीचतम व्यक्ति भी इतने नीच नही हैं कि वे अनन्त नरक मे डाल दिए जाएँ। मृत्यु के बाद स्वर्ग या नरक की अनन्त अवस्थाएँ असम्भव हैं। हमारे वर्तमान शरीरों के बाद भी क्रमिक सुधार की प्रक्रिया

जारी रहनी चाहिए और यह कल्पना करना तर्क-विरुद्ध नही है कि इस जीवन के बाद ऐसे ही अन्य जीवन आते है और हर जीवन को मृत्यु और पुनर्जन्म अपने पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती जीवनो मे अलग करते हैं। यद्यपि यह कल्पना हम कर सकते हैं *कि मृत्यु के बाद का जीवन इतना अनिश्चितकालीन और लम्बा होगा कि इस* जीवन मे जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई है वह अगले जीवन मे भी जारी रहेगी, किन्तु यह सम्भव नही है कि इस जीवन के अनुभवों मे अगले जीवन मे इतना अधिक परिवर्तन हो जाएगा। जो भी हो, हमे यह मानना ही पड़ेगा कि यदि हम नरक में प्रवेश करते हैं तो नरक की स्थिति का एक दिन अन्त अवश्य होगा, बशर्ते कि ईश्वर शैतान न बन जाना चाहता हो। हममे से कोई भी इतना पतित और दिव्यता एव ईश्वर के स्पर्श से इतना शून्य नही है कि वह अनन्त काल के लिए नरक मे भेज जाने योग्य हो। यह हो सकता है कि हम पूर्णता की स्थिति के साथ मृत्यु की सगति न माने, किन्तु अपूर्ण की मृत्यु हो जाना तो सर्वथा सगत है। मृत्यु के बाद दूसरा जीवन हमारे वर्तमान अस्तित्व के साथ सतत रूप से जुड़ा हुआ है।

विलियम जेम्स ने 'अमरता' के सम्बन्ध मे अपनी एक व्याख्या में कहा है कि यदि हम मृत्यु के बाद भी भावी जीवन की कल्पना को सही माने तो इस जीवन के उस पार भारी भीड़ हो जाएगी और सब लोगों के लिए वहाँ स्थान का प्रबन्ध करना एक बड़ी समस्या हो जाएगी। 'इतनी विशाल सख्या को, जिसमे नित्य वृद्धि हो रही है, अनन्तकाल तक वहाँ सुरक्षित रखने की कल्पना से स्वर्गलोक और अनन्त देश एव काल भी हक्के-बक्के रह जाएँगे।'[1] यदि नयी-नयी आत्माएँ सतत् रूप से पहुँचती रहे और उनकी मृत्यु कभी होती न हो तो वास्तव मे ही कठिन स्थिति पैदा हो जाएगी। जो लोग इस आपत्ति को सचमुच गम्भीरता से लेते है, उन्हे भी तसल्ली और निश्चिन्तता हो जाएगी, यदि यह मान लिया जाए कि भावी जीवन मे भी पुनर्जन्म और पुनर्मृत्यु का चक्र चलता रहता है।

एक ऐसा सिद्धान्त सहज मे स्वीकार नही किया जा सकता, जिसमे आत्मा का अतीत कोई न हो और भविष्य ही हो। यदि शरीर का जन्म आत्मा को पैदा करता है तो उसकी मृत्यु उसे नष्ट करती है। टर्टलियन का, जो यह मानता है कि 'यदि आत्मा शरीर नही है तो वह कुछ नही है', विश्वास है कि आत्मा शरीर के साथ ही मर जाती है और फिर दोनो एक चमत्कार से पुनः उठ जाते हैं। यदि हम चमत्कारों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं तो फिर यह मानने का कोई

१. पृ० ३६। मैकटैगर्ट की 'ऐपीयरेन्स एण्ड रियेलिटी', पृ० ५०२ भी देखिए।

कारण नहीं कि एक उत्पन्न की गई आत्मा अनन्त काल तक बनी रहेगी। यदि आत्मा का आदि है तो अन्त भी होना चाहिए। यह स्वीकार करना कठिन है कि एक आत्मा, जो काल के एक निश्चित पल में उत्पन्न हुई है, एक ऐसी रस्सी की तरह, जिसका एक ही सिरा हो, भविष्य में अमर और अनन्त हो। यह तर्क भी दिया जाता है कि मानवीय आत्माएँ जब एक बार उत्पन्न हो जाती हैं तो उनका अपने-आपमें ही मूल्य नहीं होता, बल्कि ब्रह्माण्ड के लिए भी उनका मूल्य होता है। उनका विनाश ब्रह्माण्ड की अच्छाई के साथ सगत नहीं है। किन्तु अच्छाई का अर्थ 'बुराई' का आत्यन्तिक अभाव नहीं है। क्योंकि यदि अच्छाई का अर्थ बुराई का अत्यन्ताभाव हो तो जीवन के साथ जो दुःख और दैन्य आते हैं वे निरर्थक हो जाएँगे और ये निष्कारण और निरर्थक दुःख-दैन्य जीवन को अस्पृहणीय बना देंगे। किन्तु यदि अच्छाई थोड़ी-बहुत बुराई के साथ रह सकती है और उसमें कोई असगति नहीं है तो ब्रह्माण्ड की अच्छाई के रहते हुए मानवीय आत्माओं का विनाश भी असगत नहीं होगा। डॉ० मैकटेगर्ट मानवीय आत्मा की नैसर्गिक अमरता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं।[१] यह दृष्टिकोण आत्मा के इस जन्म से पहले भी और बाद में भी अस्तित्व को स्वीकार करता है, हालांकि यह पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि इसे मानने का अर्थ यह होगा कि समस्त मानवीय प्रगति भ्रामक और मिथ्या हो जाएगी।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर एक आम आपत्ति यह उठाई जाती है कि यदि आत्मा का पुनर्जन्म होता है तो उसे अपने पिछले जन्म की स्मृति क्यों नहीं रहती? यदि मैं स्वय अपने अतीत का स्वामी नहीं हूँ और उससे लाभ नहीं उठा सकता तो भावी जीवन मेरे लिए अर्थहीन है। पूर्वजन्म की स्मृति के बिना व्यक्ति के पुनर्जन्म का अर्थ है, पिछले व्यक्ति का विनाश और उन्हीं लक्षणों वाले दूसरे व्यक्ति का जन्म। एक काल-क्रम में अटूट और अविच्छिन्न चेतन अनुभव ही भावी जीवन के लिए अर्थपूर्ण और मूल्यवान् हो सकता है।

यदि हम इस आपत्ति पर जरा ध्यान से विचार करें तो हम देखेंगे कि यह कोई गम्भीर आपत्ति नहीं है। यदि पुनर्जन्म का सिद्धान्त और सब दृष्टियों से मजबूत आधार पर टिका हुआ है तो केवल स्मृति का विनाश उसे डगमगा नहीं सकता। स्मृति विश्व में अच्छे-बुरे कर्मों के फल के सिद्धान्त के लिए तो आवश्यक है, परन्तु नैतिक सातत्य के लिए आवश्यक नहीं है। मृत्यु हमारे कर्मों की स्मृति

१. सम डॉगमाज ऑफ रिलिजन (१९०६)।

को नष्ट कर सकती है, उनके प्रभावों को नहीं। स्मृति का असातत्य आत्मा के सातत्य के दार्शनिक प्रश्न को किसी भी तरह प्रभावित नहीं कर सकता। हर व्यक्ति की प्रकृति उसके अतीत के अनुभवों के अनुसार ढाली जाती है। हर अवस्था अपने से पहले की अवस्था पर निर्भर करती है और भावी अवस्था को जन्म देती है। सिर्फ इस आधार पर कि हमें अपने जीवन के पहले समयों की या माता के शरीर (गर्भ) में अपने निवास की स्मृति नहीं है, हम उनसे इन्कार नहीं कर देते। स्वयं इस जीवन में भी हम बहुत सी बातें भूल जाते हैं।

स्मृति का प्रयोजन यह है कि हम अपने पिछले अनुभवों से सीखें और अधिक समझदार बनें तथा प्रयत्न करके अधिक धर्मात्मा बन जाएं। बुद्धिमत्ता और सद्गुण स्मृति के भण्डार में तथ्यों के जमा हो जाने से ही पैदा नहीं होते, उनके लिए मन और इच्छा-शक्ति को प्रशिक्षित करने की भी आवश्यकता होती है। हो सकता है कि जिन तथ्यों का हमने ज्ञान प्राप्त किया है और जो काम हमने किये हैं उनकी स्मृति नष्ट हो जाए, परन्तु सम्कारित मन और सम्कारित इच्छा फिर भी कायम रहते हैं। जो कुछ हमने सीखा है उसके भूल जाने पर भी उसके सम्कार बने रहते हैं और जो कुछ कर्म हमने किये हैं उनकी स्मृति न रहने पर भी उनसे बना चरित्र कायम रहता है। महत्त्व अनुभव का है, हम क्या करते हैं इसका नहीं, बल्कि कैसे करते हैं, इसका है। हमने जो ज्ञान या सम्पदा प्राप्त की है, सम्भव है वह हमारे पास न रहे, किन्तु उसे प्राप्त न करने के लिए जो हमने धैर्य और सावधानता अपने भीतर विकसित की है, वह हममें बनी रहेगी। महत्त्वाकांक्षी स्वार्थसिद्धि में बरबाद किये गए समय की अपेक्षा निष्क्रियता या तपस्या में व्यतीत किया गया समय अधिक उपयोगी और लाभप्रद है। उपनिषद् में कहा गया है कि 'जब आत्मा शरीर का त्याग करती है तब उसका ज्ञान, कर्म और उसकी पूर्व प्रज्ञा उसके साथ जाते हैं।'[1] हेगेल का भी कहना है कि 'मृत्यु के समय हम अपने में ही अव्यवहित हो जाते हैं।' हमारे समस्त पूर्वानुभव एकत्र होकर हमें एक मोड़ देते हैं, हमारे मन में एक अभिनिवेश पैदा करते हैं और इसे हम अगले जीवन में अपने साथ ले जाते हैं। दूसरे जन्म में वह हमारे साथ रहता है, हालांकि हम यह स्मरण नहीं कर पाते कि हमने इसे उपार्जित कैसे किया।

यदि वर्तमान जीवन अतीत की स्मृति के बिना भी महत्त्वपूर्ण है तो भावी जीवन भी सिर्फ इसीलिए क्यों कम महत्त्वपूर्ण होगा कि उसमें अतीत की स्मृति

१. बृहदारण्यक उपनिषद ४.४.२।

नहीं है। इसके अलावा, यदि हमारी पूर्वजन्म की स्मृति क्षीण न होती तो वह हमारे लिए सचमुच संकट का कारण बन जाती। अपने साथी मानवों के साथ हमारे सम्बन्ध पहले ही काफी उलझन-भरे हैं, पिछले जीवनों की स्मृतियों को जोड़कर उन्हें और अधिक उलझन-भरा बनाने की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त, हो सकता है कि अतीत हमारी आत्मा में विद्यमान हों, किन्तु चेतना में न हों। इस जीवन में भी जब हम अपने अतीत अनुभवों को भूल जाते हैं तो वे हमारे मन में अपने कुछ चिह्न छोड़ जाते हैं। चेतना सिर्फ उन्हीं मानसिक प्रक्रियाओं तक सीमित है जिनको कर्ता (ज्ञाता) सामान्य अन्तरीक्षण में जान सकता है। 'अचेतन' मन में संसार के साथ हमारे वे सम्बन्ध शामिल हैं जिनकी ज्ञाता को सामान्यतः चेतना नहीं होती। फिर भी व्यक्ति केवल चेतना से ही नहीं जीता, बल्कि अपने समग्र मन से जीता है, जिसकी अन्तर्वस्तु तक कभी-कभी व्यक्ति अपने अन्तरीक्षण से पहुँच जाता है। 'मेनो' में बताया गया है कि किस प्रकार सुकरात ने एक गुलाम लड़के से उपयुक्त प्रश्न पूछ-पूछकर एक रेखागणित का सिद्धान्त निकलवा लिया जिसका उस लड़के को पहले कोई चेतन ज्ञान नहीं था।[1] भारत में प्राचीन काल से यह परम्परागत मान्यता चली आ रही है कि मनुष्य 'धर्म-ग्रन्थों के नियमित अध्ययन, आत्मशुद्धि, संयम और समस्त जीवों के प्रति प्रेम से'[2] अपने प्राक्तन जन्मों को स्मरण कर सकता है।

भावी जीवन बहुत सी अन्य शर्तों पर भी निर्भर है, क्योंकि आत्मा ब्रह्माण्ड की स्थिति को भी अभिव्यक्त करती है। यह स्पष्ट है कि पुनर्जन्म एक ऐसी नित्य आवर्तमान घटना नहीं है जो किसी अर्थ और उद्देश्य की ओर न ले जाती हो, बल्कि वह एक सार्थक गति है। यह एक ऐसी स्थिति को पुनः अनावृत करना नहीं है, जिसमें हम विद्यमान हैं या हमेशा विद्यमान थे। यह अब मानव-जगत् के एक अत्यन्त निम्न-स्तर से प्रारम्भ करके आत्मा का एक व्यक्तित्व और चरित्र में अभिवृद्धि और विकसित होना है। यह सिद्धान्त यह स्वीकार करता है कि आत्मा ने जो मूल्य और चरित्र उपार्जित किये थे वे मन और उद्देश्य के रूप में, जो मृत्यु के बीच में से गुज़रते हुए भी हमारे साथ विद्यमान रहते हैं, सुरक्षित रहते हैं। हमारा भविष्य इस बात पर निर्भर है कि हम इस उत्पादन-सामग्री (मन

१. मनुस्मृति ४ १४८। डॉ० बेसेन्ट का कहना है कि स्पेनिश इन्क्विज़िटर (नास्तिकों का दमन करने वाले, धार्मिक न्यायाधीश) दूसरे जन्म में हमेशा विकलांग पैदा होते थे। उन्होंने यह नहीं बताया कि यह बात उन्हें कहाँ से ज्ञात हुई।

और उद्देश्य) का किस प्रकार उपयोग करते हैं और यह उपयोग हम अपनी स्वतंत्र इच्छा से चुनते हैं।

मानवीय आत्मा परमाणु, वनस्पति और जीव-जन्तुओं से भिन्न किस्म की यथार्थ सत्ता है। *यह एक अधिक सम्मिश्र सरचना है जिसकी एक अपनी अलग* विशिष्ट प्रकृति है। यह अपने परिवेश के साथ अधिक आन्तरिकता और घनिष्ठता से बँधी होती है। इसकी दो विशेषताएँ हैं—एक अतीत (कर्म) के साथ सातत्य और दूसरी भविष्य (मुक्ति) की ओर सृजनात्मक प्रगति। यह भी अन्य जीवों की भाँति अपूर्ण है और निरन्तर पूर्णता के लिए आगे की ओर गति करनी है। बुद्धि-युक्त प्राणियों या उनके विशिष्ट लक्षणों के मूल उद्गम की कोई वैज्ञानिक व्याख्या उपलब्ध नहीं है।

१०. विश्वव्यापी आत्मा :

प्राणि-जगत् में पाई जाने वाली चेतना (प्रत्यक्ष ज्ञान और क्रिया) और मानव-जगत् में पाई जाने वाली आत्म-चेतना (बुद्धि और इच्छा) के अतिरिक्त एक आध्यात्मिक चेतना या अधि-चेतना भी होती है जो अनुभव का एक ऐसा ऊँचा स्तर है जिसमें यथार्थ सत्ता के नये पहलू अपने-आपको अभिव्यक्त करते हैं। चेतना में प्राणी और उसके परिवेश के बीच मानसिक एकता होती है, आत्मचेतना में यह एकता बौद्धिक होती है और आध्यात्मिक चेतना में वह आध्यात्मिक एकता होती है। आध्यात्मिक स्तर पर व्यक्ति को आत्मा के द्रव्य का भान बौद्धिक सज्ञान के विषय के रूप में नहीं, *बल्कि एक ऐसी अनुभूति के रूप में होता है जिसमें ज्ञाता* स्वय ज्ञेय हो जाता है, जिसमें कालहीन और देशहीन अपने-आपको समस्त अनुभव के आधार और उसकी यथार्थता के रूप में जानता है। आत्मा को छोड़कर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिसे हम अपने अनुभव या ज्ञान में निर्विशेष कह सकें। आत्मा के भीतर कोई अन्य वस्तु नहीं है जो उसे विभाजित कर सके और उसके बाहर भी कुछ नहीं है जो उसे सीमित कर सके। केवल वही हमारी समस्त आकाक्षा और समस्त बुद्धि को तृप्त कर सकती है। ससार में जो-कुछ है वही है; समस्त मूल्य और समस्त सत्ता सब वही है।

हममें से बहुत-से लोग ऐसे होंगे जिनकी अभिवृत्ति रहस्यवादी नहीं होगी और उन्हें रहस्यमय आध्यात्मिक अनुभवों में दिलचस्पी नहीं होगी। किन्तु इससे *यह नहीं कहा जा सकता कि हमारे मन जिसे ग्रहण नहीं कर सकते वह सर्वथा*

अचिन्तनीय है और जिस चीज़ में हमारी दिलचस्पी नहीं है, वह वास्तविक नहीं है। कल्पना कीजिए कि हम आध्यात्मिक अनुभव की ओर से आँखें मूँद लेते हैं, किन्तु इतने से ही वह असत्य नहीं हो जाएगा। यह सम्भव है कि हम आइन्स्टाइन के सापेक्षतावाद के सिद्धान्त को पूरी कोशिश करके भी समझ न सकें, किन्तु हमारी चेतन अज्ञानता या ज्ञान की अक्षमता हमारा अविश्वास नहीं बननी चाहिए।

आत्म-चेतन मन में विश्वव्यापी आत्मा (परमात्मा) भी, जो कि आत्म-चेतन व्यक्ति से ऊँचा है, उपस्थित और सक्रिय रहता है, इसीलिए वह (आत्म-चेतन मन) किसी भी ससीम आकार से, जिसकी वह कल्पना कर सकता है, सन्तुष्ट नहीं होता। जब आत्म-चेतना अपने-आपको सान्त और ससीम के रूप में जानती है, तब ज्ञाता आत्मचेतन आत्मा से कुछ बड़ी चीज़ होती है और वह अपने से एक छोटी चीज़ को उसके समग्र रूप में जानती है। विश्वव्यापी आत्मा की यथार्थता कोई अनालोचित अन्तर्ज्ञान नहीं है और न वह दर्शन-शास्त्र का स्वतःसिद्ध स्वीकृत तथ्य है, बल्कि वह हमारे दैनिक जीवन में स्पष्ट रूप से अन्तर्निहित तथ्य है। मनुष्य के अन्तर में हम एक अतिमानव बनने की गुप्त प्रवृत्ति को सक्रिय देखते हैं। मनुष्य की नियति इस गुप्त आकांक्षा को ही जीवन में अभिव्यक्त करना है। आत्मचेतन व्यक्ति के लिए धर्म का अर्थ मूल्यों में विश्वास है, किन्तु आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए धर्म का अर्थ उस परम सत्ता के साथ सम्पर्क है, जो समस्त मूल्यों का आधार और स्रोत है। जब तक मानवीय चेतना यथार्थ की प्राप्ति के मार्ग पर होती है तब तक परम सत्ता उसके लिए अपने से 'अन्य' होती है। प्लेटो के दूसरी दुनिया के 'प्रत्यय' की तरह वह हमसे दूर होती है और हमारी आँखों को वह दीवार पर पड़ी छाया की भाँति प्रतीत होती है। लेकिन जो व्यक्ति आध्यात्मिक स्तर तक पहुँच गया है, उसे वह इसी लोक की ओर अभी यहीं विद्यमान प्रतीत होती है। ज्ञानी और जागृत मानव अपने मन, जीवन, शरीर और ऐसी सभी अन्य वस्तुओं से, जो उसकी अपनी सच्ची सत्ता नहीं है, अपने-आपको खींच लेता है और नित्य विश्वव्यापी आत्मा के साथ, जो समस्त प्रपंचमय जगत् की आत्मा है, अपने-आपको एक समझता है। विश्वात्मा एक ऐसी चीज़ है जो तत्त्वतः और विशुद्ध रूप में आन्तरिक है, उसे अन्तर से ही जाना जा सकता है, और जब उसे जान लिया जाता है तब बाहर कुछ रहता ही नहीं, सब आत्ममय, ब्रह्ममय हो जाता है। धर्म की भाषा में कहा जाए तो विश्वात्मा ईश्वर है, वह अन्तिम यथार्थ

सत्ता है जो एक और सर्वसमावेशी है। आध्यात्मिक या ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति एक बिलकुल नयी जाति का मानव होता है जिसमें जीवन के नये गुण और नयी किस्म की झलक मिलती है। *उसका जीवन उतना ही व्यापक हो जाता है जितना कि यह जगत् है,* क्योंकि वह जानता है कि वही एक विश्वात्मा सब मनों, जीवनों और शरीरों में व्यापक है। अति मानव व्यक्ति, जिन्होंने जीवन को वशवर्ती कर लिया है, इस सत्य को चेतन रूप से जानते हैं और उस चेतना से ही कार्य करते हैं। वे मानव के नित्य स्वरूप के प्रतिनिधि हैं। वे ऐसी आत्माएँ हैं जिनका उद्धार हो गया है।

११. मुक्ति क्या है ? :

मुक्ति अतिजीविता से भिन्न है, संसार में मोक्ष है, सावधिक जीवन से नित्य जीवन की प्राप्ति है। मुक्ति और अतिजीविता का भेद दो स्तरों का—एक आत्मचेतन और दूसरा आध्यात्मिक—भेद है। जब तक आत्मा मानवीय *दृष्टिकोण से बँधी रहती है तब तक वह एक ऐसे ध्येय से आबद्ध रहती है जो* आत्मविरोधी है और इसीलिए प्राप्त नहीं किया जा सकता। तब वह केवल काल के भीतर अनिश्चित प्रगति के लिए प्रयत्न करती है, एक नियत अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए नहीं। काण्ट की दृष्टि में नैतिक स्तर ही सबसे ऊँचा स्तर है, इसलिए वह नैतिक जीवन को पूर्ण अच्छाई की प्राप्ति की दिशा में एक असीम प्रक्रिया मानता है। उसका मत है कि आत्मा यद्यपि निरन्तर लक्ष्य की ओर बढ़ रही है, किन्तु वह उसे प्राप्त नहीं कर सकती। आत्मा हमेशा वृद्धि और आत्म-विकास की अवस्था में रहती है। जैसे ही एक लक्ष्य प्राप्त हो जाता है, दूसरे लक्ष्य उसे अपनी ओर खींचते हैं और इस प्रकार यह असीम शृङ्खला चलती रहती है।

जो लोग नैतिक स्तर को, व्यक्तिगत नैतिकता को, काल के भीतर गति को ही सर्वोच्च लक्ष्य नहीं मानते, उनके लिए मानव की अतिजीविता आत्मा का अन्तिम भविष्य नहीं है, उसके बाद भी एक अन्तिम *लक्ष्य विद्यमान रहता है* जो प्रगति और प्रतिगति (ह्रास) की अवस्थाओं या महज काल में गति से परे है। हिन्दू विचारक अनन्त जीवन या जन्म-मरण के बन्धन में मोक्ष को यथार्थ स्वीकार करते हैं। यह मनुष्य की सत्ता की उच्चतम अवस्था होती है जिसमें व्यक्ति अपने-आपको समय और *जन्म-मरण से अतीत समझता है।* यह केवल भावी या अन्तहीन जीवन ही नहीं है, बल्कि सत्ता का एक नया प्रकार है, इसी

देश और काल में जीवन का एक सम्पूर्ण कायाकल्प है। पुनर्जन्म काल के अधीन है और जब तक हम वैयक्तिक सत्ता को स्वीकार करते हैं तब तक वह अनिवार्य है। यदि हम वैयक्तिकता से ऊपर उठ जाएँ तो हम काल के प्रपंचों से ऊपर उठ जाएंगे और पुनर्जन्म के चक्कर से छूट जाएंगे। जब हिन्दू विचारक हमें पुनर्जन्म के चक्र से मुक्ति पाने के लिए कहते हैं तब उनका अभिप्राय यह होता है कि हम निरे व्यक्तिवाद के दृष्टिकोण से ऊपर उठ जाएँ और एक अवैयक्तिक विश्वव्याप्ति प्राप्त कर लें। जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति पाने का अर्थ केवल नैतिक स्तर से ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्तर प्राप्त करना ही है। आध्यात्मिक स्तर नैतिक स्तर का ही विस्तार नहीं है; यह एक सर्वथा नया आयाम, नया स्तर है जिसका सम्बन्ध नित्य वस्तुओं से है। ईश्वर की उपासना करने वाले सन्त किसी विस्तीर्ण या व्यापक मानव की उपासना नहीं करते, उनका ईश्वर मानव से एक बिलकुल भिन्न सत्ता होता है। ब्रह्माण्ड के क्रम में विश्व-आत्मा एक बिलकुल नयी चीज है, वह मानव की ही नयी अभिव्यक्ति नहीं है।

हिन्दुओं के इस सिद्धान्त से मिलते-जुलते अनेक सिद्धान्त पश्चिम में भी है। ओफिक लोगों का कहना है कि समाधि की अवस्था में जीवात्मा ईश्वर के अन्दर लीन हो जाता है, व्यक्ति मानो अपनी सीमाओं से ऊपर उठकर विश्वव्यापी ईश्वर के साथ तदात्मा और तदाकार हो जाता है। डायोनीसस के सम्प्रदाय में सस्कारों और कर्मकाण्डों का मुख्य उद्देश्य पूजा और उपासना करने वाले व्यक्ति का ईश्वर में लीन हो जाना है। प्लेटो ने अपने 'सिम्पोजियम' में हमें एक ऐसे कालातीत अस्तित्व का सिद्धान्त दिया है जो काल और आकार से अनवच्छिन्न होकर यहीं और अभी प्राप्त किया जा सकता है। इस्लाम ने सन्तों के परम आनन्द की व्याख्या ईश्वर के साथ तादात्म्य के रूप में, एक ऐसी स्थिति के रूप में की है जिसे रहस्यवादी और दरवेश लोग इसी जीवन में प्राप्त कर लेना चाहते हैं। नव-प्लेटोवादी और स्पिनोजा तथा ईसाई धर्म के रहस्यवादियों ने भी यही दृष्टिकोण अपनाया है।

ब्रह्माण्ड का इतिहास अपने उस महानतम क्षण की ओर प्रगति कर रहा है जिसमें आध्यात्मिक जीवन की ओर प्रवृत्ति हर व्यक्ति में पैदा हो जाएगी, जब केवल नैतिकता से परम लक्ष्य की अप्राप्ति को अनुभव कर सब प्राणी अनन्त जीवन में हिस्सेदार हो जाएँगे, जब व्यक्ति की शक्तिशाली इच्छा विश्वव्यापी आत्मा के प्रति प्रेम के सम्मुख आत्मसमर्पण कर देगी। जिस प्रकार भौतिक वस्तु जीवन को

जन्म देती है और जीवन मन को, उसी प्रकार मनुष्य विश्वात्मा को अपने भीतर से उद्‌बुद्ध करेगा। यही मनुष्य का परम लक्ष्य है। हमारी तार्किक चेतना सत्य पर पहुँचने का यत्न करती है, किन्तु उसे कुछ सीमित सफलता ही मिलती है। हमारी नैतिक इच्छा भी अपने लक्ष्यों को आंशिक रूप में ही प्राप्त कर पाती है। अस्तित्व या जीवन के सुखों को भोगने की हमारी आकांक्षाएँ भी अंशतः ही सफल होती हैं। यदि हमारे अन्दर गहराई में विद्यमान आत्मा सत्य को उद्‌घाटित और अनावृत रूप में देखती है और सत्ता के आनन्द को मुक्त होकर उपभोग करती है, तब वही प्रकृति का मूल लक्ष्य है जो अन्त में प्राप्त और साकार होना चाहिए, चेतन मन वह लक्ष्य नहीं है। जिस प्रकार भौतिक वस्तु के भीतर जीवन निहित है, किन्तु वह उद्‌भूत तभी हो सकता है जबकि उसके लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा हो जाएँ, जिस प्रकार जीवन के भीतर मन निहित है किन्तु वह उसके उद्‌भूत होने के लिए अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करता है, उसी प्रकार मानवीय चेतना में भी परमात्म तत्त्व या अति-मन निहित है, किन्तु वह उद्‌बुद्ध और उद्‌भूत तभी होगा जबकि उसके लिए आवश्यक प्रयत्न और परिस्थितियाँ मौजूद होंगी। मानव-जीवन इस लक्ष्य के लिए तैयार किया जा रहा है और इस तैयारी में वह कभी आगे बढ़ता है, कभी पीछे खिसकता है, कभी आगे छलाँग लगाता है और कभी पीछे कदम हटाता है।

हिन्दू विचारकों का कहना है कि नैतिक व्यक्तिवाद से आध्यात्मिक विश्ववाद की ओर ज्ञान या अन्तर्बोध के मार्ग से जाया जा सकता है। नैतिकतावादी व्यक्तिवाद एक अपूर्ण दृष्टिकोण पर आधृत है, जो हमारी ससीमता की जड़ है। जब हम अपने-आपको शेष ब्रह्माण्ड से अलग व्यक्ति समझते हैं तो हम अपने-आपको उस रूप में देखते हैं, जिस रूप में हम वास्तव में नहीं हैं। यद्यपि बहुत्ववादी दृष्टिकोण वैयक्तिक आत्मा द्वारा निर्मित कल्पना नहीं है, बल्कि वह बढ़ते हुए विश्व का एक मध्यवर्ती दौर है, तथापि हमें इस दौर से ऊपर उठना है। इसीलिए आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञान की आवश्यकता और महत्त्व है।

मुक्ति की अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की गई हैं। कोई उसे ईश्वर के साथ तादात्म्य या आध्यात्मिक जगत् का सतत चिन्तन कहता है और कोई उसे मुक्तिदाता ईश्वर का साक्षात्कार या व्यक्तित्व (खुदी) का मिट जाना कहता है। किन्तु इन सब कल्पनाओं में असली प्रश्न यह है कि क्या आत्मा अपनी पृथक् वैयक्तिक सत्ता को कायम रखती है या उसे खो देती है। यह स्वीकार करते हुए

भी कि इस कठिन और परोक्ष विषय पर हमारे विचार की कुछ सीमाएँ हैं, हम कुछ सामान्य और कामचलाऊ विचार प्रस्तुत करते हैं जो शायद पूर्णतः आत्म-सगत न हों।

ईश्वरवादी या आस्तिकतावादी विचारक, चाहे वे पूर्व में हों या पश्चिम में, यह मानते हैं कि अपूर्ण आनुभविक अवस्था में ईश्वर के साथ जो ऐक्य क्षणिक, अस्थायी और कुछ अस्पष्ट होता है, पूर्णता की अवस्था में पहुँचकर वही सतत, स्थायी और स्पष्ट हो जाता है। उस अवस्था में संघर्ष और प्रगति का स्थान शान्ति और परम आनन्द ले लेते हैं, किन्तु वैयक्तिकता का विलोप नहीं होता। व्यक्ति का जीवन ऊपर उठकर परम आत्मा के प्रकाश और विभुत्व में प्रविष्ट हो जाता है। यह अनवरुद्ध ऊर्जा और क्रिया की स्थिति होती है, निष्क्रियता और गतिहीनता की नहीं। 'वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है, सब लोकों में उसका प्रवेश अप्रतिहत होता है।'[1]

आम तौर पर शंकराचार्य के बारे में यह माना जाता है कि वह मुक्ति के समय आत्मा के नित्य ब्रह्म में लीन हो जाने के विचार के पक्षपाती हैं। इस धारणा का कारण यह है कि शंकर ने बार-बार नित्यता का अर्थ काल से अन-वच्छिन्नता बताया है। यदि कालावच्छिन्नता (कालिकता) ससीम व्यक्तित्व का चिह्न है तो जो भी वस्तु कालातीत या काल से अनवच्छिन्न है वह अवैयक्तिक होगी। किन्तु हमें शंकर के ऐसे अनेक वाक्य मिलते हैं जिनमें उसने यह संकेत किया है कि मुक्त आत्मा यद्यपि मुक्ति के क्षण में ही ब्रह्म का विभुत्व प्राप्त कर लेती है तो भी वह कर्म के केन्द्र के रूप में उस समय तक अपनी पृथक् सत्ता भी बनाए रखती है जब तक कि ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया जारी रहती है।[2] व्यक्तित्व का विलोप उस समय होता है जब सारा विश्व मुक्त हो जाता है, जब उसमें रूपायित बहुपक्षी मूल्यों की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार विश्व आत्म-विनाश करके ही अपने चरम लक्ष्य को प्राप्त करता है। मुक्त आत्मा उस समय तक विश्व की प्रक्रिया में हिस्सा लेती रहती है, जब तक कि यह प्रक्रिया जारी रहती है और फिर-फिर उसमें जन्म लेती रहती है, किन्तु अपने लिए नहीं, विश्व के लिए। उसका सबके साथ सर्वात्म भाव यानी आत्मवत् भाव रहता है। वह विश्व की गति के

१. छान्दोग्य उपनिषद् ७.२५-२२।
२. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य ३.३.३२। 'इण्डियन फिलासफी' भाग २, दूसरा संस्करण (१९३१) पृष्ठ ६४२ भी देखिए।

साथ तादात्म्य स्थापित करती और उसके मार्ग का अनुसरण करती है। मुक्त जीवन सामान्य जीवन से भिन्न होता है, इसलिए मुक्त पुरुष शरीर की चिन्ता नहीं करता। मुक्त आत्माएँ मेघ की रेखा को स्पर्श करती हैं, उसके भीतर प्रवेश नहीं करतीं; वे प्रकाश में प्रवेश करती हैं, किन्तु ज्वाला का स्पर्श नहीं करतीं। व्यक्ति के भीतर संश्लिष्टता एवं संगति और बाह्य परिवेश के साथ सहस्वरता दोनों ही अन्तिम मुक्ति के लिए आवश्यक हैं। यदि हम अपने भीतर ऐक्य और सहस्वरता स्थापित कर ले, शरीर और आत्मा के संघर्ष पर विजय पा लें, तो हम मुक्ति के लिए एक आवश्यकता पूरी करते हैं। किन्तु परिवेश के साथ हमारा ऐक्य और सहस्वरता तब तक सम्पादित नहीं हो सकते, जब तक कि उसमें अन्य अमुक्त आत्माएँ विद्यमान हैं। हम तब तक सही अर्थों में मुक्त नहीं हो सकते जब तक कि हमारी अपनी प्रकृति के संघर्षरत तत्त्व और अन्य व्यक्तियों की प्रतिस्पर्धाएँ जीवन की एकता और आध्यात्मिक बन्धुत्व से पराभूत नहीं हो जातीं। अपूर्ण संसार में पूर्ण मुक्ति सम्भव नहीं है, इसीलिए जिन आत्माओं ने विश्वव्यापी परमात्मा की झाँकी पा ली है वे तब तक संसार में कार्य करती रहती हैं जब तक कि संसार में असत्य, अशिव और असुन्दर का पूर्णतः अन्त नहीं हो जाता। जिस व्यक्ति ने अपने अन्तर में एकत्व प्राप्त कर लिया है, वह दूसरों को भी उसकी प्राप्ति के लिए प्रेरणा देता है। एक तरह से यह कहा जा सकता है कि आदर्श व्यक्ति और पूर्ण समाज एक साथ ही पैदा होते हैं।

सभी व्यक्तियों को एक दिन अनन्त जीवन (मुक्ति) प्राप्त करनी है, क्योंकि, जैसा कि एक हिन्दू शास्त्र में कहा गया है, हम सब अमृत के पुत्र हैं। एक धार्मिक उपदेष्टा ने कहा है, 'हम सब अब ईश्वर के पुत्र हैं और हम नहीं जानते कि भविष्य में हम क्या हो जाएँगे।' जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है तब एक ब्रह्मलोक स्थापित हो जाता है जिसमें व्यक्ति ईश्वर के प्रणिधान से उस ईश्वर-जैसा ही हो जाता है, जिसे वह देखता है। यह एक ऐसा जीवन होता है जिसमें सब व्यक्ति एक मन के दूसरे मन में पूर्ण अनुप्रवेश से ऐक्य को प्राप्त करते हैं। प्लेटो के शब्दों में, मुक्ति का अर्थ है 'यथार्थ से पूर्ण हो जाना।' पूर्णता या आध्यात्मिक एकता की यह स्थिति ही विश्व का ध्येय है।

यद्यपि मुक्ति की उस अवस्था को हम तार्किक या बौद्धिक भाषा में व्यक्त नहीं कर सकते, तो भी यह स्पष्ट है कि यह पूर्ण सन्तोष और तृप्ति की अवस्था है। जैसा कि हम जानते हैं, जीवन पूर्ण समन्वय और समंजन के अभाव के कारण ही

चलता रहता है। जैसा कि हॉब्स ने कहा है, 'जिस व्यक्ति की इन्द्रियाँ और कल्पना निश्चेष्ट हो गई हैं, वह जैसे जीवित नहीं रह सकता, वैसे ही वह भी जीवित नहीं रह सकता जिसकी आकांक्षाओं का अन्त हो गया हो।'[१] जहाँ हर वस्तु निश्चल स्थिति में है, गतिमय स्थिति में नहीं है, जहाँ हर वस्तु अन्तिम रूप से बनकर विद्यमान है, घटित या निर्मित नहीं हो रही, वहाँ क्रिया की कल्पना नहीं की जा सकती। जब गति अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेती है तो जीवन एक चलता हुआ कारोबार नहीं होता। ऐतिहासिक प्रक्रिया का वहाँ अन्त हो जाता है और ऐतिहासिक सत्ता के रूप में व्यक्ति का अस्तित्व खत्म हो जाता है। हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि पूर्णता की इस स्थिति में क्रिया कैसे हो सकती है। गिलबर्ट के राजा गामा के दर्शन (फिलॉसफी) में हमारे लिए एक उपदेश है जिसमें उसने कहा है :

> ओह, तब दिन क्या उदासी भरे और लम्बे नहीं लगते
> जब सब-कुछ ठीक होता है और कुछ गलत नहीं होता;
> और क्या तुम्हारा जीवन बिलकुल नीरस नहीं है,
> क्योंकि उसमें शिकायत करने को कुछ भी नहीं है?

स्ट्रिण्डबर्ग के नाटक 'मास्टर ओलफ' में एक जगह जब स्वीडन के महान सुधारक को यह मालूम होता है कि उसका लक्ष्य उससे कहीं अधिक निकट है, जहाँ कि उसने उसकी कल्पना की थी, तो उसके मुँह से निकल पड़ता है, 'ओह, कितनी भयंकर बात है! अब और संघर्ष नहीं करना पड़ेगा? यह तो एकदम मौत है। तब मैं जो कुछ चाह रहा था वह विजय नहीं थी।' किसी ऐसी अवस्था की कल्पना करना, जिसमें सभी व्यक्ति पूर्ण हों और ईश्वर की कृपा का उपभोग करते हुए स्वर्ग का आनन्द ले रहे हों, कठिन है। एक अंग्रेजी कविता में स्वर्ग की कल्पना एक ऐसे स्थान के रूप में की गई है जिसमें प्रार्थना-सभाएँ कभी भंग नहीं होतीं और जहाँ प्रार्थना के लिए विश्राम-दिवसों का कभी अन्त नहीं होता।' हम सामान्य व्यक्तियों के लिए स्वर्ग और चाहे जैसा हो, धार्मिक पादरियों का स्वर्ग नहीं है। यदि हमें अन्त में अनन्त काल तक खाली बैठकर आराम ही करना हो तो ऐसी मुक्ति हमारे कुछ मतलब की नहीं। हम सभी जानते हैं कि शोतोका के 'सोडावाटर स्वर्ग' में पहुँचने के बाद जब विलियम जेम्स एक बार फिर अन्धकार और पाप से भरे स्वर्ग में लौटा तो उसके मुँह से हठात् निकला,

१. लेवियाथन, अध्याय XI, १।

आह, अब जान में जान आई! अब फिर एक बार कोई असम्भवतापूर्ण आदिम-युगीन काम करने की इच्छा होती है, चाहे वह आरमेनियन कत्लेआम-जैसा बुरा ही क्यों न हो, क्योंकि उससे इतने दिन के स्वर्गवास का हिसाब तो बराबर हो जाएगा।' अरस्तू ने कहा है, 'अनन्त अवधि न तो अच्छी वस्तु को और अधिक अच्छा बनाती है और न सफेद को और अधिक सफेद।'

इस कठिनाई से बचने के लिए कभी-कभी लोग यह दलील देते हैं कि ऐतिहासिक प्रक्रिया का अन्त कभी नहीं होगा। यह हो सकता है कि कुछ लोग जहां-तहां मुक्ति प्राप्त कर लें, किन्तु ऐसा कभी नहीं होगा कि सारा ब्रह्माण्ड ही मुक्त हो जाए। संसार अनादि है और अनन्त रहेगा। इसका अर्थ यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने अन्तर में और अपने बाह्य परिवेश के साथ ऐक्य और सहस्वरता प्राप्त नहीं कर सकता। पूर्णता कल्पना से परे की वस्तु है। हमारे भाग्य में पूर्णता को पाने के लिए प्रयत्न करना तो बदा है, किन्तु उसे प्राप्त हम अधिक-से-अधिक खंडों के रूप में ही कर सकते हैं। हमें हमेशा यही विचार मन में रखना है कि हम अनन्त-काल तक प्रयत्न करते रहेंगे। किन्तु इस दृष्टिकोण और दलील में हम मनुष्य और प्रकृति के, मूल्यों और यथार्थ के घनिष्ठ सम्बन्धों की उपेक्षा कर देते हैं। यह नहीं हो सकता कि हम अनन्त काल तक चलते ही जाएं। कहीं-न-कहीं हमारे सफर का अन्त होना ही चाहिए और हमें अपनी मंजिल पर पहुँचना भी चाहिए। कोई राग अनन्त काल तक नहीं चलता रह सकता, उसकी कहीं समाप्ति भी होनी चाहिए। एक समय ऐसा अवश्य होना चाहिए जबकि समस्त व्यक्ति ईश्वर के पुत्र बन जाएं और अमरत्व प्राप्त कर सकें। जब सारा संसार मुक्त हो जाएगा तो इस विश्व-योजना का अन्त हो जाएगा। तब न पृथ्वी रहेगी और न आकाश। तब देश और काल से अतीत विभु-विश्वात्मा ही रह जाएगा।

प्रोफेसर ए० ई० टेलर का विचार है कि मुक्ति की अवस्था में 'एक अत्यन्त वास्तविक और गहन-नैतिक जीवन' की बहुत गुन्जाइश है। 'स्वयं स्वर्ग में भी पूर्णता में प्रगति हो सकती है, भले ही वहाँ पूर्णता की ओर प्रगति न हो। "वहाँ" का जीवन "यहाँ" के जीवन से भिन्न होगा। वहाँ व्यक्ति विश्वास और आशा से नहीं, बल्कि दृष्टि या कल्पना से पोषण प्राप्त करेगा। किन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि वह दृष्टि या कल्पना अपने-आपमें अधिकाधिक समृद्ध होती जाए?' प्रोफेसर टेलर का विश्वास है कि यदि मुक्त व्यक्ति वास्तव में ही 'धन्य' दृष्टि का आनन्दोपभोग कर सकते हों तो भी यह सम्भव है कि कुछ लोग 'दूसरों

अपेक्षा इस दृष्टि के अनन्त और अक्षय-भण्डार को अधिक प्राप्त कर सकें'[1] और हरेक को उसकी क्षमता के अनुसार उसकी उपलब्धि हो। किन्तु यथार्थ के अमूर्त बोध और व्यक्ति के मूर्त जीवन में उसकी पूर्ण उपलब्धि, दोनों के बीच में बहुत बड़ी दूरी है और उस दूरी को वर्षों की कठोर यात्रा के बाद ही पूरा किया जा सकता है। जब तक यह पूर्ण उपलब्धि नहीं हो जाती तब तक व्यक्ति मुक्त नहीं होता। जो लोग अधिक देख पाते हैं, वे क्योंकि कम देख पाने वालों की सेवा करेंगे, इसलिए सेवा का यह तथ्य व्यक्ति में साहसिकता और उद्यम की भावना पैदा करेगा। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य उस समय तक मुक्त होता भी है जब तक कि उसे ईश्वर का पूर्ण साक्षात्कार न हो जाए। यदि ईश्वर की असीमता के कारण हमारे लिए उसकी पूरी झाँकी पा सकना सम्भव ही नहीं है तो इसका अर्थ यह है कि हम सच्चे अर्थों में मुक्त होते ही नहीं हैं। उस दशा में मुक्ति भी एक आदर्श लक्ष्य तक पहुँचने के प्रयत्न की एक अन्तहीन प्रक्रिया हो जाती है और हम उस तक पहुँच कभी भी नहीं सकते। 'पूर्णता में प्रगति' वास्तव में अपने-आपमें एक समस्या या साध्य है, वह समाधान या साध्य को सिद्ध करने वाला साधन नहीं है। वास्तव में इसमें पूर्ण प्रगति और अनन्त प्रक्रिया के बीच समन्वय नहीं होता। पूर्णता उस आयाम (डाइमेन्शन) की चीज हो नहीं है जिस पर नैतिकता रहती है, यह अवश्य हो सकता है कि वह अपने-आपको नैतिक स्तर पर भी अभिव्यक्त करे। अपरिवर्तनीय का अनुभव हमें परिवर्तनशील जगत् की ओर ले अवश्य जा सकता है, किन्तु दोनों बराबर नहीं है।

यह तर्क दिया जा सकता है कि जिसने यह विश्व रचा है उसके लिए यह बिलकुल निरर्थक और बेकार का काम होगा कि वह व्यक्तिगत आत्माओं को पैदा करे, उनकी शिक्षा में असीम परिश्रम व्यय करे और अन्त में उन्हें विखण्डित कर खत्म कर दे। क्या मनुष्य की आत्मा को पूर्णता तक इसीलिए पहुँचाना है कि वहाँ पहुँचने पर उसे तोड-फोडकर फेंक दिया जाए? क्या आध्यात्मिक अग्नि इसलिए जलाई जाती है कि अन्त में वह राख में परिणत हो जाए? हमें यह मानने की जरूरत नहीं है कि यह ब्रह्माण्ड-प्रक्रिया अपने-आपमें ही एक उद्देश्य है। जब इसका अन्त आ जाएगा, जब इसका नाटक समाप्त हो जाएगा, तब परदा गिरेगा और सम्भव है कि उसके बाद नया नाटक प्रारम्भ हो जाए।

इस प्रकार हमने विभिन्न सम्भावनाओं पर संक्षेप में विचार किया है।

१. दि फेथ आफ ए मॉरलिस्ट (१६३१), १. पृष्ठ ४०७-४०८।

यह नहीं हो सकता कि कुछ व्यक्ति हमेशा बन्धन में पड़े रहें और कभी मुक्त न हों। यदि सभी व्यक्ति मुक्त हो जाएँ तो वे स्वर्ग में निठल्ले नहीं बैठे रह सकते कि उनके पास ईश्वर-भजन के सिवाय और कोई काम न हो। जब तक कुछ आत्माएँ अमुक्त हैं तब तक शेष मुक्त आत्माओं के पास काम रहेगा और तब तक उनकी पृथक् वैयक्तिकता भी बनी रहेगी। किन्तु जब सारा विश्व ही मुक्त हो जाएगा, जब सभी व्यक्ति मुक्त हो जाएँगे और कुछ काम करने को शेष नहीं रहेगा तब यह काल-प्रक्रिया समाप्त हो जाएगी। विज्ञान की इन खौफनाक भविष्यवाणियों से एक दिन विश्व का अन्त हो जाएगा, हमें डरने की जरूरत नहीं है। यह संसार 'सीमाओं में बँधा हुआ' होने पर भी 'अनन्त' है। काल का अन्त जब होगा तब उसका अर्थ होगा कि मानव-जगत् पूर्णता को पहुँच गया है, जहाँ कि पृथ्वी आत्म-ज्ञान से परिपूर्ण होगी। देश और काल में जिस हद तक सम्भव है उस हद तक ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया पूरी हो जाएगी।

अनुभव के स्वरूप का वैज्ञानिक वर्णन हमें आहिस्ता-आहिस्ता भौतिक वस्तु, जीवन, मन और बुद्धि की दुनिया से बाहर एक ऐसी विश्वात्मा की ओर ले जाता है जो बुद्धि के समस्त वर्णनों से परे है, जो अपने-आपको परम आत्मा, व्यक्तिगत आत्मा, परम यथार्थ सत्ता और ब्रह्माण्ड के रूप में अभिव्यक्त करती है। वहाँ पहुँचकर हमारी खोज का अन्त हो जाता है। मानवीय विचार उससे आगे नहीं जा सकता।

ब्रह्माण्ड की अपरिमेयताएँ हमें निराश नहीं करतीं। भौतिक दृष्टि से देखा जाए तो हम विश्व में उठती हुई आँधी में धूल के एक कण से अधिक बड़े नहीं हैं और मानसिक दृष्टि से देखा जाए तो भी हमारे विचार और इरादे इस या उस जीव तक ही सीमित हैं, परन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो हम सब-कुछ हैं। देश और काल के अपरिमेय विस्तार, जीवों की इतनी विशाल विविधता, विज्ञान और कला के क्षेत्र में की गई महान् सफलताएँ, ये सब हमारे भीतर ही हैं, बाहर नहीं। ये सब हमारी लाभकारी सृष्टियाँ हैं, हालांकि वे अमूर्त हैं और उस हद तक अवास्तविक भी। देश और काल परमात्मा के स्वरूप में विद्यमान हैं और समस्त अनुभव, व्यक्ति और वस्तुओं का भी उसमें समावेश है। भौतिक वस्तु, जीवन और चेतना आदर्श कृतियाँ हैं, किन्तु जब वे हमारे व्यवहार में आती हैं तब वे अंशात्मक रूप में होती हैं, यथार्थ रूप में नहीं होतीं। हमें ब्रह्माण्ड को बहुत सी परस्पर विरुद्ध यथार्थ वस्तुओं—जीवन, भौतिक वस्तु, चेतना और विचार—में

बाँटने की जरूरत नहीं है। वास्तव में ये सब अलग-अलग यथार्थ वस्तुएँ नहीं हैं, बल्कि अनुभव की ही विभिन्न श्रेणियाँ है। ब्रह्माण्ड का सत्य कोई गणितीय समीकरण या गतिविज्ञानीय प्रणाली या जीव-विज्ञान का समजन या मनोवैज्ञानिक बहुत्ववाद अथवा नैतिक व्यक्तिवाद नहीं है, बल्कि वह आध्यात्मिक ऐक्य है। जितना हम नीचे उतरते जाएँ, उतना ही हमारा ज्ञान अधिक स्पष्ट होता जाता है। हमारा गणित का ज्ञान एक बन्द ऊर्जा-प्रणाली के रूप मे विश्व के हमारे ज्ञान से अधिक स्पष्ट हो सकता है और ऊर्जा-प्रणाली का हमारा ज्ञान भी जीवन के परिवेश और इन्द्रियगम्य वस्तु के रूप मे विश्व के हमारे ज्ञान से स्पष्टतर हो सकता है। अपने निज के सम्बन्ध में हमारा यह ज्ञान कि हम नैतिक जीव हैं, विश्व के सम्बन्ध मे हमारे इस ज्ञान की अपेक्षा कि वह आत्मस्वरूप है, अधिक स्पष्ट हो सकता है, परन्तु विश्व का यह रहस्यमय, अस्पष्ट और अकृत्रिम ज्ञान ही हमें यथार्थ के निकटतम ले जाता है।

८. अन्तिम यथार्थ सत्ता

१. हमारी दुनिया :

हमने देखा है कि संसार में कुछ सर्वव्यापी लक्षण है। पहला यह कि यह संसार एक सुव्यवस्थित क्रमबद्ध अखण्ड सत्ता है। परमाणु के भीतर होने वाले परिवर्तनों से प्रारम्भ कर इतिहास की गतियों तक हमें एक अविच्छिन्न सातत्य, एक पूर्ण एकता दिखाई देती है। प्रकृति का यह संस्थान एक विशाल ब्रह्माण्ड-संस्थान है, अत्यन्त घनिष्ठता और आन्तरिकता के साथ अन्योन्याश्रित सम्बन्धों की एक प्रणाली है। यह सुव्यवस्थितता और क्रमबद्धता अपने-आपको सत्ता के अधिगत स्तर के अनुसार नियत निर्धारितता के विभिन्न रूपों में प्रकट करती है। दूसरा लक्षण यह है कि हर विद्यमान वस्तु एक समग्र समष्टि है जो अनेक प्रकार के सम्बन्धों में बँधी हुई है। क्वाण्टम सिद्धान्त, जीवविज्ञानी उद्‌भेदन और गेस्टाल्ट (आकार) मनोविज्ञान, सभी यह सिद्ध करते हैं कि आकार अपने-आपमें पूर्ण समग्र समष्टि हैं। तीसरा यह कि सुसंघटित अवयवियों में अपने परिवेश या चारों ओर की परिस्थितियों के साथ अधिकाधिक पारस्परिक क्रियात्मक ऐक्य की प्रवृत्ति होती है। अणु, परमाणु और इलेक्ट्रॉन एक ऐक्य के अंग है, जो परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करते रहते हैं और उनकी यह क्रिया-प्रतिक्रिया आकस्मिक नहीं होती, बल्कि एक भौतिक प्रणाली के सम्बन्ध के अन्तर्गत होती है जिसके कि वे अंग है। प्रकृति एक विशालतर अवयवी है, जिसमें भौतिक वस्तु, जीवन, मन और मूल्य अवयव या अंग के रूप में विद्यमान हैं। यद्यपि ये सब अंग एक-दूसरे के असमान और असदृश हैं, फिर भी वे परस्पर घुलने-मिलने और सह-अस्तित्व के रूप में रहते हैं। परमाणु और उसके चारों ओर विद्यमान जगत्, जीव और उनका परिवार, आत्मा और अनात्मा, व्यक्ति और समाज—ये सब एक ऐसे ऐक्य की अभिव्यक्ति हैं जिसे प्राप्त करने के लिए वे सचेष्ट हैं। अस्तित्व और अनुभव दोनों में वे ऐक्य हैं, इसलिए हमारे ज्ञान के लिए भी वे ऐक्य के रूप में ही होने चाहिएँ। प्लेटो ने भी

यथार्थ सत्ता को एक समग्र अवयवी या ऐक्य के रूप में स्वीकार किया है।[1] चौथा लक्षण यह कि प्रकृति के सतत प्रवाह में न तो विश्राम है और न विराम। प्रकृति अपनी स्थिति से कभी सन्तुष्ट नहीं होती। वह नयी स्थितियाँ पाने का यत्न करती है। कारणों के बाद कार्य आते हैं, किन्तु कारणों की पुनरावृत्ति नहीं होती। हमेशा नये-नये गुण उद्‌भूत होते रहते हैं जिनके बारे में हम पुराने गुणों को देखकर भविष्यवाणी नहीं कर सकते। ऐसी-ऐसी नवीनताएँ पैदा होती रहती हैं जिनकी पहले से कल्पना नहीं की जा सकती। नवीनताओं के उत्तरोत्तर उत्पादन में एक प्रकार की आकस्मिकता और असातत्य नजर आता है, जैसा कि कला, विज्ञान और नैतिकता की प्रतिभाओं में दीख पड़ता है। उद्‌भव के सिद्धान्त इस तथ्य को स्वीकार करते हैं, हालाँकि वे उसकी कोई व्याख्या नहीं करते। पाँचवाँ लक्षण यह कि ससार में जो परिवर्तन होते हैं वे निरर्थक नहीं होते। भौतिक संसार किसी साघातिक सघर्ष में रत निर्बुद्धि और सवेदनहीन परमाणुओं का निरर्थक खेल नहीं है। परमाणु वस्तुओं का निर्माण कर रहे हैं और उन्हें अपने नियन्त्रण में लाकर हम उनसे अपनी मनचाही वस्तुओं का निर्माण करा सकते हैं। पृथ्वी और उसमें विद्यमान वस्तुओं ने जीवन के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ पैदा कीं, किन्तु जीवन को भी अपनी अभिवृद्धि के लिए अपने-आपको तदनुकूल बनाना पड़ा। एक ओर कुछ खास रासायनिक तत्त्व और उनके यौगिक शरीर के निर्माण के लिए सामग्री उपलब्ध कराते हैं, और दूसरी ओर कुछ खास आणविक कम्पन, जैसे प्रकाश और ध्वनि की तरंगें, जीवन को उसके पथ पर निर्देशित करने के लिए आवश्यक उद्दीपन का काम करते हैं ताकि वह अपने चारों ओर की वस्तुओं को देख, सुन, सूँघ और छू सके और अपने ही हित में उनके प्रति कुछ प्रतिक्रिया या अनुक्रिया कर सके। जब बाद की एक मंजिल में जीवन को अपने निज के प्रयत्नों में अपने भाग्य-निर्माण और उन्नति के लिए उद्योग करने की आवश्यकता आ पड़ी तो चेतना और मानवीय तर्कबुद्धि का जन्म हुआ। केवल शून्य आकाश या जल (अप्रकेतं सलिलम्) से इस सब ससार का उद्‌भव हुआ और अब वह एक गहन सहकारी और आध्यात्मिक राज्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील है जिसके मुख्य चिह्न स्वतन्त्रता और एकता होंगे। थोड़े-बहुत उतार-चढ़ाव के बावजूद ऐसा प्रतीत होता है कि ससार अनिवार्यतः उन्नति की ओर आगे बढ़ रहा है। संसार न कभी अपने पथ पर एक जगह स्थिर खड़ा रहा है और न वह कभी पीछे हटता है।

१. डारमेस्टेस एण्ड लॉ, १०।

संसार के प्रारम्भ से लेकर उसकी वर्तमान स्थिति तक निरन्तर हर अवस्था में हम एक सार्वभौम प्रवृत्ति देखते हैं। छठा लक्षण यह है कि हमें उच्चतम किस्म का जो अनुभव और ज्ञान होता है वह सर्वसमावेशी प्रतीत होता है और इस प्रकार के ज्ञान और अनुभव से युक्त व्यक्तियों का उत्पादन ही ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया का उद्देश्य प्रतीत होता है।

२. प्राकृतिकवाद :

विश्व की समस्या के लिए प्राकृतिकवादियों और प्रत्ययवादियों द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले समाधानों की बुनियादी विभाजक-रेखा काल की यथार्थता की समस्या के सम्बन्ध में उनके द्वारा अपनाए जानेवाले रुख ही हैं। प्रश्न यह है कि क्या घटनाओं का काल-क्रम यथार्थता का ही एक मौलिक लक्षण है, या वह स्वयं यथार्थता के अन्तर्गत है और उसके भीतर विद्यमान कुछ सत्ताओं और दुनियाओं तक ही सीमित है।[1] प्राकृतिकवादी लोगों का कहना है कि काल अन्तिम यथार्थ वस्तु है और काल की प्रक्रिया से बाहर कुछ नहीं है। संसार में जो कुछ है, वह ऐतिहासिक प्रक्रिया के भीतर ही है, उससे नीचे या उससे ऊपर कुछ भी नहीं है। प्राकृतिकवाद यह मानकर चलता है कि वह ब्रह्माण्ड की समूची प्रक्रिया की व्याख्या कर सकता है। वह संसार को एक ऐसी स्वचालित मशीन समझता है जो स्वभाव से चलती रहती है। वह इस कालिक जगत् को अचेतन शक्तियों का समूह और जीवन, चेतना और मूल्य सबको उपोत्पादन (बाई-प्रोडक्ट) मानता है। उसका विश्वास है कि संसार की इस मशीन को समझने के लिए, उसे टुकड़ों में विभाजित करना ज़रूरी है। वह मानता है कि संसार का निर्माण एक ही किस्म की उपादान सामग्री यानी भौतिक वस्तु (मैटर) से हुआ है और संसार में एक ही किस्म का परिवर्तन घटित होता है, और वह है इस उपादान सामग्री के कणों की स्थितियों में निश्चित नियमों के अनुसार होनेवाला आपेक्षिक परिवर्तन। विभिन्न प्रकार के प्राकृतिक पदार्थों में भेद उनके घटक कणों की संख्या, क्रम-व्यवस्था और गतियों में भेद के कारण होता है। प्राकृतिकवाद वैज्ञानिक अनुसन्धान के परिणामों और नियमों को स्वीकार नहीं करता। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यन्त्रवादी सिद्धान्त का गढ़ भौतिक विज्ञान था। ऐसा प्रतीत होता था कि न्यूटन के दर्शन ने संसार के प्रपंचों की भौतिक पदार्थ और गति के रूप में सफलतापूर्वक व्याख्या

१. देखिए बोसांके : दि मीटिंग ऑफ़ एक्सट्रीम्स इन कण्टेम्पोरेरी फ़िलासफ़ी (१६२०)।

कर दी है। उसके अनुसार बिलियर्ड की छोटी-छोटी गेंदों-जैसे कण ही बिना किसी क्रम या तरतीब के गति करके ही विश्व की रचना कर सकते हैं। उस समय विश्व की व्याख्या करने में एक कठिनाई प्रतीत होती थी कि जीवन की और जीवन के उद्देश्य तथा पथ-प्रदर्शन की व्याख्या कैसे की जाए। किन्तु डार्विन और स्पेन्सर के हाथों विकासवाद ने इस कठिनाई को हल करने मे भी काफ़ी हद तक प्रगति की। आज स्थिति बिलकुल भिन्न है। भौतिक विज्ञान के अनुसार किया गया पुराना पदार्थ-भेद आज स्वय भौतिक जगत् मे भी पर्याप्त नही रहा और सरलतम जीवित प्राणियो की विशुद्ध यान्त्रिकवाद से व्याख्या करना भी सम्भव नही है। प्राकृतिकवाद की प्राक्कल्पना पर विचार करते हुए जब हम यह देखते है कि विश्व के सामान्य लक्षणों पर उसका क्या प्रभाव है, तब हमारे सामने उसकी अपर्याप्तता और अपूर्णता एकदम स्पष्ट हो उठती है। संसार की व्यवस्था और क्रम विशुद्ध यान्त्रिक नही है। विज्ञान के नियम कामचलाऊ प्राक्कल्पनाएँ है, प्रकृति के मूर्त तथ्यों को समझने के लिए अमूर्त सिद्धान्त है। वे प्रकृति पर कोई नियम लादते या उसे आदेश देकर किसी विशेष दिशा मे परिचालित नही करते।[1] यान्त्रिकवादी दृष्टिकोण मे यह स्वीकार किया जाता है कि कार्य मे उससे अधिक तत्त्व या अन्तर्वस्तु सम्भव नही है, जितनी कि कारण मे है। सम्बन्ध केवल पुनरावृत्ति या बुनियादी तौर पर घडी की तरह की आवर्त गति-मात्र है। किन्तु ससार मे हम जो अत्यधिक विविधता और ऐसी नयी-नयी घटनाएँ देखते है जो पुनरावृत्ति-मात्र नही हैं, उनके

१. एडिंगटन ने तीन प्रकार के नियम बताए है: सादृश्यपूर्ण (आइडेंटिकल), सांख्यिकीय और अतिप्रकृत। सादृश्यपूर्ण नियम, जो गणित के सादृश्यों में पाए जाते है, सही मानों में नियम नहीं है। घटनाएँ परिवर्तनशील होती है, किन्तु सादृश्यपूर्ण नियमों में 'न तो परिवर्तनशीलता होती है और न परिवर्तनशील की छाया ही।' उनका सम्बन्ध हमारे अपने द्वारा बनायी गई गणित की इबारतों से होता है। सांख्यिकीय (स्टेटिस्टिकल) नियम भी मन के उस प्रयत्न के ही परिणाम है जिसके द्वारा वह कुछ चुने हुए पर्यवेक्षित तथ्यों के समन्वय और समंजन के लिए कुछ फारमूले निकालने की कोशिश करता है। ये नियम आनुभविक है और औसतो पर आधृत है। कार्य-कारण नियम इसी श्रेणी के नियम है और पर्यवेक्षित मापों से अनुमित किये जाते है। औसत का सिद्धान्त व्यष्टि मे पाए जाने वाले नियम के व्यतिरेक के साथ असंगत नहीं है। हम भविष्य के बारे में कथन सिर्फ इसलिए कर सकते है कि घटनाओं के औसतों का अनुमान बिना इस बात के विचार के सम्भव है कि उन घटनाओं में कौनसी शक्तियाँ अन्तर्निहित है। यदि वास्तव में ही भौतिक जगत् पर नियन्त्रण और नियमन करनेवाले कोई नियम है तो वे अतिप्रकृत (ट्रान्सेण्डेण्टल) नियम ही है। ('दि नेचर आफ़ दि फ़िजिकल वर्ल्ड' (१६२८), पृष्ठ २४४-२४६)।

साथ इस दृष्टिकोण का मेल नहीं बैठता। यान्त्रिक उत्पादनकर्ता की उत्पन्न की हुई सब चीजें कारखाने मे पैदा की गई चीजों की भाँति एक-जैसी होती हैं, किन्तु प्रकृति में उत्पन्न वस्तुओं में हम अनन्त विविधता और किसी एक निश्चित आकार का अभाव देखते हैं। प्रकृति में निश्चय ही एक व्यवस्था और क्रम है, किन्तु वह यान्त्रिक व्यवस्था और क्रम से भिन्न किस्म का है।

समस्त सत् वस्तुएँ आंगिक या अवयवी हैं, जो अनेक व्यष्टियो के एक सामष्टिक रूप और अतीत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों को प्रतिबिम्बित करती हैं। सरलतम भौतिक वस्तुओं मे भी हम समग्र अवयवी वस्तु की एक योजना देखते हैं जो उनके अगों के स्वरूप को नियन्त्रित करती है और उन सबमें व्याप्त होती है। भौतिक जगत् मे होनेवाले परिवर्तन केवल स्थिति, गति और वेग आदि के बाह्य परिवर्तन ही नही होते। यद्यपि समस्त भौतिक वस्तुएँ अन्ततः एक ही भौतिक पदार्थ की बनी होती हैं और उनमें भौतिक गुण भी एक ही होते हैं, किन्तु उनके सवेदनीय गुणों की, जो भिन्न प्रकार के होते हैं, चाहे वे केवल प्रतीयमान हों या वास्तविक, व्याख्या विशुद्ध यान्त्रिकवाद के नियमो से नही की जा सकती।

यदि यान्त्रिकवादी सिद्धान्त सही होता तो 'एक्लिसियास्ट्स' के लेखक की यह परिवेदना सही और तथ्यानुसारी होती कि 'जो कुछ अब तक हुआ है, वही भविष्य मे होगा और जो अब तक किया गया है, वही भविष्य मे किया जाएगा और सूर्य से प्रतिभासित इस ससार में नया कुछ भी नही है।' किन्तु बाइबिल के अनुसार सत्य 'बुक ऑफ रेवलेशन' के इस कथन के अधिक निकट है कि 'देखो, मैं सब-कुछ नया गढ़ता हूँ।' यदि प्राकृतिकवाद सही होता तो काल से तथ्यों में कोई अन्तर नही पड़ता। अरस्तू ने बहुत समय पूर्व कहा था कि यदि कोई भी वस्तु अपने अस्तित्व और घटित होने के लिए काल पर निर्भर न होती तो सब-कुछ अब तक घटित हो चुका होता। प्राकृतिकवाद का कहना है कि यदि समय पर्याप्त हो तो ससार मे हर ऐसी घटना या आकार घटित हो सकता है जिसकी हम कल्पना कर सकते हैं, किन्तु ब्रह्माण्ड का इतिहास आकृतियों के विन्यास की एक ऐसी अद्वितीय शृङ्खला है जिसमें एक शृङ्खला का दूसरी से कोई मेल या सम्बन्ध नही है। समय वस्तुओं के गुणो मे कुछ नवीनता ले आता है। ऐतिहासिक प्रक्रिया मे हम दोनो विशेषताएँ देखते हैं—सातत्य भी और नवीनता भी। इस प्रक्रिया की हर मंजिल में सातत्य और नवीनता का सम्मिश्रण दोनों एक साथ रहते हैं। प्रकृति की अपनी एक लय और गति है, उसे उससे अधिक द्रुत गति मे नही चलाया जा

सकता। उसकी प्रक्रिया को उल्टी दिशा मे भी चलाना सम्भव नहीं है। यान्त्रिक-वाद का यह दृष्टिकोण, कि विश्व अपने-आप बन गया और जैसा वह है वैसा ही रहेगा, उसके पीछे कोई बुद्धि, तर्क या प्रयोजन नही है, सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता। यदि विश्व एक यन्त्र है तो भी यह प्रश्न बना ही रहता है कि इस यन्त्र को चलाता कौन है? किसने उसे बनाया? इसके अतिरिक्त यन्त्र किसी उद्देश्य से बनाये जाते है और उनकी रचना को इन उद्देश्यो से पृथक् करके हम नही समझ सकते। विश्व की प्रक्रिया मे हर वस्तु किसी दूसरी वस्तु पर निर्भर है, कोई भी वस्तु आत्मपूर्ण नहीं है। जो वस्तु जैसी है, उसके वैसी होने का कारण कुछ अन्य घटनाओ के साथ उसका सम्बन्ध है। हम ससार में किसी ऐसी वस्तु की तलाश करते है जो स्वय ही अपनी व्याख्या हो, किसी अन्य वस्तु पर निर्भर न हो, लेकिन हम ऐसी वस्तु कही नही पाते। ससार परस्पर-सम्बद्ध और अभ्यनुकूलित घटनाओं की एक अनन्त शृङ्खला है, किन्तु विज्ञान यह नहीं बता सकता कि कोई घटना या वस्तु जैसी है उसके वैसी होने का कारण क्या है। कार्य-कारण के तर्क का महत्त्व ही इस बात मे है कि वह यह मांग करता है कि इस सान्त जगत् से ऊपर कोई ऐसा सिद्धान्त होना चाहिए जो उसकी व्याख्या कर सके। विज्ञान गौण कारणो की एक प्रणाली है, जो ससार का पूर्ण और पर्याप्त रूप मे वर्णन भी नहीं कर सकती, उसकी व्याख्या करना तो दूर की बात है।

काल मे अवस्थित समस्त सत्ता का रहस्य विज्ञान से सुलझने के बजाय और उलझना है और प्राकृतिकवाद उसे सुलझाने मे कोई सहायता नही देता।

३. स्मट्स का पूर्णाभिमुख विकासवाद (होलिस्टिक एवोल्यूशन):

जनरल स्मट्स ने अपनी पुस्तक 'होलिज्म एण्ड एवोल्यूशन'[1] में इस बात पर बल दिया है कि भौतिक विज्ञान, जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान आदि समस्त विभिन्न विज्ञानों पर लागू होने वाला एक सार्वभौम सिद्धान्त 'होलिज्म' अर्थात् ब्रह्माण्ड मे बृहत् और बृहत्तर पूर्णो (अवयवियों) के निर्माण की प्रवृत्ति है। प्रत्येक अवयवी मे, चाहे वह परमाणु हो या अमीबा या मानव, एक उपयुक्त योजना या संघटन होता है जिसे सब अवयव पूरा करते हैं। प्रत्येक अवयवी का एक अपना विशिष्ट स्वरूप और लक्षण होता है, सरचना और कार्य की एक आन्तरिकता होती है। उसके हिस्सों और अगों को ऐसी इकाइयां नही समझा जाना चाहिए

१. १९२६।

जो निश्चित अपरिवर्तनीय गुणों में युक्त हैं और जो नये सम्मिश्रणों में नये अवयवियों की सृष्टि कर सकते हैं। उदाहरण के लिए जिन अणुओं से अमीबा बना होता है वे ऐसा व्यवहार नहीं करते जैसे कि वे महज अणुओं के समूह-मात्र हों। स्मट्स पूर्ण अवयवी में उसके अतीत और भविष्य का भी समावेश करता है। पूर्ण अवयवी का क्षेत्र उसके चारों ओर बँटा रहता है। वस्तुओं को एक नियत समय में देश के एक नियत हिस्से में अवस्थित ही नहीं समझा जाना चाहिए। वे देश और काल में विस्तीर्ण होती हैं। पहले उनकी कल्पना केवल अवस्थिति के रूप में की जाती थी, किन्तु स्मट्स ने यह माना है कि वे अवस्थित तो हैं, किन्तु अन्योन्य-सम्बन्ध के साथ। उन्होंने अजैविक वस्तुओं में भी सृजनात्मकता या पूर्णाभिमुख सृजन-क्रिया के कुछ प्रमाण दिये हैं। जब हम कलिल (कोलोयडल) अवस्था में विद्यमान भौतिक वस्तु पर विचार करते हैं तो हमें उसमें ऐसे गुण और व्यवहार नजर आते हैं जिनमें हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उनमें जीवन की क्रिया-प्रक्रिया अत्यन्त प्रारम्भिक अवस्था में विद्यमान होगी। स्मट्स का मत है कि भौतिक वस्तु को हम जिस रूप में देखते हैं वह अपने-आपमें विकास का परिणाम है। सरलतम परमाणु से अत्यधिक जटिलतम भौतिक वस्तु तक और जटिलतम भौतिक वस्तुओं से श्लेपाभ या कलिल (कोलोयड) वस्तुओं की अत्यधिक विशाल सम्मिश्रता तक सर्वत्र हमें वृहत्तर पूर्णता की दिशा में एक प्रक्रिया नजर आती है। पूर्ण से वृहत् और वृहत्तर पूर्ण के निर्माण की सामान्य प्रक्रिया एक दृष्टि से अवश्य ही सृजनात्मक है और वह यह कि इस प्रक्रिया का उद्देश्य उसमें पहले से ही निहित नहीं होता।

किन्तु यदि दार्शनिक तर्क की दृष्टि से विचार किया जाए तो जनरल स्मट्स की मान्यता पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं है। (१) उनका ख़याल है कि पूर्णाभिमुख विकास की प्रवृत्ति (होलिज्म) एक साधारण आनुभविक सामान्यीकरण नहीं है जो प्राकृतिक प्रक्रियाओं की प्रवृत्ति का वर्णन करता हो, बल्कि वह प्रवृत्ति की सक्रिय शक्ति है। यह वास्तव में सच्चा कारण है[1] और 'ब्रह्माण्ड में कार्यरत आधारभूत, संश्लेषक, व्यवस्थापक, संघटनकारी और नियामक क्रिया' है।[2] (२) विश्व की व्याख्या करने के लिए जिस दार्शनिक सिद्धान्त की कल्पना की गई है, वह बेर्गसाँ की जीवनी-शक्ति के ढंग की एक अस्पष्ट और अव्याख्येय

१. होलिज्म एण्ड एवोल्यूशन, पृष्ठ ८६।
२. होलिज्म एण्ड एवोल्यूशन, पृष्ठ ३१६।

सृजनात्मक प्रेरणा के रूप में कल्पित नहीं की गई बल्कि एक निश्चित शक्ति के रूप में मानी गई है जिसका एक निश्चित स्वरूप है और जो ब्रह्माण्ड के समस्त पूर्ण अवयवियों का सृजन करती है। (३) क्योंकि यह पूर्णाभिमुख विकास की प्रवृत्ति एक ऐसे निदेशक और सृजनात्मक तत्त्व के रूप में मानी गई है जो प्रारम्भ से अन्त तक सक्रिय है और क्योंकि उसे जीवन और मन के उद्भव से युगों पूर्व विद्यमान समस्त अवयवी वस्तुओं के सृजन की भी कारण माना गया है, अतः यह स्पष्ट है कि स्मट्स की इस पूर्णाभिमुख विकास-प्रवृत्ति का अर्थ मन, उद्देश्य, प्रयोजन, जीवन या व्यक्तित्व नहीं हो सकता, क्योंकि इनका उद्भव इसके बहुत बाद में होता है। उनका कहना है कि 'मन प्रारम्भ में विद्यमान नहीं है, बल्कि अन्त में है, किन्तु पूर्णाभिमुख विकास-प्रवृत्ति (होलिज्म) सर्वत्र है और सर्वसर्वा है।'[1] 'जिस समय सिल्यूरियन-युग में समुद्रों ने पृथ्वी के मुखमण्डल को आच्छादित किया हुआ था और जब विकास की निम्नवर्ती मंजिलों की अविकसित मछलियाँ और अन्य समुद्री जीव-जन्तु विकास की प्रचण्ड लहर को अपने ऊपर झेल रहे थे, तब आत्मा कहाँ थी ? अथवा यदि हम उससे भी पहले के युग में जाएँ तो जिस समय पृथ्वी के आदिम युग में प्रथम प्रकम्पनात्मक गतियों ने ज़मीन पर शुरू-शुरू के उन पहाड़ों का सृजन किया था जो अब पृथ्वी की सतह से मिट गए हैं और जबकि पृथ्वी पर या तो जीव थे ही नहीं और थे भी तो इतने आद्य और अविकसित कि जीव-विज्ञान अभी तक उन्हें जान नहीं सका, तब आत्मा कहाँ थी ? और यही नहीं, उस समय भी आत्मा कहाँ थी, जबकि यह सौर-परिवार एक विरल आग्नेय नीहारिका के रूप में था ?'[2] (४) यदि पूर्णाभिमुख विकास-प्रवृत्ति एक उच्चतम पूर्ण में, जिसके शेष सब स्वल्प पूर्ण (अवयवी) केवल हिस्से-भर हैं, पूर्णतः अभिव्यक्त हो जाती है तो उसकी उन स्वल्प भागों के सदृश कल्पना नहीं की जा सकती। उच्चतम पूर्ण (अवयवी) अपने भागों के योगफल से कुछ अधिक होता है, इसलिए उसे मन या व्यक्तित्व की किस्म की वस्तु के रूप में कल्पित नहीं किया जा सकता, जोकि उच्चतम पूर्ण के अंग हैं। (५) स्मट्स समय और सृजनात्मक विकास की यथार्थता से बहुत प्रभावित हुए हैं और उन्हें भय है कि कहीं सक्रिय पूर्णाभिमुख विकास की प्रवृत्ति और आध्यात्मिक सत्ता को एक मान लेना ब्रह्माण्डीय विकास के प्रतिकूल सिद्ध न हो। यही कारण है कि स्मट्स एक

१. होलिज्म एण्ड एवोल्यूशन, पृष्ठ ३५५।
२. होलिज्म एण्ड एवोल्यूशन, पृष्ठ ३३०-३३१।

पूर्णाभिमुख विकास की शक्ति की यथार्थता पर बल देने के बावजूद उसे ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया में अवयवियों का निर्माण करने वाली शक्ति से कोई भिन्न वस्तु मानने को तैयार नहीं हैं।

यदि स्मट्स इससे आगे बढ़ने को तैयार नहीं है तो वह जिज्ञासु मन को सन्तुष्ट नहीं कर सकते। (१) ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने विश्व की प्रक्रिया के सामान्य लक्षणों के वर्णनात्मक कथन और समस्त प्रकृति में विश्वव्यापी रूप में सक्रिय सृजनात्मक शक्ति में अन्तर की उपेक्षा कर दी है। इनमें से पहली चीज विज्ञान की समस्या है जबकि दूसरी चीज दर्शन का पूर्व-स्वीकृत सिद्धान्त है। स्मट्स ने एक आनुभविक चीज को एक दार्शनिक व्याख्या में परिणत कर दिया है, इसी से दार्शनिक व्याख्या की आवश्यकता सिद्ध होती है। ब्रह्माण्ड के लक्षणों का तकाजा है कि उनकी व्याख्या की जाए। (२) एक प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न पूर्णों (अवयवियों) का एक-दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध है ? स्मट्स का कहना है कि 'यथार्थ सत्ता की चार महान् शृंखलाएँ, भौतिक वस्तु, जीवन, मन और व्यक्तित्व एक ही आधारभूत चीज के क्रमिक विकास की सीढ़ियाँ हैं, जिसका मार्ग हमारे भीतर और हमारे इर्द-गिर्द विद्यमान ब्रह्माण्ड है। पूर्णाभिमुख विकास की प्रवृत्ति ही उन्हें बनाती है, उन्हें परस्पर जोड़ती है और जहाँ तक सम्भव होता है उन सबकी व्याख्या करती है।'[1] यह शृंखला केवल क्रमिक ही नहीं है, बल्कि एक-दूसरे के साथ सतत रूप में जुड़ी हुई भी है। एक प्रश्न यह है कि उस पूर्ण का स्वरूप क्या है जिसमें शेष सब पूर्णों का समावेश है और उसका उनके साथ सम्बन्ध क्या है ? (३) यदि सत्य, शिव और सुन्दर के आदर्श अन्ततः उद्भूत होते हैं और 'ब्रह्माण्ड की एक नयी व्यवस्था की नींव डालते हैं' तो उनका मूल आदि-स्रोत क्या है और इस बात की गारण्टी क्या है कि ये स्थायी आधार होंगे और नयी व्यवस्था में उनकी उपलब्धि और रक्षा हो सकेगी ? प्लेटो के सुप्रसिद्ध शब्दों में आदर्शवादी यह तो मानते ही हैं कि काल में हम जो व्यवस्था और क्रम देखते हैं वह एक ऐसी व्यवस्था और क्रम का बिम्ब है जो काल में अवस्थित नहीं है। काल-क्रम की शृंखला एक ऐसी योजना है जिसके द्वारा नित्य मूल्य अपने-आपको अभिव्यक्त करते हैं। (४) यह सत्य है कि ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया में भौतिक वस्तु, जीवन, चेतना और मूल्य उत्तरोत्तर क्रमशः प्रकट होते हैं। मन ब्रह्माण्ड में बहुत बाद में आया है, उसके उद्भूत होने से लाखों वर्ष पूर्व से ही यह ब्रह्माण्ड विद्यमान है। प्रत्ययवादी दर्शन विकास के

१. होलिज्म एण्ड एवोल्यूशन, पृ० ३२० ।

तथ्य से इन्कार नहीं करता। वह यह नहीं कहता कि मानव पृथ्वी के उत्पन्न होने से पहले ही विद्यमान था। प्रत्ययवादी जब यह कहता है कि मन आद्य और सर्वप्रथम वस्तु है तो उसका अभिप्राय इस या उस व्यक्ति के मन से नहीं, बल्कि सर्वोच्च मन (ईश्वरीय मन) से होता है। यदि हम ऐसा न मानें तो हमारे लिए एक ऐसे स्थूल प्राकृतिकवाद के सिवाय और कोई विकल्प नहीं रह जाएगा जो यह मानता है कि विश्व-प्रक्रिया ने, जो जाहिरा तौर पर अन्धी है, किसी आकस्मिक संयोग से विकास के द्वारा मानव-प्राणियों का निर्माण किया, जो अन्ध भाव से एक आध्यात्मिक व्यवस्था के लिए संघर्ष कर रहे हैं। यह आध्यात्मिक व्यवस्था एक एकीकृत पूर्ण है। यदि हम ईश्वर को एक प्रवृत्ति की धारा स्वीकार कर लें तो चाहे वह कितनी ही पूर्ण विकासाभिमुख हो, हम प्रकृतिवाद से बच नहीं सकते। स्मट्स का यह कथन बिलकुल सही है कि यदि हम सर्वोच्च सत्ता को मन या व्यक्तित्व के सदृश कल्पना करें, जिस रूप में कि हम उन्हें जानते हैं, तो वह उसका सही वर्णन नहीं होगा। (५) स्मट्स ने हमें यह नहीं बताया कि पूर्ण का सृजन करने वाले इस ब्रह्माण्ड का उद्देश्य और उसका सम्भावित रूप क्या है। (६) यह प्रश्न अनिवार्य है कि क्या काल ही सब-कुछ है, या वह सिर्फ एक माध्यम है जिसके द्वारा एक उच्चतर उद्देश्य अपनी योजनाओं को क्रियान्वित कर रहा है। यदि ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया पूर्ण के निर्माण की प्रक्रिया है तो यह सम्भव है कि वह एक ऐसी योजना हो जिसके द्वारा एक नित्य परमात्मा अपनी योजनाओं को क्रियान्वित कर रहा हो। यह बहुत सम्भव है कि वह योजना ऐसी हो कि उसमें आकस्मिकता की भी गुन्जायश हो और साथ ही वह नित्य सत्ता के उपक्रम और उसके उत्तर में होने वाली प्रकृति की प्रतिक्रियात्मक गति पर भी निर्भर हो। (७) यदि हम इस मान्यता का पूर्णतः परित्याग कर दें कि एक आध्यात्मिक शक्ति विश्व का निर्देशन करती है और स्मट्स की पूर्णाभिमुख विकास की प्रवृत्ति को ही विश्व की रचना के लिए उत्तरदायी मान लें, तो यह प्रश्न उठेगा कि क्या पूर्णाभिमुख विकास-प्रवृत्ति का यह सिद्धान्त भी विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है या नहीं। यदि यह सिद्धान्त स्वयं विकास की प्रक्रिया के अन्तर्गत आता है तो वह विश्व की व्याख्या नहीं कर सकता। यदि वह उसके अन्तर्गत नहीं आता तो वह किसी भी अन्य दृष्टिकोण की भाँति काल में प्रगति का एक वस्तुतः नवीन तत्त्व है।

४. अलेग्ज़ेंडर और लॉयड मॉर्गन का उद्भूयमान विकास का सिद्धान्त :

अलेग्ज़ेंडर हमारे सामने प्रवर्धमान ब्रह्माण्ड की एक ऐसी तस्वीर उपस्थित करते है, जिसमे भौतिक वस्तु, जीवन, चेतना आदि आहिस्ता-आहिस्ता देश-काल या विशुद्ध घटनाओं से उद्भूत होते है। उनके अनुसार ब्रह्माण्ड एक देश-काल-प्रणाली है, जो क्रमशः उस अन्तिम पूर्णता की ओर बढ़ रही है जिसे उन्होंने देवता की संज्ञा दी है। देश-काल वह निर्माण-सामग्री है जिससे समस्त सत् वस्तुएँ उद्भूत होती है। यह ब्रह्माण्ड का आद्य रूप है। काल देश का मन है। सत्ता के प्रारम्भिकतम स्तर पर आकृति और संख्या आदि प्रारम्भिक गुण देश-काल संरचना के भीतर पैदा होते है। जब इन देश-कालावच्छिन्न विन्यासों मे कुछ मिश्रितता या जटिलता आ जाती है तो उससे हमे भौतिक वस्तु (मैटर) या उपवस्तु (सब-मैटर) की प्राप्ति होती है। सम्मिश्रता के एक उच्चतर स्तर पर कुछ भौतिक रचना-विन्यास उद्भूत होते है, जैसे कि ऐसी भावनाएँ या शारीरिक परिस्थितियाँ जिन्हे हम रंग, स्वाद आदि के रूप मे जानते है। देश-कालावच्छिन्न जगत् के विकास मे कुछ संक्रान्ति-स्थलों पर कुछ नये लक्षण प्रकट होते हैं जो अनुभवों के निम्न स्तर पर आधृत होते है, और फिर भी नये गुणों मे युक्त होते है। जब कुछ भौतिक और रासायनिक प्रक्रियाओं का एक खास सम्मिश्रण होता है तब उसमें जीवन का गुण उद्भूत होता है। अलेग्ज़ेंडर ने उद्भव शब्द का प्रयोग बड़ी और *संक्रमणात्मक नवीनताओं के लिए किया है, किन्तु लॉयड मार्गन ने इस शब्द का* व्यवहार किसी भी ऐसे परिवर्तन के लिए खुलकर किया है जिसे स्वरूप या लक्षण का परिवर्तन कहा जा सकता है। अलेग्ज़ेंडर का कहना है कि "ब्रह्माण्ड की सारी *प्रक्रिया देश-काल के क्रम से होनेवाली एक ऐतिहासिक अभिवृद्धि है।* 'काल-क्रम मे, जोकि प्रमुख गति है, देश-काल का ढाँचा निरन्तर प्रवर्धमान सम्मिश्रता वाली सान्त वस्तुओं मे विभाजित हो जाता है। वस्तुओं के इतिहास मे एक स्थल ऐसा *आता है जबकि सान्त वस्तुओं में कुछ नये आनुभविक गुण पैदा हो जाते हैं जिनमे* अनुभव के स्तर अलग-अलग होते है। इनमे मुख्य गुण होता है भौतिक वस्तु और गौण गुण होते हैं जीवन और मन।'[1] ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया इसी कालक्रम से मानवीय स्तर तक पहुँच चुकी है और मनुष्य अब देवता के और भी उच्चतर नये स्तर तक पहुँचने की प्रतीक्षा कर रहा है। धार्मिक प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति हमे विकास की इस अगली मंजिल के लिए तैयार कर रहे हैं। अलेग्ज़ेंडर की दृष्टि मे

१. स्पेस टाइम एण्ड डीइटी, २, पृ० ३३५।

धर्म इस अन्तिम मंजिल की चाह ही है। दिव्य गुण या देवता मानव के बाद की काल की मंजिल है। सारा संसार इस समय देवताओं के सृजन में व्यस्त है। काल क्योंकि समस्त सत्ता का सार है, अतः किसी भी सत्ता के लिए भविष्य का अन्त नहीं हो सकता, यहाँ तक कि ईश्वर भी काल की ही सृष्टि है।

अलेग्जेंडर ने आधुनिक वैज्ञानिक विकास के अनुरूप सामान्य दार्शनिक रूपरेखा तैयार करने का जो प्रयत्न किया है वह बड़ा प्रतिभायुक्त है, किन्तु उसमें कुछ बुनियादी कमजोरियाँ है। उसके इस सारे प्रयत्न में एक दर्शन-विरोधी रुख रहता है, हालांकि यह हमारे युग का सबसे अधिक प्रभावकारी दार्शनिक प्रयत्न है। अलेग्जेंडर के दर्शन में देश-काल की स्थिति कुछ अस्पष्ट और सन्दिग्धार्थक है। उसमें देश-काल एक अमूर्तकरण है एक सकल्पना है जिसमें मूर्त सत्ता की व्याख्या की जाती है, वह अपने-आपमें मूर्त्त सत्ता नहीं है। फिर भी उसमें इसे (देश-काल को) ही वह सामग्री कहा गया है जिससे सब सत् वस्तुएँ बनती है। इस दर्शन के अनुसार देश-काल किसी समय अनवच्छिन्न रूप में केवल अपनी ही सत्ता में विद्यमान था, किन्तु बाद में धीरे-धीरे आकार, रंग, ध्वनि, सौन्दर्य और अच्छाई आदि गुणों के उद्भव से वह समृद्ध हो गया। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि यह सत्ता का निम्नतम स्तर है। अलेग्जेंडर की दृष्टि में देश-काल एक पूर्ण निरपेक्ष वस्तु है क्योंकि शेष सभी वस्तुएँ उसी से उद्भूत होती है। 'यह समस्त सान्त और अनन्त सत् वस्तुओं से बड़ा है क्योंकि यह उनका जनक है। किन्तु इसमें देश-काल मात्र होने के कारण इन वस्तुओं के अन्य गुणों की सम्पदा नहीं है, और यह बिलकुल प्रारम्भिक मूल तत्त्व है, इसलिए वह उस सीमा तक उनसे छोटा भी है।'[1] ऐसी दशा में यह एक पूर्णव्यापी अमूर्तकरण है और हमें इसका ज्ञान उसी रूप में होता है जिस रूप में कि वह सान्त विद्यमान वस्तुओं में, जिनका कि वह जनक माना जाता है, अभिव्यक्त होता है। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि प्रारम्भ में देश-काल की एक ऐसी आदिम अवस्था थी जिसमें मूर्त अनुभव की समस्त समृद्धि का अभाव था और जिससे किसी-न-किसी रूप में उसका उद्भव हुआ है। यदि देश-काल अन्तिम तथ्य है तो हम नहीं जानते कि उसका रूप क्या है।

'देश-काल' से भौतिक वस्तु का उद्भव कैसे हो सकता है, यह समझना कठिन है। भौतिक वस्तु (मैटर) 'विस्तार-कालावधि' का खण्ड नहीं है।

१. स्पेस, टाइम एण्ड डीइटी, १. पृ० ३४२।

अलेग्ज़ेंडर जब यह कहते हैं कि हर सत् पदार्थ की उत्पत्ति उससे निम्न श्रेणी के सत् पदार्थ में पूर्ण रूप से बताई जा सकती है और उसकी इस प्रकार की व्याख्या के बाद अव्याख्येय कुछ नहीं बचेगा, तब उनके कथन में पूर्ण संगति नहीं होती। उस दशा में उनका दर्शन स्थूल प्राकृतिकवादी दर्शन बन जाएगा और उन्होंने 'उद्भव' का जो विचार स्वीकार किया है उसीका इससे विरोध होगा।[1] भौतिक वस्तु देश-काल से एक भिन्न चीज है। यही बात अन्य चीजों के बारे में भी है। जब भौतिक संरचना में कुछ सम्मिश्रता या जटिलता आती है तो उससे जीवन का एक सर्वथा नयी वस्तु के रूप में 'उद्भव' होता है। यह 'उद्भव' ही असली समस्या है। जब भौतिक संरचना की सम्मिश्रता में और भी परिवर्तन होता है, जैसा कि मध्यवर्ती स्नायु-संस्थान की उत्पत्ति के समय हम देखते हैं, तब 'मन' का उद्भव होता है और इस प्रकार यह समझा जाता है कि जीवन और चेतन व्यवहार के बीच का अन्तर पूरा हो गया है। अलेग्ज़ेंडर इसकी व्याख्या करने के लिए विश्व में उच्चतर स्तर की ओर बढ़ने की एक प्रवृत्ति (नाइसस) की कल्पना करते हैं। यह प्रवृत्ति सृजनात्मक है, यह ब्रह्माण्ड की उच्चतर स्तर पर पहुँचने की 'पिपासा' को तृप्त करती है। ओल्ड टेस्टामेंट में शून्य और ईश्वर को जो स्थान दिया गया है वह अलेग्ज़ेंडर ने आदिम देश-काल और उच्चतर स्तर की ओर इस प्रवृत्ति को दिया है। यदि हम उच्चतर स्तर की ओर जाने की इस प्रवृत्ति को एक ऐसी आध्यात्मिक शक्ति न मानें, जो अपने मूल स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करती है और हमेशा नये नये आकारों को अभिव्यक्त करती है, तो अलेग्ज़ेंडर की सारी व्याख्या ही असन्तोषजनक हो जाएगी। यह प्रवृत्ति (नाइसस) कोई ऐसी अचेतन प्रेरक-शक्ति नहीं हो सकती जो आहिस्ता-आहिस्ता बढ़कर मानव में चेतना का रूप धारण कर ले। इस प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी सृजनात्मक भावना ब्रह्माण्ड का परिणाम नहीं हो सकती, जैसा कि अलेग्ज़ेंडर या दूसरे लोग कल्पना करते हैं, बल्कि वह उसका मूल स्रोत भी है, जैसा कि महान् धर्मों और दर्शनों में कहा गया है। यदि ईश्वर का अभी अस्तित्व नहीं है और वह एक भावी सम्भावना ही है, तो ईश्वर की पूजा के मानवीय अनुभव के रूप में धर्म केवल एक काल्पनिक वस्तु की पूजा-मात्र रह जाएगा। यदि हम उच्चतर की ओर इस प्रवृत्ति (नाइसस) को मूलतः एक अचेतन वस्तु मानकर चलें और यह कल्पना करें कि ब्रह्माण्ड के विकास के परिणामस्वरूप वह एकाएक चेतन बन

१. स्पेस, टाइम एण्ड डीटी, २, पृष्ठ ४५ फुटनोट।

जाती है तो उसका अर्थ यह होगा कि हमने अपने चेतना के भ्रम को भूल से अस्तित्व का भ्रम मान लिया है। हम सब सर्वोच्च परम सत्ता को जानते नहीं है, इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उसका अस्तित्व ही नहीं है। पहला अध्याय दूसरे अध्याय की सिर्फ इसीलिए व्याख्या नहीं कर सकता कि उससे स्थान पहले है। लेखक का मन ही वास्तव में उसकी सही व्याख्या कर सकता है।

ऐसे स्थल भी हैं जिनमें कि अलेक्जेंडर ने यह अनुभव किया है कि देवता सिर्फ कोई ऐसा गुण ही नहीं है जो ब्रह्माण्ड के इस अनिश्चित्त और सूक्ष्म भाग में पैदा हो गया हो। उन्होंने कहा है, 'ईश्वर यह सारा ससार है जिसमें देवता का गुण है। वह एक ऐसी चीज है जिसका 'शरीर' यह सारा ससार है और जिसका 'मन' देवता है। किन्तु देवता को धारण करनेवाला ईश्वर वास्तविक नहीं है, केवल प्रान्तयिक आदर्श-मात्र है। वास्तविक ईश्वर तो यह असीम ससार है, जिसमे देवता की ओर उठने की प्रवृत्ति है और लाइबनिट्ज के शब्दों मे कहा जाए तो हम यह कह सकते है कि वह देवता के समान बड़ा है या वह गर्भ मे देवता को धारण किये प्रसव-वेदना सह रहा है।'[1] क्या यह सम्भव नहीं है कि देश-काल के विस्तीर्ण क्षेत्र मे कहीं अन्यत्र भी देवता का गुण उपलब्ध कर लिया गया हो और क्या यह भी सम्भव नहीं है कि हमारी इस पृथ्वी के जन्म और मानव-सृष्टि के उद्भव से पूर्व ही एक ऐसा ईश्वर साकार हो गया हो जो हमारी कल्पना से परे हो। हमारा ज्ञान जिस क्रम मे है वह ब्रह्माण्ड भी उसी क्रम में हो, यह आवश्यक नहीं है। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व पहले है और ईश्वर उससे बाद मे उद्भूत हुआ है। किन्तु हो सकता है कि ईश्वर ही यथार्थ सत्ता हो और यह ससार उसकी अभिव्यक्ति-मात्र हो। हमारी दृष्टि मे जो वस्तु अन्तिम है, यथार्थ मे भी वही अन्तिम हो, ऐसी बात नहीं है। सृजन-प्रक्रिया मे प्रत्यय पहले होता है और अनुभव पीछे। यदि हम यह मानते हैं कि आनुभविक शृंखला की जड़ें किसी ऐसी शृंखला मे है जो आनुभविक से कुछ अधिक हैं तो हमे यह मानना होगा कि ईश्वर ससार से पहले है। यदि काल ही अन्तिम सत्ता है तो जिन मूल्यों के प्रति हमारी इतनी आस्था है और जिनके द्वारा हम वास्तविक तथ्यों का मूल्यांकन करते हैं, वे ऐसी क्षणिक कल्पना या परिवर्तनशील विचार या आदर्श-भर रह जाएंगे जिनमे विश्व की प्रक्रिया के कुछ अंश मौजूद हैं। ऐसे कोई निरपेक्ष या पूर्ण पैमाने नहीं हैं जिनसे हम अनुभव का सापेक्ष-मूल्य निर्धारित कर सकें। यदि मूल्य वास्तविक

[1] स्पेस, टाइम एण्ड डाइटी, २ पृष्ठ ३५३।

और यथार्थ हैं तो उनकी यथार्थता परिवर्तमान वस्तुओं की यथार्थता नहीं है। उनका सम्बन्ध एक ऐसे क्षेत्र से है जो समस्त आकस्मिकता और परिवर्तनों से ऊपर है। जिस हद तक वे हमारे संसार में प्रकट होते हैं, उस हद तक हमारा संसार वास्तविक है और हमारे मूल्यांकनों का क्रियात्मक महत्त्व है। भौतिक वस्तु के दबाव के भीतर हम जीवन की प्रवेश की आकांक्षा देखते हैं और जीवन की गति के भीतर हम मन की उद्भव की गहरी आकांक्षा पाते हैं और हमारा चेतन अनुभव अमर सत्ता को प्राप्त करने का एक सुदीर्घ प्रयत्न है।

लॉयड मॉर्गन का,[1] जिन्होंने आनुभविक ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में अलेक्जेंडर के समान ही विचार और रुख अपनाया है, कहना है कि इतिहास का घटनाक्रम केवल कालिक अनुक्रम के द्वारा ठीक-ठीक समझाया नहीं जा सकता। उनका कहना है कि एक नयी किस्म की आंगिक वस्तुओं का एक ऐसा श्रेणी-बद्ध क्रम है *जिसमें अतीत के विकास के गुण भी हैं और जिसमें भविष्य में भी प्रकृति के क्रम-बद्ध विकास में ऐसे नये ऊर्ध्वमुख चरण आ सकते हैं,* हालांकि हम उनके स्वरूप और लक्षणों को पहले से नहीं जान सकते। संसार निर्माण की प्रक्रिया में से निरन्तर गुज़र रहा है। प्रगति के हर चरण में हम निर्माण-सामग्री में अधिकाधिक सम्मिश्रता और पदार्थ में अधिकाधिक समृद्धता देखते हैं। इस प्रक्रिया की व्याख्या करने के लिए लॉयड मॉर्गन बहुत सी आत्माओं की कल्पना करने के बजाय एक ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। वह 'एक ऐसी सत्ता को स्वीकार करते हैं जो यथार्थ भी है और निदेशक क्रिया में युक्त भी। याथार्थिक सम्बद्धता और निदेशन-सम्बन्धी अन्य प्रेक्षित परिवर्तन (जिनके साथ विज्ञान का सम्बन्ध है) उसकी अभिव्यक्ति हैं।'[2] 'अच्छा हो या बुरा, मैं ईश्वर को एक ऐसी उत्प्रवृत्ति (नाइसस) मानता हूँ जिसकी महत् क्रिया के द्वारा उद्भूत पदार्थों का उद्भव *और उद्भव-सम्बन्धी विकास की सारी प्रक्रिया का निदेशन होता है।'* ईश्वर स्वयं एक उद्भूत गुण नहीं है, बल्कि वह एक महत्क्रिया है जिसके भीतर गुण उद्भूत होते हैं। ईश्वर समस्त गति का प्राण है, वह एक गहरी जड़ है जो सारे वृक्ष को पुष्ट करती है। वह समस्त जीवन का मूल तत्त्व है वह इस कालावच्छिन्न संसार की पृष्ठभूमि में वरन् उसके भीतर विद्यमान एक अपरिवर्तनीय शिव है, हालांकि यह बिलकुल सच है हम इस सृजनकारी परमात्मा तक न पहुँच सकते,

१. इमर्जेंट एवोल्यूशन (१९२३), लाइफ, माइंड एण्ड स्पिरिट (१९२४)।
२. कण्टेम्पोरेरी ब्रिटिश फिलासफी, प्रथम सीरीज़ (१९२४), पृष्ठ ३०३-३०४।

यदि हमने इस आनुभविक संसार को न देखा होता जो कि इसके अस्तित्व को सिद्ध करता है। इतिहास का क्रम ईश्वर की क्रमिक आत्माभिव्यक्ति है। लॉयड मॉर्गन ने हमें यह नहीं बताया कि क्या उनकी राय में यह उद्भव किसी निर्धारित नियम के अनुसार होता है या वह स्वतन्त्र सृजन की प्रक्रिया है। स्पिनोजा के प्रति उनकी आस्था को देखकर यह सन्देह होता है कि शायद वह निर्धारित नियम के अनुसार उद्भव मानते है और उनके मन में उसमें स्वतन्त्रता-जैसी चीज नहीं है। यह सही है कि लॉयड मॉर्गन के मत में उद्भव के विकास का प्राक्कथन नहीं किया जा सकता। फिर भी बेर्गसा ने सृजनात्मक विकास को जिस प्रकार अनिर्धारित और स्वच्छन्द माना है वैसा अनिर्धारित और स्वच्छन्द लॉयड मॉर्गन औद्भविक विकास को नहीं मानते है। किन्तु साथ ही केवल मानव-मन ही नहीं, कोई भी मन उसका प्राक्कथन नहीं कर सकता। लॉयड मॉर्गन स्पिनोजा के दार्शनिक दृष्टिकोण को स्वीकार करते है, अत उनके लिए सही मानों में उद्भव को स्वीकार करना कठिन है।

किन्तु लॉयड मॉर्गन ब्रह्माण्ड के सोद्देश्य निदेशन से मनुष्य में दिव्यता के आगमन का अनुमान लगाते है। किन्तु उन्होंने अपने ईश्वर को नित्य और विभु माना है। उनका कहना है कि सत्ता का क्षेत्र एक ही है, जो प्राकृतिक भी है और आध्यात्मिक भी। वह दो प्रकार की अलग-अलग सत्ताओं के विचार के विरोधी हैं। 'घटनाओं का समस्त क्रम, जो विकास के अन्तर्गत आ जाता है, ईश्वर के उद्देश्य की अभिव्यक्ति है।'[1] उद्देश्य को ब्रह्माण्ड से अलग करने में उनका अभिप्राय यह है कि उद्देश्य एक प्रकार से हमारे ज्ञान से अतीत है। ह्वाइटहैड की विचारधारा में हम ज्ञानातीतता के तत्त्व की स्पष्ट स्वीकृति पाते है।

५. ह्वाइटहैड का आन्तरिक विकासवाद :

ह्वाइटहैड ने तमाम प्राकृतिकवादी विचारधाराओं की व्यर्थता को स्पष्ट रूप में अनुभव किया है और इसीलिए उन्होंने ब्रह्माण्ड-प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्लेटो के विचार का आश्रय लिया है। उन्होंने अलेग्जेंडर के इस विचार से मतैक्य प्रकट किया है कि ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, हम उससे कुछ अधिक ही प्राप्त करते है और फिर भी किसी भी वस्तु का तब तक उद्भव नहीं हो सकता, जब तक कि उसके घटक तत्त्व पहले से मौजूद न हो। अलेग्जेंडर का मत है कि जब समूचे देश-काल

१. माइंड ऐंड दि क्रासने, भूमिका।

के भीतर घटनाओं के ताने-बाने का विन्यास एक निश्चित सम्मिश्रता और जटिलता में युक्त हो जाता है तब काल-क्रम में उसमें कुछ गुण उद्भूत हो जाते हैं। किन्तु ह्वाइटहैड का कहना है कि ये गुण कोई नयी उद्भूत होने वाली वस्तु नहीं हैं, बल्कि प्रारम्भ से ही उसमें बीज-रूप में विद्यमान रहते हैं। नित्य वस्तुओं का घटनाओं में पहले से ही बीज-रूप में उपस्थित होना ही इतिहास के क्रम में घटनाओं के घटित होने की व्याख्या कर सकता है। ब्रह्माण्ड घटनाओं की एक विकासमान शृंखला है, जिसमें विभिन्न प्रकार की श्रेणियाँ और मूल्य होते हैं। हर कदम पर हम एक ऐसी वस्तु का उद्भव देखते हैं, जो सही अर्थों में नहीं होती है, जो प्रगति की शृंखला के पहले चरणों में नहीं थी। परिवर्तन का अर्थ पहले से भीतर विद्यमान वस्तु की बाह्य अभिव्यक्ति-मात्र नहीं है और न ही वह वस्तु का निर्माण करने वाले घटकों का क्रम-परिवर्तन ही है, बल्कि परिवर्तन में जो समग्र वस्तु बनती है वह कुछ नहीं होती है। उच्चतर वस्तु की हम निम्न वस्तु के रूप में समुचित व्याख्या नहीं कर सकते। प्रत्येक घटना एक चमत्कार है, एक सर्वथा नयी घटना है। वह एक प्रत्यय को, जो इस ब्रह्माण्ड से परे की चीज़ है, मूर्त करती है और एक सन्तोषजनक ब्रह्माण्ड-घटनाक्रम उसकी व्याख्या के लिए होना चाहिए। ह्वाइटहैड का कहना है कि संसार में एक नित्य क्रम और एक सृजनात्मक यथार्थ सत्ता है। ब्रह्माण्ड के घटनाक्रम में उस नित्य व्यवस्था की ओर बढ़ने की उत्प्रवृत्ति है, जो उसके परे है, फिर भी ब्रह्माण्ड के घटना-क्रम में अधिकाधिक साकार होती है। सरलतम घटनाएँ भी ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनमें लाल रंग और मधुर स्वाद आदि नित्य वस्तुएँ, जो घटना नहीं हैं, अन्तःप्रविष्ट हो जाती हैं। ह्वाइटहैड का कहना है कि एक स्वतन्त्र सम्भावना केवल कुछ सीमाओं और मर्यादाओं के कारण ही एक निश्चित वास्तविकता बनती है। वास्तविक ब्रह्माण्ड के नियमों का पालन करके ही एक तत्त्व सत्ता बनता है और एक वस्तु घटना बनती है। एक वास्तविक घटना एक मिलन-बिन्दु है जहाँ वास्तविकताओं का संसार और आदर्श या प्राथमिक सम्भावनाओं का संसार आकर मिलते हैं। नित्य वस्तुएँ सृजनात्मक प्रवाह के साथ पारस्परिक क्रिया-अनुक्रिया में वास्तविकता का रूप धारण करती हैं, किन्तु देश-काल, मर्यादाएँ, अतीत का कारणिक दबाव या खिंचाव और वह अन्तिम सत्ता, जिसे हम ईश्वर कह सकते हैं, उन्हें एक नियम और सीमा में बाँधती हैं जिनका उन्हें पालन करना पड़ता है। ईश्वर ही सम्भावनाओं के राज्य और निश्चित तथ्यों के संसार की पूर्व-कल्पना

करता है ताकि वे नयी वस्तु के सृजन के लिए एक मिलन-बिन्दु पर केन्द्रित हो सकें। वही अपनी प्रकृति को ऊपर से प्रयुक्त कर घटनाओं की आदर्श योजनाएँ निर्धारित करता है। इस ईश्वरीय नियन्त्रण के बिना आदर्श आकारों के असीम समार और अमर्यादित क्रिया के मेल से कोई निश्चित वस्तु प्राप्त नहीं की जा सकती। ह्वाइटहैड का कहना है कि ब्रह्माण्ड में हमें ऐसी सृजनात्मकता दिखायी पड़ती है जिसमें असीम स्वतन्त्रता है और असीम आकारों की सम्भावना का एक असीम क्षेत्र है किन्तु यह सृजनात्मकता और ये असीम आकार तब तक वास्तविकता का रूप धारण नहीं कर सकते जब तक कि आदर्श ऐक्य और महत्त्वरता न हो और वही ईश्वर है।[1] ईश्वर ही ब्रह्माण्डव्यापी असीम वस्तुओं का और आदर्श ऐक्य तथा महत्त्वरता का आधार है।

ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया में धीरे-धीरे नित्य क्रम व्यवस्था भी, जो ईश्वर के स्वरूप में निहित है, समाविष्ट होती जाती है। ईश्वर की 'आद्य' प्रकृति, जिसमें ह्वाइटहैड का अभिप्राय एक ऐसे ईश्वर से है जो काल से पूर्व नहीं बल्कि काल से अतीत है उन सम्भावनाओं की सकल्पनात्मक चेतना है, जो एक ही समय में परस्पर समस्वरता के साथ साकार हो सकती हैं। ये सम्भावनाएँ 'नित्य लक्ष्य' कहलाती हैं। प्लेटो के प्रत्यय जहाँ पदार्थ हैं वहाँ ये 'नित्य लक्ष्य' पदार्थ नहीं हैं, केवल आकार हैं। जब हम यह मानते हैं कि आकार सकल्पनात्मक रूप में ईश्वर में निहित रहते हैं तब हम स्वतन्त्र अस्तित्व और पोषण की यथार्थता की उपेक्षा कर देते हैं। इन नित्य लक्ष्यों की सत्ता वास्तविकता की छायानुकृति नहीं है, बल्कि केवल सम्भावना-मात्र है। वे कोई ऐसी अतिप्राकृत शक्तियाँ नहीं हैं जो इस सत् जगत् का निर्माण करती हों, न वे ऐसी कोई गतिशील शक्तियाँ हैं, जो मानवों और वस्तुओं को अपनी ओर आकृष्ट करती हों। वे अपने आकस्मिक अस्तित्व के प्रति उदासीन हैं, और यह सम्भव है कि उनमें से बहुत से लक्ष्य कभी अस्तित्व में आये ही न हों। वे नित्य और कालावच्छिन्न हैं। जब और सब-कुछ नष्ट हो जाता है तब भी वे नष्ट नहीं होते। वे काल्पनिक या अमूर्त नहीं हैं, बल्कि वे एक-जैसे और वैयक्तिक, पूर्णव्यापी एवं अविद्यमान हैं। इनमें से कुछ लक्ष्यों का बोध हमें उनकी अभिव्यक्ति में पूर्व तार्किक सम्भावना के रूप में होता है और कुछ को हम ऐसे मूल्यों के प्रतीकों के रूप में जानते हैं जिन्हें प्राप्त करने का हम प्रयत्न करते हैं। फिर भी वे उत्पादक कारण नहीं हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध विशुद्ध सत्ता के राज्य

1. रिलिजन इन दि मेकिंग, पृष्ठ ६०।

में है। आकार और इस कालावच्छिन्न संसार का सम्बन्ध वही है जो सम्भावनाओं का वास्तविकताओं के साथ है। आकार और कालिक प्रक्रिया, दोनों को एक-दूसरे की जरूरत है। प्रक्रिया एक क्रम और निर्धारित नियम के अनुसार तभी चल सकती है जबकि वह आकारों में भाग ले और आकारों का अस्तित्व तभी रह सकता है जबकि वे घटना की प्रक्रिया में वास्तविक रूप धारण कर सकें। कालावच्छिन्न संसार में घटित वास्तविकताओं की उत्पत्ति की ऐसी प्रक्रियाओं के रूप में वर्णित करने की आवश्यकता नहीं है, जिनके द्वारा एकाकी सृजनात्मकता वस्तुओं के पूर्व-निर्धारण, स्वरूप और क्रम को नियमित करती है। एक ओर वास्तविकता का उद्भव अन्य सब वास्तविकताओं की पृष्ठभूमि में होता है और ये वास्तविकताएँ उसे अनुकूलित भी करती हैं और दूसरी ओर यह वास्तविकता आत्म-निर्माण की एक प्रक्रिया भी है। उसके सामने जो सामग्री प्रस्तुत होती है, उसे वह उद्देश्यों या प्रयोजनों की रोशनी में सघटित रूप प्रदान करती है। ईश्वर के स्वरूप में जो सम्भावनाएँ हम देखते हैं उन्हें *कालावस्थायी वास्तविकताएँ* साकार करती हैं। इस प्रकार हम दो चीजें देखते हैं—एक सृजनात्मकता और दूसरी ईश्वर की आद्य प्रकृति जो कालिक क्रम में पूर्व वस्तुओं की सम्भावनाओं की एक कल्पना है। ईश्वर 'वास्तविक किन्तु अकालावच्छिन्न सत्ता है जिसके द्वारा निरी-सृजनात्मकता की अनिर्धारितता एक निर्धारक स्वतन्त्रता में परिणत हो जाती है।'[1]

ह्वाइटहेड की दृष्टि में ईश्वर और संसार का सम्बन्ध सर्वव्यापित्व और परस्पर-व्यापित्व का सम्बन्ध है। सभी सम्बन्ध क्योंकि अन्योन्य-सम्बन्ध होते हैं, इसलिए ईश्वर संसार व्यापी है और संसार ईश्वर व्यापी। क्योंकि ईश्वर संसार से भी परे है इसलिए संसार भी ईश्वर से परे है। संसार में हम जो क्रम और प्रयोजन देखते हैं वह वास्तविकता द्वारा अपने सम्मुख उपस्थित उच्चतम सम्भावनाओं की पूर्ति का परिणाम है। वह उच्चतम सम्भावना ईश्वर की तत्सम्बन्धी कल्पना है। परिणत (कौन्सिक्वेंट) ईश्वर आद्य ईश्वर से भिन्न है। विश्व की क्रमबद्धता और सौन्दर्यपूर्ण सहस्वरता ईश्वर की प्रकृति का अंग बन जाती हैं, क्योंकि वह नित्य है और इसीलिए मूल्यांकन के कालातीत पक्ष में वह नित्य वस्तु के रूप में उस (ईश्वर) में सुरक्षित हो जाती है। ह्वाइटहैड का कहना है कि ईश्वर संसार का स्रष्टा उतना नहीं है जितना कि त्राता। ईश्वर सम्भावनाओं

१. रिलिजन इन दि मेकिंग, पृष्ठ ६०।

की एक आश्चर्यजनक सम्पदा अपनी दृष्टि में रखता है जिस पर संसार ने अभी नज़र डालना भी मुश्किल से शुरू किया है, इसलिए स्वभावतः ईश्वर संसार से अतीत है। लेकिन इसी कारण से संसार भी ईश्वर से अतीत है। संसार में क्रम और व्यवस्था पूर्ण तथा सर्वव्यापी नहीं है। खण्डशः विद्यमान और अदूरदर्शितापूर्ण तथा आत्म-केन्द्रित उद्देश्यों के कारण हम संसार में अव्यवस्था और भूल देखते हैं और इन उद्देश्यों में ही बुराई और पाप का उदय होता है।[1] ईश्वर क्रम की एक ऐसी कल्पना है जिसे संसार को साकार करना है, इसलिए वह संसार से ऊपर है और वह संसार द्वारा उपलब्ध की गई क्रम-व्यवस्था का मूल है, इसलिए वह संसार में व्यापी भी है।

ह्वाइटहैड ने अन्तिम सत्ता और ईश्वर में भेद किया है। उसकी दृष्टि में अन्तिम सत्ता सृजनात्मकता है, जो अपने अतात्त्विक गुणों के कारण वास्तविक है और ईश्वर आद्य अकालावच्छिन्न अतात्त्विक गुण है।[2] ईश्वर निरपेक्ष नहीं है, बल्कि निरपेक्ष के अतात्त्विक गुणी वास्तविकीकरणों में से एक है। यह कल्पना करना कठिन है कि यह अन्तिम सृजनात्मकता, जो अपने निज के किसी भी स्वरूप या लक्षण से रहित विशुद्ध अनिर्धारण बताई जाती है, वास्तव में क्या है? जो सीमा या मर्यादा इस विशुद्ध अनिर्धारित सृजनात्मकता को एक निर्धारित स्वतंत्रता में परिणत करती है, उसका स्रोत क्या है? क्योंकि ईश्वर स्वयं अतात्त्विक गुणों में से एक है, इसलिए वह अतात्त्विक गुणों का स्रोत नहीं हो सकता। वह कारण और कार्य दोनों नहीं हो सकता। जब तक हम अन्तिम सत्ता की एक ऐसे निरपेक्ष मन की भांति, जिसमें प्रात्ययिक सत्ता और स्वतन्त्र सृजनात्मकता दोनों लक्षण हों, सन्तोषजनक रूप में कल्पना न करें, तब तक वह निरा तार्किक अमूर्तकरण ही रहेगी। 'सृजनात्मकता भी ठीक उसी तरह से अपने निज के किसी स्वरूप या लक्षण से रहित है, जिस तरह अरस्तू के दर्शन में स्वीकृत "पदार्थ"।' 'वह हमेशा कुछ उपाधियों से युक्त पाई जाती है और उसे कुछ उपाधियों से युक्त रूप में वर्णित किया जाता है।'[3] क्योंकि वह केवल अपने कुछ अतात्त्विक गुणों के कारण ही वास्तविक है, इसलिए वह एक अन्तर्निहित तत्त्वपरक अमूर्तकरण है। वह केवल ईश्वर में निहित है। ठीक-ठीक कहा जाए तो ईश्वर उच्चतम यथार्थता

१. साइन्स एण्ड दि मॉडर्न वर्ल्ड, पृष्ठ २३६।
२. प्रोसेस एण्ड रियेलिटी (१६२६), पृष्ठ ६।
३. प्रोसेस एण्ड रियेलिटी (१६२६), पृष्ठ ४२-४३।

या निरपेक्षपूर्ण है। वह ब्रह्माण्ड प्रक्रिया का तात्त्विक पूर्वाधार है। यह ब्रह्माण्ड प्रक्रिया तभी चल सकती है जबकि कोई आद्य प्रकृति हो, किन्तु इस आद्य प्रकृति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसमें पहले कोई ब्रह्माण्ड प्रक्रिया भी हो ही। यही कारण है कि विशुद्ध अव्यवस्था स्वभावतः ही असम्भव है। सृजनात्मक प्रगति हमें अपनी सकल्पनात्मक योजना की पूर्ति की दिशा में ले जाती है। ब्रह्माण्ड की सारी योजना ईश्वर की प्रकृति में पर्याप्त रूप से विद्यमान है, क्योंकि वह ईश्वर की आद्य सकल्पनात्मक प्रकृति की ही नित्य पूर्ति है। ईश्वर की 'परिणत' (कौन्सिक्वेंण्ट) प्रकृति विकासमान जगत् के सम्बन्ध की अपेक्षा में ही विकसित होती है। ह्वाइटहैड का कहना है कि ईश्वर एक आनुभविक घटना है क्योंकि 'ईश्वर एक वास्तविक सत्ता है और इसीलिए वह सुदूर-विस्तीर्ण शून्य देश में सत्ता का एक अत्यन्त तुच्छ निःश्वास है।'[1] यहाँ तक कि ईश्वर की 'आद्य प्रकृति', जो नित्य वस्तुओं का सम्पूर्ण ताना-बाना है, एक सृष्ट तथ्य है।[2] यदि ईश्वर 'आद्य सृष्टि' न हो तो ऐसी नित्य वस्तुएँ, जो साकार नहीं हो सकी, सत्ता-हीन रहेगी। किन्तु क्योंकि ईश्वर 'परिणत' प्रकृति भी है, इसलिए वह आदि भी है और अन्त भी। वह वस्तु को मूर्त रूप देने वाला एक ऐसा तत्व है जिसके द्वारा उसकी सकल्पनात्मक योजना तथ्य का रूप धारण करती है। 'ईश्वर की परिणत प्रकृति विश्व के सम्बन्धों में उसका निर्णय है।' ह्वाइटहैड के अनुसार वास्तविक विश्व-प्रक्रिया की व्याख्या के लिए ईश्वर के त्रिविध स्वरूप की आवश्यकता है : (१) ज्ञानमय ईश्वर अर्थात् आद्य-प्रकृति, (२) प्रेममय ईश्वर, और (३) निर्णयात्मक ईश्वर। उसकी यह कल्पना हिन्दू विचारधारा में ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूप में ईश्वर की त्रिविध कल्पना का स्मरण कराती है। ब्रह्माण्ड में तीन प्रकार का सृजनात्मक कार्य शामिल है : (१) ब्रह्माण्ड को एक अनन्त सकल्पनात्मक आकार देना, (२) कालावच्छिन्न संसार में स्वतन्त्र भौतिक आकार प्रदान कर उसमें विविधता स्थापित करना[3] और (३) वास्तविक तथ्य के अनेकत्व का आद्य सकल्पनात्मक तथ्य के साथ एकत्व स्थापित करना।[4] ईश्वर समस्त विकास-योजना

१. प्रोसेस एण्ड रियैलिटी, पृष्ठ ७४।
२. प्रोसेस एण्ड रियैलिटी, पृष्ठ ४२।
३. 'जिस काल्पनिक चित्र के रूप में ईश्वर की प्रकृति को इस नियामक बुद्धि की सर्वोत्तम कल्पना की जा सकती है, वह इस बात की चिन्ता का चित्र है कि कुछ भी नष्ट न हो— किन्तु यह काल्पनिक चित्र-मात्र ही है।'
४. प्रोसेस एण्ड रियैलिटी, पृष्ठ ४६०।

की आधारभूमि भी है और लक्ष्य भी। ह्वाइटहैड का दृष्टिकोण विशुद्ध दार्शनिक है और उसने जिन प्रेम और वात्सल्य शब्दों का प्रयोग किया है, वे ब्रह्माडीय तत्वों के लिए ठीक उपयुक्त नहीं हैं। इसके अलावा ह्वाइटहैड की विचारधारा के अनुसार ईश्वर पर यथार्थता की प्रक्रिया का भी प्रभाव पड़ता है। उसकी प्रकृति विश्व-प्रक्रिया के रूप में ही पूर्णत: साकार होती है। हर अवस्था मे उसके दो पहलू होते हैं। एक अतीत होता है जो फिर से लौटाया नहीं जा सकता, और साथ ही एक भविष्य भी होता है जो अभी तक विद्यमान नहीं है। जब ईश्वर की योजना पूर्ण हो जाती है जब आद्य प्रकृति परिणत प्रकृति बन जाती है स्पिनोजा के शब्दों मे जब 'नेचुरा नेचुरन्स' और 'नेचुरा नेचुरॅटा' एक ही हो जाते हैं तब ईश्वर का क्या होता है, यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया गया है।

६. ईश्वर :

घटनाओं के ऐतिहासिक संसार की व्याख्या हम उसके अपने भीतर से नहीं कर सकते। ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे दिए जाने वाले प्रसिद्ध 'प्रमाणों' मे यही तथ्य हमारे सामने आता है। हो सकता है कि ये प्रमाण ईश्वर के अस्तित्व को तर्क से सिद्ध न कर सकते हो, किन्तु जब अन्य उपायो से हमारे मन मे ईश्वर के अस्तित्व का निश्चय हो जाता है तो ये प्रमाण हमे उसकी तर्क-सगतता को समझाने मे सहायता अवश्य देते है। तर्क का कार्य प्रमाण देना उतना नहीं है, जितना कि अनिर्णीत वस्तु के सम्बन्ध मे निर्णय करना है। रहस्यवादी लोग ईश्वर की यथार्थता को जिस रूप मे अनुभव करते है वह वैज्ञानिक तथ्यो और उन पर आधृत तर्क के साथ बहुत सगत है।

प्राकृतिकवाद की अपर्याप्तता यह सिद्ध करती है कि विश्व की प्रक्रिया की, जिसमे क्रम-व्यवस्था भी है और सृजनात्मकता भी, व्याख्या के लिए एक सृजनात्मक शक्ति का होना अनिवार्य है। क्योंकि विश्व की प्रक्रिया के मूल उद्गम की खोज मे हम चाहे कितना भी पीछे जाएँ, हम देश या काल से बाहर नहीं जा सकते और न हम देश-काल की सरचना की ही कोई ठीक-ठीक व्याख्या कर सकते है। ब्रह्माण्ड की तर्कयुक्तता हमे यह बताती है कि उसका सृजन करने वाली सृजनात्मक शक्ति मन या आत्मा है। इस सृजनात्मक शक्ति को प्राण-शक्ति या जीवन मानने का, जैसा कि बेर्गसा का कहना है, कोई कारण नहीं है। हम उसे आत्मा भी नहीं मान सकते, क्योंकि आत्मा उन वस्तुओं मे उच्चतम है, जिन्हें

हम जानते हैं। इस विषय मे देकार्ते का तर्क सुप्रसिद्ध है। उसका कहना है, क्योकि हमारे अपने मूल अस्तित्व या क्षण-प्रतिक्षण अस्तित्व का कारण हम स्वय या हमारे जैसे अन्य प्राणी नही है, इसलिए कोई आद्य और मूलभूत कारण अर्थात् *ईश्वर अवश्य होना चाहिए।* ईश्वर सामान्य अर्थ मे ससार का कारण नही है, क्योकि उस दशा मे वह घटनाओ की शृङ्खला के अन्तर्गत एक घटना बन जाएगा। इस तरह मे विश्व की रचना का कारण स्वय विश्व के बाहर है। ईश्वर विश्व से पहले है, किन्तु उसका यह पूर्ववर्तित्व कालिक अर्थ मे नही है। वह तार्किक दृष्टि से विश्व का पूर्ववर्ती है।

ब्रह्माण्ड की अन्तिम सृजनात्मक ऊर्जा एक ही है, अनेक नही, क्योकि ब्रह्माण्ड की सारी रचना परस्पर इतनी गुँथी हुई है कि यह कल्पना ही नही की जा सकती कि वह एकाधिक शक्तियो के सघर्ष का परिणाम है। ब्रह्माण्ड के मूल कारण मे तीन गुण है---एकत्व, चेतना और अस्तित्व की प्राथमिकता।

उद्देश्यवादी तर्क हमे यह बताता है कि यह मूल कारण सृजनात्मक इच्छा और प्रयोजन है। *यह अनन्त विविधतापूर्ण ससार अपने-आपको परमात्मा की सेवा मे लगाता है।* विकास की सप्रयोजनता और सोद्देश्यता के विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि प्रयोजन या मन अपनी गलतियो से कोई सबक लेता प्रतीत नही होता। किन्तु यदि ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया का उद्देश्य स्वतन्त्रता के गुण से युक्त मानवीय व्यक्तियो को साहसपूर्वक परीक्षण करने और भूल करके उसे सुधारने की प्रक्रिया के द्वारा पूर्ण बनाना है तो अनिश्चितता और साहसिकता के *इस तन्त्र का ब्रह्माण्ड मे रहना अनिवार्य है। उद्देश्य घटनाओं के ढाँचे के* भीतर कार्य करता है। यद्यपि हमे ऐसे लक्षण नजर आते है जिनमे लगता है कि संसार मे हो रहे विकास मे उद्देश्य और प्रयोजन का अभाव है, तो भी विकास मे हम ऐसे विशिष्ट आकारों की ओर सामान्य प्रवृत्ति देखते हैं जो अभी तक पैदा नही हो सके हैं। ससार मे हम जो असत्य, अशिव, असुन्दर देखते है उससे *ससार की सोद्देश्यता मे कोई फर्क नहीं पडता। जैसा कि मैकटेगार्ट ने कहा है,* असत्य, अशिव और असुन्दर इतनी बुरी चीज नही है कि वे सत्य न हो। सम्भवतः ब्रह्माण्ड मे कानून के शासन की वृहत्तर भलाई के लिए वे आवश्यक है। ब्रह्माण्ड मे अच्छाई (शिव) की अतिशयता के लिए यह आवश्यक है कि ब्रह्माण्ड मे एक व्यवस्था और क्रम हो और उसका अर्थ ऐसे उत्कट कष्ट और अनुभव के ऐसे तथ्य हो सकते हैं जो ऊपर से देखने में *ब्रह्माण्ड की सोद्देश्यता के साथ सगत प्रतीत न*

हो। यदि मनुष्य का जीवन उतना ही है जितना कि हम देखते है, यदि जन्म से पूर्व और मृत्यु के बाद उसका कोई जीवन नही है, तो शायद हमारे लिए यह सिद्ध करना सम्भव नही होगा कि विकट कष्ट-सहन और असह्य वेदना की कीमत चुकाकर अन्ततः विश्व मे अच्छाई और कल्याण का ही प्राधान्य होता है। कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त हमे यह बताते हैं कि विश्व के मूल्य पर असत्य, अशिव और असुन्दर की वास्तविकता का कोई असर नही पड़ता। ब्रह्माण्ड एक है और उसमे ये तत्त्व क्रमिक प्रक्रिया मे अपने विपरीत तत्त्वों मे परिणत होते जाते है।

आध्यात्मिक अनुभव और धर्म के कार्य की यथार्थता से हम स्वभावतः उस परिवेश की यथार्थता का अनुमान कर सकते हैं जिसमे कि इस कार्य का उपयोग होता है। हमने यह देखा है कि वस्तु और उसका परिवेश साथ-साथ रहते हैं, और दोनो को एक बृहत्तर समष्टि की, जिसमे दोनों शामिल हैं, अभिव्यक्ति माना जा सकता है। मनुष्य की धार्मिक प्रवृत्तियां केवल उसके कालिक परिवेश तक ही सीमित नही रह सकती। उन्हे एक ऐसी अकालावच्छिन्न अच्छाई (शिव) की आवश्यकता है जो कालिक ससार की वस्तु नही है। आत्मा और ब्रह्माण्ड की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया ने इन प्रवृत्तियो की आकाक्षाओ को जन्म दिया है, जो इन दोनो (ब्रह्माण्ड और आत्मा) की सयुक्त उपज हैं। ससार में जो दावे और जवाबी दावे किये जाते हैं, वे नैतिक भावना को सन्तुष्ट नही कर सकते। कालावच्छिन्न ससार ही एकमात्र और अन्तिम ससार नही है। ब्रह्माण्ड का तर्कयुक्त और सोद्देश्य स्वरूप हमे यह मानने के लिए पर्याप्त औचित्य और आधार प्रदान करता है कि ससार का एक आध्यात्मिक परिवेश भी है।

एक ऐसा ईश्वर, जो एक चेतन उद्देश्य से काम करने वाला सर्वव्यापी मन है, जो विश्व का आदि, उसके क्रम और व्यवस्था का रचयिता, उसकी प्रगति का मूल तत्त्व और साथ ही उसके विकास का उद्देश्य भी है, तब तक धर्म का ईश्वर नही हो सकता, जब तक कि हम धार्मिक चेतना के तथ्यो को दृष्टि मे न रखे। हमारा नैतिक जीवन हमे बताता है कि ईश्वर केवल नैतिक प्रयत्न का उद्देश्य ही नही है, बल्कि वह उसका आदि-स्रोत और सन्धारक भी है। हमारा आध्यात्मिक अनुभव हमे बताता है कि एक सर्वोच्च और सर्वसमावेशी सत्ता भी है। विश्व की सरचना और मानव के मन मे एक सम्बन्ध है। हमारे ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष ज्ञान, हमारी तार्किक अवधारणाएँ, हमारे अन्तर्ज्ञानात्मक बोध यथार्थता पर ऊपर से थोपे हुए आकार नही है, बल्कि स्वय यथार्थता के अपने निर्धारित आकार

हैं। प्रारम्भ में ही हमारे सामने कुछ ऐसी वस्तुएँ रहती हैं जिनका अपना अस्तित्व होता है, तो अनुभूत होती है। यह ठीक है कि हमें वस्तुओं का ज्ञान या अनुभव उस समय होता है जब कि हमारे मन उसके लिए प्रशिक्षित और दक्ष हो जाते हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वस्तुएँ आत्मनिष्ठ होती हैं। गुलाब को देखने के लिए हमें अपनी निगाह को उसकी तरफ फेरना पड़ता है। उसी प्रकार परमात्मा को प्राप्त करने के लिए मन को शुद्ध करना आवश्यक है। यह ठीक है कि परमात्मा को केवल वही लोग देख सकते हैं कि जिनके हृदय पवित्र हैं, दूसरे नहीं, किन्तु इससे उसकी यथार्थता पर कोई आँच नहीं आती।

परमात्मा ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया की यथार्थता है। हमारे व्यक्तिगत अनुभव में जो कुछ आता है, उसका हम अन्तिम सत्ता की पूर्ण सत्यता के साथ प्राक्कथन नहीं कर सकते, हालांकि इस अनुभव में कोई भी तत्त्व अर्थ या मूल्य से रहित नहीं है। हमारे अनुभव का कोई भी तत्त्व भ्रमपूर्ण नहीं है, हालांकि उसके हर तत्त्व में उसी हद तक यथार्थता है, जिस हद तक वह यथार्थ की प्रकृति को अभिव्यक्त करने में सफल होता है।

ज्ञान, प्रेम और अच्छाई (शिव) के रूप में ईश्वर की कल्पना केवल विचार की अमूर्त माँग ही नहीं है, बल्कि वह एक मूर्त यथार्थता है जो धर्म की माँग को सन्तुष्ट करती है। यदि हम दर्शनशास्त्र, आचारशास्त्र और धर्म की विभिन्न दिशाओं से प्राप्त होने वाले विचारों को परस्पर मिलायें तो ईश्वर का जो स्वरूप हमारे सामने आता है उसमें वह आद्य मन, वत्सल मुक्तिदाता और ब्रह्माण्ड का पवित्र निर्णायक होता है। हिन्दुओं की ब्रह्मा, विष्णु और महेश के रूप में ईश्वर की कल्पना उसके त्रिविध स्वरूप को चित्रित करती है। ब्रह्मा ईश्वर की आद्य प्रकृति है। वह विश्व की सम्भावनाओं की परिस्थितियों का, जिन्हें ह्वाइटहैड के शब्दों में 'नित्य वस्तुएँ' कहा जा सकता है, आगार है। यदि ब्रह्माण्ड की बुद्धियुक्त व्यवस्था ईश्वर के मन को प्रतिबिम्बित करती है, तो वह मन अवश्य ही इस विश्व से पहले होना चाहिए। किन्तु ब्रह्मा[1] या आद्य मन के विचार विश्व की वस्तु बन जाने चाहिएं। विचारों को देश-काल के स्तर में परिणत करने की यह प्रक्रिया बहुत आहिस्ता-आहिस्ता होती है और ईश्वर अपनी उत्पादक तथा आत्म-सचारक जीवन की शक्ति से उसमें सहायता देता है। विश्व-प्रक्रिया में सभी वस्तुओं में अपने आदर्श आकारों की प्राप्ति की आकांक्षा होती है। वे अपनी

१- ब्रह्मा अर्थात् स्रष्टा ईश्वर ब्रह्म अर्थात् पूर्ण और निरपेक्ष आत्मा से भिन्न है।

अपूर्णताओं को भाड़ फेंकने के लिए संघर्ष करती है और ईश्वरीय मन में विद्यमान वनत के आकारों को प्रतिबिम्बित करती हैं। ईश्वर इस प्रक्रिया में व्यापक होता है, इसलिए वह प्रगति का आधार भी होता है और पथ-निर्देशक भी। वह केवल दर्शक ही नहीं होता, बल्कि विश्व की प्रसव-वेदना में हिस्सा भी बँटाता है। ईश्वर का विष्णु रूप एक प्रकार से बलिदान है। वह सतत रूप से ब्रह्माण्ड की उन सब परिस्थितियों का विरोध करता रहता है जो असत्य, अशिव और असुन्दर का कारण है, जो केवल अमूर्त सम्भावना-मात्र नहीं है, बल्कि ब्रह्माण्ड के आन्तरिक संघर्ष को यथार्थ बनाने वाली मूर्त शक्तियाँ हैं। ईश्वर हमारे लिए अपनी इच्छाओं को साकार करने के लिए अपनी प्रेम की समस्त सम्पदा को उंडेल देता है। वह असत्य, अशिव और असुन्दर की शक्तियों का प्रतिरोध करने और उन्हें सत्य, शिव और सुन्दर में परिणत करने में हमारी सहायता का भार वहन करता है। ऋग्वेद में कहा गया है, 'जो कुछ नग्न है उसे वह आवृत करता है, जो कुछ रोग-ग्रस्त है उसे वह नीरोग करता है। उसकी कृपा से अन्धे को दृष्टि प्राप्त होती है और लगड़ा चलने लगता है।'[१] 'ईश्वर सब प्राणियों का आश्रय और मित्र है।'[२] ऋग्वेद का कहना है कि 'तू हमारा है और हम तेरे हैं।'[३] ईश्वर हमें जंगल में ले जाकर अकेला भटकने और स्वयं अपना मार्ग खोजकर वापस लौटने के लिए नहीं छोड़ देता। हिन्दू पुराणों में ईश्वर की एक ऐसे नित्य याचक के रूप में कल्पना की गई है जो इस बात की प्रतीक्षा में रहता है कि द्वार खुले तो वह अन्धकार में विद्युत् की तरह घुस आए और हमारी समस्त सत्ता के विस्तीर्ण क्षितिज को आलोकित कर दे। इस कल्पना के अनुसार मानव ईश्वर की उतनी खोज नहीं करता जितनी कि ईश्वर मानव की खोज करता है। वह हमें विकट अरण्य के संकटों से बाहर निकालने के लिए स्वयं उसमें प्रवेश करता है। ईश्वर संसार को इतना प्यार करता है कि वह अपने-आपको उसके हाथों में सौंप देता है। अपनी प्रकृति को हममें संचारित करने के लिए वह हमें अपनी सृजनात्मक शक्ति में हिस्सेदार बनाता है। वह हमसे यह आशा करता है कि हम उसकी पुकार को पहचानें और सुनें और उसके साथ सहयोग करें। वह चाहता है कि हम उसे अपना मित्र, प्रेमी और सखा समझें। ईश्वर पर विश्वास न करना, उसके उद्देश्य को

१. ८. ७९. २; ८. ४. ७।
२. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३. १७; भगवद्गीता ९. १८ भी देखिए।
३. ८. ९२. ३२।

पहचानने और उसकी माँग को स्वीकार करने से इन्कार करना हमारे लिए पाप है। और ईश्वरीय तत्त्व को आत्मसात् करना और उसके उद्देश्य में साझेदार बनना ही हमारे लिए पुण्य है। उसका प्रेम उसकी तात्त्विक प्रकृति है, उसका क्षणिक या अस्थायी गुण नहीं है। वह हमेशा संसार का समुद्धर्त्ता और त्राता है।

यद्यपि यह सही है कि जब तक ईश्वर का प्रेम सक्रिय है तब तक विश्व का विनाश नहीं होगा, तथापि ईश्वर के उद्देश्य की प्राप्ति हमारे सहयोग पर निर्भर है। हम स्वतन्त्र प्राणी हैं, इसलिए हमारा यह सहयोग भी एक स्वतन्त्र दान है, जिसे हम किसी भी समय रोक सकते हैं। इस सम्भावना के कारण ही ब्रह्माण्ड में कुछ आकस्मिकता का तत्त्व आ जाता है। सृजनात्मक प्रक्रिया यद्यपि क्रमबद्ध और प्रगतिशील है, तो भी उसका प्राक्कथन नहीं किया जा सकता। संसार में वास्तव में ही अनिर्धारण की स्थिति है और ईश्वर स्वयं निर्माण की दशा में है। यदि हम यह कहें कि ईश्वर ने एक निश्चित योजना बना रखी है, जिसे वह भौतिक वस्तु (मैटर) पर उतारकर क्रियान्वित कर रहा है तो उसका अर्थ यह है कि हम पूर्व-निर्धारित ब्रह्माण्डीय नियति की ओर जा रहे हैं। किन्तु मानवीय सहयोग विश्व की प्रगति की एक अनिवार्य शर्त है और मानवीय स्वतन्त्रता उसमें कुछ अनिश्चितता के तत्त्व का समावेश कर देती है। संघर्ष कोई परेड नहीं है और इतिहास महज कोई शोभा-यात्रा नहीं है। यद्यपि ईश्वर हमारी सहायता करने के लिए हमेशा तैयार है, तथापि हमारी मूर्खता और स्वार्थी वृत्ति उसके आग्रही प्रेम के मार्ग में बाधा खड़ी कर देती हैं।

जब हम यह कहते हैं कि वत्सल ईश्वर यह प्रयत्न करेगा कि उसकी योजना सफल हो जाए, तो उसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि हम हर वस्तु के पूर्णतः पूर्व-निर्धारित होने के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं। कारण यह है कि उस दशा में मानवीय स्वतन्त्रता का खात्मा हो जाएगा और हमारी सब नैतिक चेष्टाएँ समाप्त हो जाएँगी। आखिरकार जीवन का मूल्य उसमें विद्यमान संघर्ष के कारण है, न कि अन्तिम परिणाम के कारण; और अन्तिम परिणाम भी इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य अपने लक्ष्य के लिए कितनी उत्कट आकांक्षा और उत्साह के साथ काम करता है। यह आशा हमेशा बनी रहती है कि अत्यन्त स्वेच्छाचारी और मनमाने व्यक्ति भी एक दिन ईश्वर के चिरकालिक प्रेम के आगे झुकेंगे। यद्यपि वह हमेशा मानवों के हृदयों में अपने प्रेम का विस्तार करता रहता है और उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता है, तो भी ऐसे अवसर आते हैं जबकि हम

उसके प्रेम का आदर बन्द कर देते हैं और स्थिति को गम्भीर बना देते हैं। जब ससार पर ईश्वर का प्रभाव सकटग्रस्त हो जाता है तब उसका सतत प्रेम अपने-आपको एक अद्भुत और आश्चर्यजनक रूप मे अभिव्यक्त करता है। ईसाई धर्म के अनुसार ऐसा कहा जाता है कि जब परिस्थितियाँ अत्यन्त गम्भीर और सकटापन्न बन गई तब एक बार तो ईश्वर ने ऐसा जल-प्रलय भेज दिया जिसने लगभग समूचे मानव-समाज को नष्ट कर दिया और दूसरी बार ऐसे ही अवसर पर उसने अपने एकमात्र पुत्र को पृथ्वी पर भेजा। इसका अर्थ यह नही है कि ईश्वर का प्रेम एक अतात्विक गुण है जो मनुष्य के पतन के समय ही अभिव्यक्त होता है। हमें यह सोचने की आवश्यकता नही है कि ईश्वर सिर्फ इसलिए हमारी रक्षा या परित्राण के लिए आता है कि यह सृष्टि अपने पथ से भ्रष्ट हो गई है। प्रेम ईश्वर के अन्तरतम मे व्याप्त है। पूर्ण और समग्र आत्मार्पण ईश्वरीय क्रिया का स्वरूप है, हालांकि उससे लाभ उठाने की शक्ति उन लोगों की क्षमता पर निर्भर है जिन्हें वह प्राप्त होता है।

ईश्वर का उद्धार-कार्य उसकी एक सतत् और अनवरत क्रिया है, हालांकि हम उस पर बल उस समय देते हैं जबकि नैतिक व्यवस्था किसी प्रकार विपर्यस्त होती है। ईश्वर अपने-आपको आश्चर्यजनक अद्भुत रूपो मे उस समय अभिव्यक्त करता है जबकि नयी व्यवस्थाएँ और नये फेरफार आवश्यक होते है। हिन्दू पुराणो मे ईश्वर के इन विशिष्ट रूपों को अवतार कहा जाता है। सामान्य प्रचलित विश्वास यह है कि जब अन्धकार घिर आता है, समुद्र और अधिक गहरे हो जाते है और सब-कुछ उलटने-पुलटने को होता है, उस समय ईश्वर स्वय एक अद्भुत रूप मे शरीर धारण करके पृथ्वी पर अवतीर्ण होता है। किन्तु आध्यात्मिक जीवन की सतत् प्रेरणा, ऐसे उद्देश्यो की बढती हुई अभिव्यक्ति, जिनमे कि ईश्वरीय जीवन अपने रूप मे प्रकट होता है और सर्वव्यापी नियम-व्यवस्था, जिसके कारण यह सारा ससार एक है और जो अपने विविध तत्त्वों की पारस्परिक अनुक्रियाओं को एक विशेष दिशा मे ढालता है,—ये सभी चीजे 'सम्पूर्ण' ईश्वर के अवतारी रूप धारण करने की करने की कल्पना के साथ सगत नही हैं। ससार मे निहित सम्भाव्यताओ की पूर्ति और साकारता की दिशा मे चल रही समस्त गति ईश्वर का सतत् अवतारी रूप ही है। किन्तु यह सही है कि आध्यात्मिक मूल्यो की अभिव्यक्ति को हम ईश्वर की अभिव्यक्ति या मानवीय क्षमताओ की पूर्ति के रूप मे देख सकते है। ईश्वर की अभिव्यक्ति और मानव के ध्येय की पूर्ति, ये दोनो

वस्तुएँ परस्पर भिन्न होती हुई भी एक-दूसरे से पृथक् नहीं की जा सकतीं। दोनों एक ही प्रक्रिया के दो पहलू हैं। बुद्ध और ईसा-जैसे महान् व्यक्तियों के जीवन हमारे सामने ईश्वर के *महान् तथ्य को अभिव्यक्त कर और यह बताकर कि विश्व* की प्रकृति ईश्वर का मन्दिर है, हमें वह मार्ग दिखाते हैं जिसमें हम पाप और स्वार्थ पर विजय पा सकते हैं। मानवीय जीवन ने अपने से नीचे की प्रकृति के लिए जो कुछ किया है उसे वह मानवीय जीवन के लिए उपलब्ध करते हैं। पृथ्वी पर जीवन की महान् कहानी एक तरह से 'ईश्वर के बलिदान' की कहानी है।

ईश्वर का प्रेम एक दिन अवश्य सफल होगा, यह बात निश्चित हो जाने से ही मानव का संघर्ष अवास्तविक और अयथार्थ नहीं हो जाता। कारण, ईश्वर *केवल सत्यमय और प्रेममय ही नहीं है, वह न्याय-स्वरूप भी है। वह पूर्ण है जिसमें* अपूर्णता, बुराई और पाप नहीं है। ईश्वर का शिव-रूप उसकी प्रभुता की ओर संकेत करता है। ईश्वर निश्चित नियमों के अनुसार कार्य करता है। वह न अपने नियमों को तोड़ता है और न उन्हें स्थगित करता है। अपने मन को बदलने की स्वतन्त्रता सच्ची स्वतन्त्रता नहीं है। अपराधी चाहे कितना भी पश्चात्ताप करे, ईश्वर उसे माफ नहीं कर सकता, क्योंकि नैतिक व्यवस्था का, जिसका आधार प्रेम है घृणा नहीं यह तकाज़ा है कि पाप और अपराध करने वाले को उसके स्वाभाविक परिणाम और दण्ड दिए जाएँ। प्लेटो ने कहा है, '*तुम ईश्वर के न्याय से बच नहीं* सकते चाहे तुम कितना ही लघु रूप धारण कर पाताल-लोक में छिप जाओ और चाहे विराट् रूप धारण कर स्वर्ग में जा पहुँचो। तुम्हें अपने कर्मों का दण्ड भोगना ही होगा, फिर चाहे तुम उसे इसी लोक में भोगो और चाहे पाताल-लोक में या किसी अन्य वीरान लोक में जाकर भोगो।'[1] एक ही ईश्वर ब्रह्मा के रूप में सृष्टि को पैदा करता है, विष्णु के रूप में उसका पालन करता है और शिव के रूप में उसका निर्णय कर पाप-पुण्य का फल देता है। ये तीनों रूप संसार के तीन *चरणों—योजना, प्रक्रिया और पूर्णता—का* प्रतिनिधित्व करते हैं। जिस स्रोत से सब वस्तुएँ पैदा होती हैं, जिस धारा से वे परिपुष्ट होती हैं और जिस कल्याण रूप में वे प्रविष्ट होती हैं, वे तीनों एक ही हैं।[2] ईश्वर हमें प्यार करता है, पैदा करता है और हम पर शासन करता है। सृष्टि, स्थिति और लय ईश्वर के तथ्य के ही तीन भिन्न-भिन्न नाम हैं।

१. लॉज ९०५ ए। टेलर : दि फेथ ऑफ ए मॉरलिस्ट (१९३१), १, पृष्ठ ३२५-३२६।
२. तैत्तिरीय उपनिषद् ३; भगवद्गीता ७.५४।

जहाँ तक संसार का सम्बन्ध है, ईश्वर उसके साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। ईश्वर को संसार से अलग नहीं किया जा सकता। हिन्दू दार्शनिक रामानुज ने संसार के साथ ईश्वर का वही अगांगी सम्बन्ध माना है। उसका कहना है कि विश्व का ईश्वर के साथ शरीर और आत्मा का सम्बन्ध है, वह पूर्णतः उसी पर निर्भर है। ईश्वर विश्व-रूपी इस शरीर का पोषक और आन्तरिक निदेशक, दोनों है। ईश्वर के जीवन में सघर्ष और वृद्धि दोनों यथार्थ हैं। काल ब्रह्माण्ड प्रक्रिया का, जिसमें नैतिक जीवन भी शामिल है, एक अनिवार्य तात्त्विक आकार है और ईश्वर के लिए भी उसकी सार्थकता है। नित्य जीवन, जो हमें काल के भीतर वृद्धि की सीमाओं से परे ले जाता है, हमें परम ब्रह्म की ओर ले जा सकता है, किन्तु ईश्वर तत्त्वतः कालावच्छिन्न जीवन में बँधा हुआ है। पूर्ण ब्रह्म की दृष्टि में प्रगति अवाछनीय हो सकती है, किन्तु ईश्वर के लिए वह अवाछनीय नहीं है, बल्कि उसकी उसमें गहरी दिलचस्पी रहती है। विश्व की प्रक्रिया अवश्य ही एक उद्भव है, किन्तु वैसा उद्भव नहीं जिसका उल्लेख अलेग्ज़ेण्डर ने किया है। यह ईश्वर के पथ-प्रदर्शन में होने वाला उद्भव है और वह उस सारी प्रक्रिया में व्याप्त रहता है हालांकि उसका लक्ष्य उस (प्रक्रिया) से परे होता है। विश्व की प्रक्रिया का अर्थ प्रारम्भ में विद्यमान वस्तु का अनावरण-मात्र नहीं है। यह निरे पूर्व-निर्माण का प्रश्न नहीं है। विश्व का अन्त प्रारम्भ में ही उसके आदि में ऐसा निहित नहीं है कि ईश्वर इस सारी प्रक्रिया के लिए सर्वथा अनावश्यक हो जाए। जो लोग विकास के इस तथ्य का जरा भी मूल्यांकन करते हैं वे संसार का अन्त पहले से ही उसके आदि में निहित होने का सिद्धांत स्वीकार नहीं कर सकते, हालांकि बेर्गसां-जैसे लेखक का भी, जो विकास की सृजनात्मकता पर बल देता है, विचार यह प्रतीत होता है कि जीवन का समूचा विकास और उसकी सरचना के समस्त क्रमिक रूप पहले से ही जीवन के भीतर प्रसुप्त रूप में विद्यमान हैं। उसका कहना है, "जीवन किन्हीं तत्त्वों को बाहर से आत्मसात् करके या अपने भीतर बढ़ाकर आगे नहीं बढ़ता, बल्कि वह अपने-आपको ही विभक्त और विघटित करके आगे बढ़ता है।"[१] किन्तु यह दृष्टिकोण बेर्गसां की शिक्षाओं के मुख्य अभिप्राय के साथ सगत नहीं है।[२] विश्व हमेशा निर्माण की दशा में है

१. क्रिएटिव एवोल्यूशन (अंग्रेजी अनुवाद, १९११), पृ० ८९।
२. बेर्गसां के दृष्टिकोण की आलोचना के लिए देखिये लेखक की पुस्तक 'दि रेन ऑफ रिलिजन इन कटेम्परेरी फिलॉसफी' (१९२०)।

और निरन्तर उसका सृजन होता रहता है, और परिवर्तन की यथार्थता यह सिद्ध करती है कि यह संसार संसार तो है ही, एक ऐसी निर्माण-सामग्री भी है जो हर समय अपना अर्थात् संसार का निर्माण करती रहती है। यह संसार पहले से पूरा बना-बनाया संसार नहीं है। सृजनात्मक आवेग पहले से ही विद्यमान रहता है, किन्तु सृजन के फलस्वरूप बनने वाले आकार ब्रह्माण्ड के दबाव के कारण बनते हैं। केवल इसी दृष्टिकोण के आधार पर हम विभिन्न प्रवृत्तियों वाले इस संसार के व्यवस्थित और समबद्ध स्वरूप की व्याख्या कर सकते हैं। यदि भौतिक वस्तु, जीवन, चेतना और मूल्य, इन सबका अलग-अलग स्वतन्त्र विकास होता है तो उनमें जो एकत्व हम देखते हैं, उसकी *कोई-न-कोई व्याख्या हमें करनी होगी।* उस दशा में हमें मजबूरन लाइबनित्ज़ के संसार में पहले से ही स्थापित सहस्वरता और समन्वय के सिद्धान्त-जैसा कोई सिद्धान्त स्वीकार करना होगा। विश्व की यथार्थ सत्ता एक है और वह एक पूर्ण अंगी के रूप में ही आगे बढ़ती है। अंगों की वृद्धि में पूर्ण अंगी का नियन्त्रण विद्यमान रहता है, फिर चाहे वह रासा-*यनिक यौगिक हो या सांस्कृतिक आन्दोलन। विश्व की प्रक्रिया एक सृजनात्मक* संश्लेषण है जिसमें निर्माणात्मक ऊर्जा, स्थानीय स्थिति और ब्रह्माण्डीय नियन्त्रण उपादान कारण के रूप में विद्यमान रहते हैं। वस्तु का अन्तिम लक्ष्य उसके आदि में निहित नहीं होता। किन्तु अन्तिम लक्ष्य की ओर अभिरुचि और उसकी आकर्षकता को हम उस प्रक्रिया से जुदा नहीं कर सकते जो हमें उसकी ओर ले जाती है। ऐसा ईश्वर, जिसने विश्व के आरम्भ में ही सब-कुछ पहले से व्यवस्थित कर दिया है और जो बाद में न उसमें परिवर्तन कर सकता है और न कोई नया सृजन, ईश्वर ही नहीं है। यदि ब्रह्माण्ड सचमुच रचनात्मक है तो ईश्वर संसार में उसी प्रकार काम करता है जैसे कोई सृजनात्मक प्रतिभा वाला व्यक्ति करता है। अन्तिम लक्ष्य निर्माण की प्रक्रिया में बढ़ता है और प्रक्रिया के अंगों के लक्षणों में एक निश्चित आकार धारण करता है। इस प्रकार संसार की प्रक्रिया में आदि से अन्त तक एक अनिर्धारितता बनी रहती है, किन्तु जैसे-जैसे वास्तविकता की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे-वैसे यह अनिश्चितता कम होती जाती है। आयोजनकर्ता ईश्वर (ब्रह्मा) वास्तविक स्थितियाँ सामने आने पर वास्तविक प्रतिभा के साथ कार्य करता है।

यद्यपि ईश्वर संसार में व्याप्त है फिर भी जब तक आखिरी मंज़िल मक़सूद न आ जाए तब तक ईश्वर और संसार एक नहीं होते। समूची प्रक्रिया में

ईश्वर में कुछ ऐसा अंश बना रहता है जिसकी पूर्ति (पूर्ण साकारता) नहीं हो सकी, किन्तु जब हम अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं तब यह अपूर्णता खत्म हो जाती है। तब पूर्ण ब्रह्म का राज्य आ जाता है। ईश्वर, जो इस ब्रह्म के साथ अभिन्न रूप से संयुक्त रहता है, यह अवस्था आ जाने पर ब्रह्म की पृष्ठभूमि में चला जाता है। आदि और अन्त ऐसी संकल्पनाएं हैं जो हर वस्तु को सीमित और मर्यादित करती हैं और संसार की सबसे बड़ी दिलचस्पी इन दोनों की मध्यवर्ती प्रक्रिया पर केन्द्रित रहती है। ईश्वर स्रष्टा और अन्तिम निर्णायक की अपेक्षा पालक और समुद्धर्ता अधिक है। धर्म तत्त्वतः मनुष्य की ही रचना है और इस प्रकार वह इस बात का आग्रह करता है कि ईश्वर मनुष्य से 'भिन्न' है। यदि ईश्वर मनुष्य से अलग न हो तो उसकी पूजा, उसका प्रेम और मनुष्य का पश्चाताप, सब अर्थहीन हो जाएँ। हम ईश्वर के साथ एकत्व स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, उसकी इच्छा को अपनी इच्छा बनाने और उसके साथ सखा और मित्र का भाव पैदा करने की चेष्टा करते हैं। ईश्वर एक यथार्थ जीवन्त सत्ता है जो हममें विश्वास, प्रेम, भक्ति और आत्मार्पण की भावनाएँ पैदा करती है। मुक्ति ईश्वर की कृपा से, भक्ति और ईश्वर-विश्वास तथा ईश्वरार्पण के द्वारा प्राप्त होती है। हर सच्चे धर्म में हम ईश्वर के प्रति आस्था और एक ऐसे जीवन्त ईश्वर की अनुभूति पाते हैं जो हमें पापों से बचाता और मुक्त करता है। ईश्वर का प्रेममय रूप उसके ज्ञानमय और प्रभु-रूप से अधिक प्रबल है। उसके ज्ञानमय और प्रभु-रूप ही यदि अधिक प्रबल और प्रधान माने जाएँ तो उनसे उन सिद्धान्तों को अधिक बल मिलेगा जिनमें यह माना जाता है कि ईश्वर ने सब-कुछ पहले से ही नियत और निर्धारित कर दिया है। उस दशा में विश्व की यह प्रक्रिया अर्थहीन हो जाएगी और मनुष्य की स्वतन्त्रता और ईश्वर का प्रेम भ्रम-मात्र रह जाएँगे। यदि यह सत्य है कि ईश्वर ने पहले से ही सब-कुछ निर्धारित और निश्चित कर रखा है तो नवीनताओं की सृष्टि, मनुष्य का ईश्वर के प्रति प्रेम, विश्वास और आत्मार्पण तथा ईश्वर की कृपा, सब नितान्त भ्रम ही होंगे। प्राचीन महाकाव्य महाभारत में युधिष्ठिर की पत्नी द्रौपदी अपने भाग्य को कोसती है और कहती है कि शायद मनुष्य के भाग्य में जो कुछ बदा होता है वही होकर रहता है। उसे संसार में नैतिकता का शासन निरी कपोल-कल्पना प्रतीत होता है। वह अपने सन्देहों की पुष्टि में एक प्राचीन कथा का प्रमाण उपस्थित करती है। अपने सिंहासन के अधिकार से वंचित और वन-वन में भटकते, अभाव और विपत्ति से

ग्रस्त पति की ओर देखकर वह कहती है कि संसार एक निरङ्कुश सर्वशक्तिमान् ईश्वर के हाथों में है और वह अपने प्राणियों को मनमाने तौर पर सुख या दुःख, सम्पत्ति या विपत्ति का वितरण करता रहता है। वह हमारे साथ वैसे ही खेलता है जैसे बच्चा अपने खिलौनों से खेलता है और यदि हम यह समझते हैं कि हमारी भी कोई स्वतन्त्र सत्ता है तो यह हमारा भ्रम है। उसने हमारे लिए जो कुछ निर्धारित कर दिया है, हमें उसी के अनुसार चलना पड़ता है। मनुष्य का अपनी सम्पद्-विपद पर कोई वश नहीं है, और वह अन्ध और अशक्त भाव से भगवान् की मर्जी से स्वर्ग या नरक में जाता है। मैं कैसे यह विश्वास करूँ कि ईश्वर नियम के अनुसार काम करता है, अभ्यास नहीं करता, जबकि मैं पुण्यात्माओं को अपमान और अवज्ञा सहन करते और दुष्ट पापात्माओं को फलते-फूलते देखती हूँ। 'मैं आपको विपत्ति में और दुर्योधन को सुख और ऐश्वर्य में देखती हूँ तो मुझे उस ईश्वर पर हँसी आती है जो इतना स्वेच्छाचारी और मनमाना है।' 'ऐसा नहीं लगता कि भगवान् हमारे प्रति माता-पिता के समान व्यवहार करता है, बल्कि ऐसा लगता है कि वह एक क्रोधी की तरह हमारे साथ बरताव करता है और दूसरे लोग उसी का अनुसरण करते हैं।' जब युधिष्ठिर उसके विलाप और निराशापूर्ण क्रन्दन को सुनता है (जिससे हमें बाइबिल के जॉब अध्याय का स्मरण होता है), जब वह वत्सल और न्यायकारी ईश्वर के बजाय नियति और ईश्वर की क्रूर सर्वशक्तिमत्ता की बातों को सुनता है, तो वह यह कहकर उसकी भर्त्सना करता है कि उसने नास्तिकता और ईश्वर पर अनास्था का पाप किया है। वह उसके विचारों की, चाहे वे कितने ही प्राचीन काल से चले आ रहे हैं, नास्तिकता कहकर आलोचना करता है और उसे यह उपदेश देता है कि वह परमेश्वर की निन्दा न करे, जिसकी कृपा से संसार-भर के भक्त अमरत्व प्राप्त करते हैं। वह कहता है कि ईश्वर की इच्छा सदिच्छा होती है और वह हमसे आशा करता है कि हम उसके साथ मिलकर और उसके लिए कार्य करें। वह करुणानिधान है। प्रेम ही अनन्तता और प्रभुता की अपेक्षा ईश्वर का सच्चा स्वरूप है। वह नियति और पूर्व-निर्धारण के सिद्धान्त का खण्डन कर ईश्वर के प्रेम और मनुष्य की स्वतन्त्रता का प्रतिपादन करता है।

धर्म में कुछ सप्राण मूल्य हैं जो ईश्वर के ज्ञानमय, प्रेममय और कल्याणमय स्वरूप के परिणाम हैं। इन मूल्यों का महत्त्व विश्वव्यापी हो जाता है और तब नैतिक जीवन में भी सार्थकता आ जाती है। जब तक ब्रह्माण्ड की प्रक्रिया

पूरी नहीं हो जाती तब तक व्यक्ति अपना केन्द्र अपने भीतर ही रखता है और क्योंकि प्रक्रिया की पूर्णता उससे ऊपर और अतीत होती है, इसलिए ईश्वर उससे भिन्न होता है और वह उसमे अपनी आवश्यकता की भावना पैदा करता है। ईश्वर एक व्यक्तिगत सत्ता के रूप मे माना जाता है और उसके साथ मनुष्य का सम्बन्ध सहयोग और निर्भरता का सम्बन्ध होता है। ईश्वर ही मनुष्य की अन्तिम सन्तुष्टि है, उसी में वह अपनी आत्मपूर्णता पाता है। वह अपने-आपको ईश्वर के स्वरूप के अनुसार बनाना चाहता है—उसके समान पूर्ण शक्ति और पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति की चेष्टा करता है।

७. ब्रह्म :

यद्यपि ईश्वर के वैयक्तिक प्रेममय स्वरूप मे धर्म की कुछ आवश्यकताएँ पूरी हो जाती हैं, फिर भी कुछ ऐसी आवश्यकताएँ भी रह जाती है, जिनकी इसमे पूर्ति नही होती। उच्चतम आध्यात्मिक अनुभव में हमें एक सन्तोष, विश्रान्ति, नित्यता और पूर्णता की अनुभूति होती है। इन आवश्यकताओं ने मानव के विमर्श और चिन्तन के आरम्भ से ही उसके मन मे एक ऐसी निर्विकार और निरभिनिविष्ट पूर्ण सत्ता (ब्रह्म) की कल्पना पैदा की है जो ब्रह्माण्ड के जीवन के अविश्राम कोलाहल मे ऊपर है। यदि ईश्वर ससार के साथ बँधा हुआ है, यदि वह काल से अवच्छिन्न है, यदि मनुष्य की स्वतन्त्रता और सत्ता की परिस्थितियाँ उसके कार्य को मर्यादित करती है, तो वह अपने जीवन के गुण, शक्ति, ज्ञान और न्याय्यता मे चाहे कितना ही अपार और असीम हो वह पूर्ण नही है, बल्कि पूर्ण की एक अभिव्यक्ति, एक रूप-मात्र है। किन्तु मनुष्य चाहता है ससार के अपने सच्चे रूप को जानना, उस आदि सत्ता को, बल्कि समय और सख्या से भी पहले विद्यमान अकालावच्छिन्न और अद्वितीय सत्ता को, ऋग्वेद के शब्दो मे उस प्राणवान् अप्राण को, विशुद्ध एकमात्र और नाम-रूपहीन निराकार सत्ता को, जो कुछ भी नही है और फिर भी सब-कुछ है, जो सब आकारिक अभिव्यक्तियो से अतीत है और फिर भी समस्त अभिव्यक्तियों और आकारों का आधार है, जिसमे सब-कुछ विद्यमान है और फिर भी सब-कुछ विलीन हो जाता है। धर्म के दर्शन की एक बडी समस्या हमेशा यह रही है कि ब्रह्म का, जो एक तरह से नित्य पूर्ण है, ईश्वर के स्वरूप के साथ समन्वय किया जाए, जो कि एक आत्मनिर्धारक तत्व के रूप मे एक कालावच्छिन्न विकास मे, जिसमे

प्रकृति और मानव दोनों शामिल हैं, अभिव्यक्त होता है। स्टालियन प्रत्यय-वादियों ने पूर्ण निरपेक्ष जीवन और मानवीय इतिहास के क्रम में जो एकत्व बताया है, वह इस लोक के सर्वोच्च ईश्वर के बारे में सही हो सकता है, किन्तु वह समस्त लोकों के अधीश्वर पूर्ण ब्रह्म के लिए सही नहीं हो सकता। सृजन से न तो पूर्ण सत्ता में वृद्धि होती है और न ह्रास। विकास हमारी ब्रह्माण्ड प्रक्रिया का अंग हो सकता है, किन्तु पूर्ण ब्रह्म का विकास नहीं होता। पूर्ण ब्रह्म में वृद्धि सम्भव नहीं है।

यद्यपि पूर्ण ब्रह्म विशुद्ध चेतना विशुद्ध आनन्द और असीम सम्भावना है, तथापि एक विशिष्ट सम्भावना की दृष्टि से, जिसने कि वास्तविक रूप धारण किया है, वह ईश्वर प्रतीत होता है। ईश्वर इस ब्रह्माण्ड के साथ संलिप्ट भाव से जुड़ा हुआ है, जबकि ब्रह्म उससे जुड़ा हुआ नहीं है। शुद्ध निर्विकार सत्ता का संसार ब्रह्माण्ड प्रक्रिया से क्षीण नहीं होता, ब्रह्माण्ड प्रक्रिया सिर्फ एक तरीका है जिसके द्वारा पूर्ण सत्ता, जो उससे ऊपर है, अपने-आपको अभिव्यक्त करती है। पूर्ण ब्रह्म समस्त सम्भावना और वास्तविकता का आधार है और उससे पहले विद्यमान है। यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म के लिए केवल एक सम्भावना है। इसका अस्तित्व स्वतन्त्र सृजन का एक कार्य है। ब्रह्म के सामने असीम सम्भावनाएँ विद्यमान हैं, जिनमें से उसने इस एक सम्भावना को चुना है। जब हम अपनी स्वतन्त्रता की भावना का विश्लेषण करते हैं तो हम देखते हैं कि हमारी स्वतन्त्रता का अर्थ सिर्फ यह है कि हम अपने सम्मुख उपस्थित सम्भावनाओं में से जिसे चाहे स्वीकार कर सकते हैं और जिसे चाहें अस्वीकार कर सकते हैं। पूर्ण ब्रह्म के सामने चुनाव के लिए अनन्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं जो सब-की-सब उसकी प्रकृति से निर्धारित हैं। उसे उनमें से किसी को भी 'हाँ' या 'न' कहने का अधिकार है। सम्भव का निर्धारण पूर्ण ब्रह्म की प्रकृति से होता है, किन्तु वास्तविक का चुनाव समस्त सम्भावनाओं में से किया जाता है और पूर्ण ब्रह्म बिना किसी निर्धारण के अपनी स्वतन्त्र क्रिया से यह चुनाव करता है। वह चाहता तो ऐसा संसार रच सकता था जो वास्तविक वर्तमान संसार से हर बात में बिलकुल भिन्न होता। यदि सिर्फ एक नाटक का अभिनय किया जाता है और बाकी सब सम्भव नाटक स्थगित कर दिये जाते हैं तो उसका कारण पूर्ण ब्रह्म की स्वतन्त्रता है।

इस ब्रह्माण्ड के लिए एक अन्तहीन और असीम प्रक्रिया होना आवश्यक नहीं है। एक ससीम ब्रह्माण्ड के स्वरूप की असीम पूर्ण ब्रह्म के साथ असंगति न-

है। ससीम वस्तुओं की असीम शृङ्खला असम्भव नहीं है। पूर्ण ब्रह्म में उससे अधिक तत्त्व समाविष्ट है जितना कि इस विश्व में प्रकट होता है।

यदि हमसे यह प्रश्न किया जाए कि इसी सम्भावना को वास्तविक आकार क्यों प्रदान किया गया, तो उसके उत्तर में हम केवल यही कह सकते हैं कि रंगमंच की दर्शक-मण्डली में बैठकर हम यह कैसे जान सकते हैं कि परदे के पीछे नेपथ्य में क्या हो रहा है। यह माया है और हमें आदर एवं श्रद्धा के साथ उसे स्वीकार करना है।

कभी-कभी यह कहा जाता है कि पूर्ण ब्रह्म की प्रकृति ही ऐसी है कि वह अतिप्रवाही हो और सम्भावनाओं को साकार करे। हिन्दू शास्त्रों, प्लेटो के ग्रन्थों और पारसी पौराणिक गाथाओं में सूर्य को जो एक महान् प्रतीक के रूप में माना जाता है वह ब्रह्म के उदार आत्मार्पण और आनन्दमय रूप को प्रकट करता है और ब्रह्म अपने अन्तर में निहित सम्पदा से लबालब भरा है और सभी को उदारता से अपना दान कर रहा है। प्लेटो के ग्रन्थ में टाइमेयस कहता है कि यह सृष्टि इसलिए बनी है कि परम शिव चाहता है कि उसकी अच्छाई उसके ऊपर प्रवाहित होती रहे।[1] भारतीय ग्रन्थों में सृष्टि को जो ईश्वर की लीला माना गया है उसका अर्थ ही यह है कि ब्रह्माण्ड की रचना एक खेल और विनोद की चीज है। खेल या लीला शब्द का व्यवहार आम तौर पर आदर्श सम्भावनाओं के लिए किया जाता है। लीला अपना उद्देश्य स्वयं है और वही अपना सतत पुरस्कार भी है। पूर्ण मन में आदर्श सत्ता का एक पूर्ण राज्य विद्यमान है और साथ ही वह स्वतन्त्र सृजनात्मकता भी है। यद्यपि संसार का सृजन ब्रह्म की कभी समाप्त न होने वाली क्रियाशीलता में एक घटना-मात्र है, तथापि वह ईश्वर में एक अभाव और आकांक्षा को पूरा करता है। संसार ईश्वर के लिए उसी तरह अनिवार्य है जैसे ईश्वर संसार के लिए है।

इस संसार का सृजन, पालन और लय करने वाला ईश्वर पूर्ण ब्रह्म से सर्वथा व्यतिरिक्त और सम्बद्ध नहीं है। मानवीय पक्ष से देखा जाए तो ईश्वर ही पूर्ण ब्रह्म को वास्तविक सम्भावना के साथ उसके सम्बन्ध तक सीमित कर देते हैं तब वह ज्ञानमय, प्रेममय और कल्याणमय प्रतीत होता है। नित्य सत्ता ही प्रथम और अन्तिम बन जाती है। नित्य 'मैं हूँ' की भावना, परिवर्तनहीन केन्द्र और सब परिवर्तनों के कारण ब्रह्म को हम प्रकृति के क्रम में आदि और अन्त

१. २६. ई. १।

दोनों के रूप में कल्पित करते हैं। वह संसार का सृजनात्मक मन है, जिसमें, सृष्टि के देश और काल में वास्तविक रूप धारण से पूर्व भी, उसकी सामान्य योजना का ज्ञान और ब्रह्माण्ड का निदेशन सन्निहित है। वह सृष्टि की सब बारीकियों को सही परिप्रेक्ष्य में अपने सामने रखता है और सभी चीजों को प्रेम और एकत्व के बन्धन में परस्पर जोड़े रखता है। वह विश्व का वत्सल उद्धारक है। स्रष्टा और पालक के रूप में ईश्वर असली प्रक्रिया से ऊपर और अतीत होकर रहता है, जिस प्रकार कि सम्भावना का वास्तविक रूप धारण करना उसकी प्रक्रिया से आन्तरिक रूप से अतीत होना ही वास्तव में मूल्य के भेदों को अर्थपूर्ण बनाता है और उसी के कारण उनकी प्राप्ति के लिए मनुष्य के संघर्ष और प्रयत्न में सार्थकता आती है। सर्वोच्च सत्ता को जब हम ब्रह्माण्ड से पृथक् करके देखते हैं तो उसे हम पूर्ण ब्रह्म कहते हैं और उसे ब्रह्माण्ड से सम्बद्ध रूप में देखते हैं तो ईश्वर कहते हैं। पूर्ण ब्रह्म ईश्वर की ब्रह्माण्ड की सृष्टि से पहले की प्रकृति है और ईश्वर ब्रह्माण्डीय दृष्टिकोण से पहले पूर्ण ब्रह्म का रूप है।

◇◇◇